श्री शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला पुष्प : १३

• श्री वीतरागाय नमः •

(श्री शुभचन्द्राचार्य विरचित)

परमाध्यात्म तरङ्गिणी

[समयसार कलश टीका]

(श्री अमृतचन्द्राचार्य विरचित)

तथा

योगमार्ग

सम्पादक :

परमपूज्य १०८ श्री अजितसागरजी महाराज

प्रकाशक :

ब्र० लाडमल जैन

श्री शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

शांतिवीरनगर, श्री महावीरजी (राज०)

द्रव्यदाता :—

श्रीमान् सेठ मेघराजजी पाटनी

मनीपुर (आसाम)

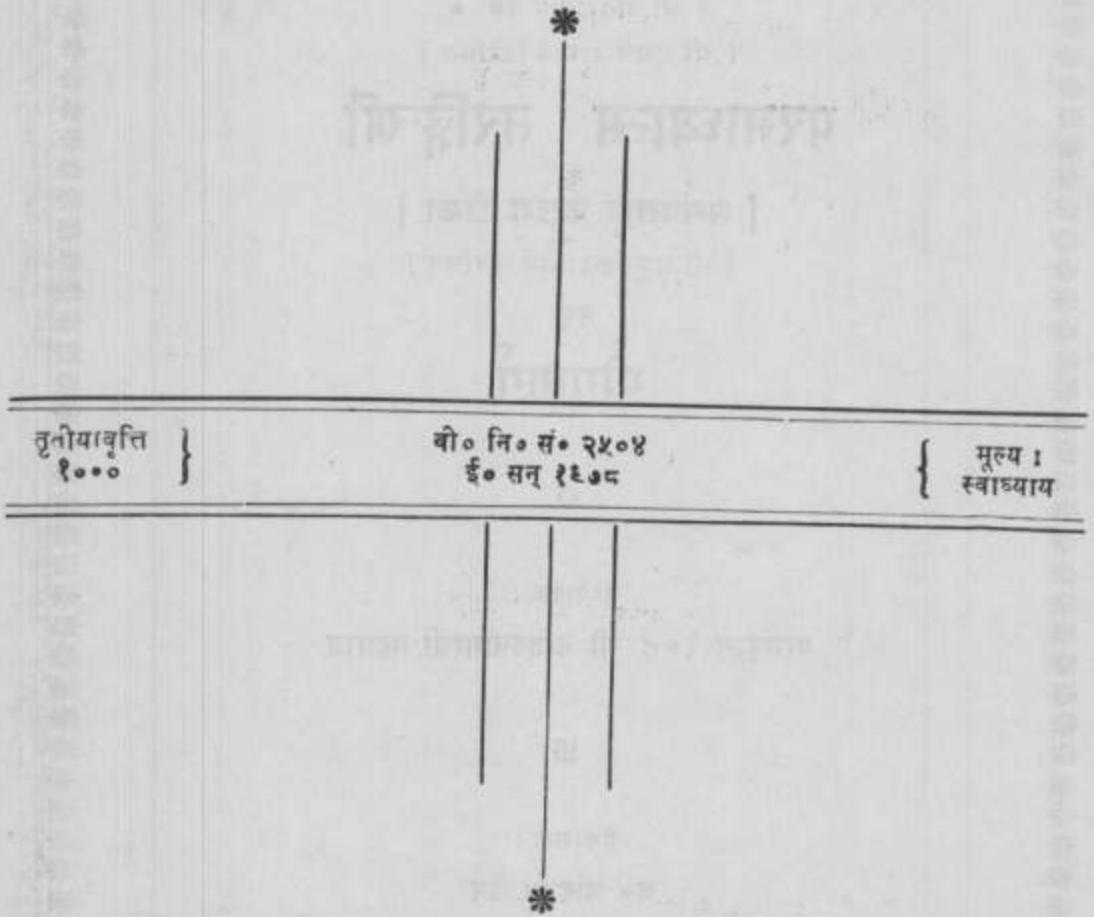

तृतीयावृत्ति
१०००

वी० नि० सं० २५०४
ई० सन् १९७८

मूल्य :
स्वाध्याय

मुद्रक :—

पाँचूलाल जैन

कमल प्रिन्टर्स

मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

प्रस्तावना

*

मिथ्यात्व के समान इस जीव का कोई अहित करनेवाला नहीं। यह जीवका भीषण प्रबल शत्रु है। संसार में भटकानेवाला प्रबल कारण भी यही है। इसकी उपस्थिति में पदार्थों का स्वरूप विपरीत दिखाई देता है। मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होने से पदार्थ भिन्नरूपमें प्रतीत होते हैं। वह शरीर की मृत्यु में अपनी मृत्यु, उसके जन्म में अपना जन्म और उसकी स्थिति में अपनी स्थिति मान लेता है। इन्द्रिय-जन्य सुख को ही सच्चा सुख मान लेता है। पुण्य भी करता है तो आगामी भोगों की वाञ्छा से। संसार में वह पूर्ण आसक्त रहता है, उसके हृदयमें संसार बसा रहता है इसीलिए उसे बहिरात्मा कहा जाता है।

ज्ञाता दृष्टा स्वभाववाला आत्मा अन्य द्रव्यों से पृथक् स्वतंत्र द्रव्य है–आत्मस्वरूपका ऐसा ठीक ठीक बोध हो जाना ही सम्यग्दर्शन है, आत्मलब्धि है। हेयोपादेय को जानने वाली दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को आत्मा और देह का भेद विज्ञान हो जाता है। वह आत्मेतर सकल पदार्थों को हेय समझता है, परपदार्थों में उसकी ममता नहीं होती है क्योंकि—

"अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी,
ण वि अत्थि मज्झ किंचिव अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥"

अर्थात् "मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानदर्शनमय हूँ, अरूपी हूँ। इस संसार में परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।" ऐसी उसकी दृढ़ आस्था हो जाती है। ऐसी दृढ़ आस्था हुए बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ है। सम्यग्ज्ञान भी आत्मज्ञान से ही तो सम्बद्ध है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के होने पर ही स्वरूपमें रमण करने की (सम्यग्चारित्र) स्थिति बनती है।

उपर्युक्त दृढ़ प्रतीति वाला सम्यग्दृष्टि यद्यपि विषयादि में प्रवर्तन करता है परन्तु वेदना का इलाज समझकर। जो पूर्वबद्ध कर्म हैं, उनको तो उसे भोगना ही पड़ता है परन्तु उसका यह प्रयत्न रहता है कि आगे उस कोटि का बन्ध न हो। दृष्टि

का यह महान् अन्तर ही उसे बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनाता है। अभिप्राय के फेर से ही सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में महान् अन्तर हो जाता है जबकि बाह्यमें दोनों की क्रियायें समान होती हैं। इसीलिए मिथ्यादृष्टि के भोग बन्धन के कारण हैं और सम्यक्त्वी के निर्जरा के लिए। सम्यक्त्वी की दृढ़ प्रतीति में रागद्वेष का अभाव होता है अतः वह अबन्ध रहता है और मिथ्यादृष्टि मोह के सद्भावसे निरन्तर बँधता रहता है। सम्यग्दृष्टि संसार में रहता है परन्तु मिथ्यादृष्टि के मनमें संसार रहता है। दोनों में दिन रात का अन्तर है। पानी नावमें रहे तो नाव का डूबना निश्चित ही है उसी-प्रकार मिथ्यात्वी का संसार परिभ्रमण निश्चित है। यह भेदज्ञान ही जीवको बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा बनाता है। सम्यग्दृष्टिके अन्तरंग में श्रद्धा में दुर्बलता नहीं आती। वह सदा यही भावना भाता है कि—

"एगो मे सासदो आदा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा।"

अर्थात् "एक मेरी शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणमयी है, शेष जो बाहरी भाव हैं वे मेरे नहीं हैं, सर्व संयोगी भाव हैं।"

प्रश्न होता है कि यह भेदविज्ञानकी भावना कब तक चलती रहे ?

आचार्य कहते हैं कि—

भावयेद् भेदविज्ञान–मिदमच्छिन्नधारया।
यावत्तावत्पराच्च्युत्वा, ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात् यह भेदविज्ञान रूप चिन्तन अखण्ड रूपसे तब तक चलते रहना चाहिए जब तक ज्ञान परद्रव्य से रहित होकर ज्ञानमें (निजरूपमें) ही ठहरे। क्योंकि सफलता या सिद्धि का अमोघ मंत्र भेदविज्ञान ही है। पूज्य अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धाः ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धाः, बद्धा ये किल केचन ॥

अर्थात् जितने भी सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई बँधे हैं वे भेद-विज्ञान के न होने से ही बन्ध को प्राप्त हुए हैं।

अभिप्राय यह है कि जब जीवको भेदज्ञान हो जाता है तो वह परको पर जानता है उसमें अपनत्व या ममत्व की कल्पना नष्ट हो जाती है और इसके साथ ही राग और द्वेष दोनों विलीन हो जाते हैं; कर्म बन्धनके इन कारणों का अभाव होनेसे आत्मा को निर्मलता की प्राप्ति होती है जिससे संसार परिभ्रमण का चक्र सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

इस भेदज्ञानकी उपलब्धि तत्त्वों के सतत अभ्यास एवं तदनुकूल आचरण से होती है। जिनवाणी का सतत अभ्यास ही एक मात्र अवलम्ब है इस युग में, उसके बिना जीवका उद्धार कौन करे ?

आजके विज्ञान प्रधान युग में हमारे पुण्योदय से वीतराग विज्ञानतारूप अध्यात्म की अजस्र स्रोतस्विनी प्रवाहित करने वाला भगवान कुन्दकुन्द प्रणीत 'समयसार' ग्रन्थराज समुपलब्ध है। इस पर दो महत्त्वपूर्ण संस्कृत टीकाएँ भी प्राप्त हैं— १. श्रीमदाचार्यवर अमृतचन्द्र देव विरचित आत्मख्याति टीका और २. श्रीमदाचार्यवर जयसेनदेव विरचित तात्पर्यवृत्ति। जयसेन स्वामीने समयसारग्रन्थ मुख्यतया वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित साधुजनों के कल्याणार्थ रचा है जबकि पूज्य अमृतचन्द्राचार्यने गुणस्थानों के परिप्रेक्ष्य में उसे घटित नहीं किया है। श्री अमृतचन्द्राचार्यने आत्मख्याति टीकाके अन्तर्गत २७८ कलश श्लोकों की रचना की है। इन कलशों में पू. अमृतचन्द्राचार्य ने गाथासूत्रों के भाव को ही प्रकट किया है, जो एक स्वतंत्र ग्रन्थ का आकार ले चुके हैं। जिसप्रकार विशालकाय मन्दिर के अत्युत्तुङ्ग शिखर की शोभा बिना कलश धारण किए नहीं होती उसीप्रकार समयसार या आत्मख्यातिवृत्ति की शोभा भी 'समयसार कलश' के ग्रन्थ के बिना नहीं हो सकती। इस समयसार कलशों के अर्थ को हृदय में धारण करने से अपूर्व अनुपम आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है। संस्कृत टीकानुसार इसका अपरनाम परमाध्यात्मतरंगिणी भी है जो सर्वथा विषयानुकूल है। इस संस्कृतटीका के कर्त्ता शुभचन्द्राचार्य हैं जो १५ वीं शताब्दीमें हुए हैं। अद्यावधि यही संस्कृतटीका उपलब्ध थी परन्तु इसके प्रकाशन के दौरान अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी पू० १०८ श्रीअजितसागरजी महाराजको कुचामनशहर के दि० जैन अजमेरी मन्दिर में समयसारकलश की एक दूसरी संस्कृत टीका मिली है जो भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति द्वारा विरचित है, वे १८ वीं शताब्दी में हुए हैं। पहले तो उसे

भी इसी के साथ प्रकाशित करने की योजना बनी थी परन्तु कतिपय विशेष कारणों से उसके स्वतंत्र प्रकाशन की व्यवस्था हो रही है। आशा है वह भी शीघ्र ही प्रकाशित होकर सभी पाठकों के हाथों में पहुँचेगी।

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशन हेतु धनराशि प्रदान करने वाले सज्जन भी धन्यवाद के पात्र हैं। जिनवाणी के प्रचार प्रसार में किया गया सहयोग ज्ञानावरण के क्षय और क्षयोपशममें कारण होता है।

विनीत :
चेतनप्रकाश पाटनी

निवेदन

परमाध्यात्म तरंगिणी ग्रन्थ भव्य पाठकों के हाथों में है, ग्रन्थका विषय उसके नामसे ही सुस्पष्ट है। अध्यात्म रस के रसिक प्रबुद्ध जिनवाणी प्रवक्ता परम तपस्वी मुनिराज श्री १०८ श्री अजितसागरजी महाराज की सद्प्रेरणा एवं मंगल उपदेश से प्रभावित होकर परम मुनिभक्त आगमनिष्ठ श्रीमान् सेठ मेघराजजी सा० पाटनी मनीपुर (आसाम) वालों ने उक्त ग्रन्थ का प्रकाशन कराया है।

राजस्थान प्रान्त के ग्राम बेरी छाबड़ा निवासी, मनीपुर प्रवासी स्वर्गीय श्रीमान् सेठ मंगलचन्दजी पाटनी के सुपुत्र श्रीमान् मेघराजजी पाटनी देव शास्त्र गुरु के परम भक्त, सुश्रावक हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मोहिनीदेवी भी पुण्यशीला, धर्मात्मा, भद्रपरिणामी महिला हैं। आप दोनों दम्पत्ति परम धार्मिक, दान पुण्यादि कार्यों में अग्रसर, सरल स्वभावी, उच्च विचारशील एवं धार्मिक संस्कारों को दृढ़ता प्रदान करनेमें सदैव तत्पर रहते हैं।

आपके दो सुपुत्र श्री चिरंजीलालजी, श्री रतनलालजी तथा पाँच पुत्रियाँ, एवं पौत्र पौत्रियों सहित भरापूरा परिवार है। मनीपुर एवं डीमापुर (आसाम) में श्रीमंगलचंद मेघराज के नाम से बहुत बड़ा कारोबार है। परमपूज्य १०८ मुनिराज श्री अजितसागरजी महाराज के ससंघ चातुर्मास के अवसर पर आप दोनों दम्पत्ति सुजानगढ़ पधारे एक माह के प्रवास में आहारदान देकर पुण्य लाभ प्राप्त किया। इसी-अवसर पर परमपूज्य १०८ मुनिराज श्री अजितसागरजी महाराज के सदुपदेश से ग्रन्थ प्रकाशन की भावना जागृत हुई। भव्य जन परमाध्यात्म तरंगिणी ग्रन्थका अध्ययन कर इसके हृद्यको आत्मसात् करेंगे इसी भावना के साथ मैं परमपूज्य १०८ श्री अजित-सागरजी महाराजके चरणों में सविनय त्रियोग शुद्धिपूर्वक नमोस्तु निवेदन करता हूँ एवं द्रव्यदाता श्री मेघराजजी पाटनी को भी इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ।

सुजानगढ़
दिनांक १७-१-७८

विनीत :
भूमरमल बगड़ा

विषय-सूची

क्रम सं०	विषय	पृष्ठ सं०
१	जीव अधिकार	१–२५
२	अजीव अधिकार	२६–३४
३	कर्त्ता–कर्म अधिकार	३५–६२
४	पुण्य–पाप अधिकार	६३–७१
५	आस्रव अधिकार	७१–७८
६	संवर अधिकार	७९–८४
७	निर्जरा अधिकार	८४–१०४
८	बन्ध अधिकार	१०५–११५
९	मोक्ष अधिकार	११५–१२४
१०	सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार	१२४–१५९
११	स्याद्वाद अधिकार	१६०–१८५
१२	टीकाकार–प्रशस्ति	१८५–१८६
१३	समयसार कलशेष्वागत छंदानां विवरणं	१८७
१४	योगमार्ग	१८८–२०३
१५	शुद्धि पत्र	२०४–२०५

समयसार–कलशकी वर्णानुक्रम सूची

अ	कलश	पृष्ठ
अकर्त्ता जीवोऽयं	१६५	१२५
अखण्डितमनाकुलं	१४	१३
अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव	१४४	९२
अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति	१४१	९०
अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यव	५७	४३
अज्ञानमयभावानामज्ञानो	६८	५०
अज्ञानमेतदधिगम्य	१६९	१०९
अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधियां	५८	४४
अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव	१६७	१२६
अज्ञानं ज्ञानमप्येवं	६१	४६
अतो हताः प्रमादिनो	१८९	१२१
अतः शुद्धनयायत्तं	७	७
अत्यन्तं भावयित्वा विरति–	२३३	१५१
अत्र स्याद्वादशुद्धयर्थं	२४७	१६०
अथ महामदनिर्भरमन्थरं	११३	७१
अद्धैतापि हि चेतना	१८३	११८
अध्यास्य शुद्धनय–	१२०	७५
अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं	२५९	१७०
अनन्तधर्मणस्तत्त्वं	२	३
अनवरतमनन्तै–	१८७	१२०
अनाद्यनन्तमचलं	४१	३१
अनेनाध्यवसायेन	१७१	११०
अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं	२३५	१५३
अयि कथमपि मृत्वा	२३	१९
अर्थालम्बनकाल एव कलयन्	२५७	१६९
अलमलमतिजल्पै–	२४४	१५८
अवतरति न यावद्	२९	२३
अविचलितचिदात्म–	२७६	१८३
अस्मिन्ननादिनि	४४	३३

आ	कलश	पृष्ठ
आक्रामन्नविकल्पभावमचलं	९३	५८
आत्मनश्चिन्तयैवालं	११	१६
आत्मभावान्करोत्यात्मा	५६	४३
आत्मस्वभावं परभावभिन्न	१०	१०
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं	६२	४७
आत्मानुभूतिरिति	१३	१२
आत्मानं परिशुद्धिमीप्सुभि–	२०८	१३४
आससारत एव धावति	५५	४२
आसंसारविरोधिसंवर–	१२५	७९
आसंसारात्प्रतिपदममी	१३८	८८
इ		
इति परिचिततत्त्वै–	२८	२२
इति वस्तुस्वभावं स्वयं ज्ञानी	१७६	११३
इति वस्तुस्वभावं स्वयं नाज्ञानी	१७७	११३
इति सति सह सर्वै–	३१	२४
इतीदमात्मनस्तत्त्वं	२४६	१५९
इतो गतमनेकतां	२७३	१८०
इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठना–	२३४	१५२
इत्थं ज्ञानक्रकचकलना–	४५	३४
इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव	१४५	९२
इत्यज्ञानविमूढानां	२६२	१७३
इत्याद्यनेकनिजशक्ति–	२६४	१७४
इत्यालोच्य विवेच्य	१७८	११३
इत्येवं विरचय्य सम्प्रति	४८	३७
इदमेकं जगच्चक्षु–	२४५	१५९
इदमेवात्र तात्पर्यं	१२२	७६
इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्	९१	५७
उ		
उदयति न नयश्री–	९	८

	कलश	पृष्ठ
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्	२३६	१५४
उभयनयविरोध-	४	४
ए		
एकज्ञायकभावनिर्भर-	१४०	८६
एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो	६	६
एकत्वं व्यवहारतो न तु	२७	२१
एकमेव हि तत्स्वाद्यं	१३९	८८
एकश्चितश्चिन्मय एव भावो	१८४	११६
एकस्य कर्त्ता	७४	५२
एकस्य कार्यं	७६	५२
एकस्य चेत्यो	८६	५३
एकस्य चैको	८१	५२
एकस्य जीवो	७६	५२
एकस्य दृष्टो	७३	५२
एकस्य दृश्यो	८७	५३
एकस्य नाना	८५	५३
एकस्य नित्यो	८३	५३
एकस्य बद्धो न तथा परस्य	७०	५१
एकस्य भातो	८६	५३
एकस्य भावो	८०	५२
एकस्य भोक्ता	७५	५२
एकस्य मूढो	७१	५२
एकस्य रक्तो	७२	५२
एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण	२०१	१२६
एकस्य वाच्यो	८४	५३
एकस्य वेद्यो	८८	५३
एकस्य सान्तो	८२	५३
एकस्य सूक्ष्मो	७७	५२

	कलश	पृष्ठ
एकस्य हेतु-	७८	५२
एको दूरात्त्यजति मदिरां	१०१	६३
एको मोक्षपथो य एष	२४०	१५५
एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं	१६०	१०२
एकः परिणमति सदा	५२	४०
एकः कर्त्ता चिदहमिह	४६	३५
एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य	२३८	१५५
एवं तत्त्वव्यवस्थित्या	२६३	१७४
एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा	१५	१४
एवैकेव हि वेदना	१५६	९९
क		
कथमपि समुपात्त-	२०	१६
कथमपि हि लभन्ते	२१	१७
कर्ता कर्ता भवति न यथा	९९	६२
कर्ता कर्मणि नास्ति	९८	६१
कर्तारं स्वफलेन यत्किल	१५२	९६
कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो	२०९	१३५
कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१६४	१२५
कर्म सर्वमपि सर्वविदो	१०३	६५
कर्मैव प्रवितर्क्यं कर्तृहतकैः	२०४	१३१
कषायकलिरेकतः	२७४	१८१
कान्त्यैव स्नपयन्ति ये	२४	१६
कार्यत्वादकृतं न कर्म	२०३	१३०
कृतकारितानुमननै-	२२५	१४७
क्लिश्यन्तां स्वयमेव	१४२	९१
क्वचिल्लसति मेचकं	२७२	१८०
क्ष		
क्षणिकमिदमिहैकः	२०६	१३३

घ	कलश	पृष्ठ
घृतकुम्भाभिधानेऽपि	४०	३०
च		
चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्व-	३६	२८
चित्पिण्डचण्डिमविलासविकास-	२६८	१७७
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयो	२७०	१७८
चित्स्वभावभरभावितभावा	६२	५७
चिरमिति नवतत्त्व-	८	८
चैद्रूप्यं जडरूपतां च	१२६	८०
ज		
जयति सहजतेजः	२७५	१८२
जानाति यः स न करोति	१६७	१०८
जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा	३३	२६
जीवादजीवमिति	४३	३२
जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म	६३	४७
ज्ञ		
ज्ञप्तिः करोतौ न हि	६७	६०
ज्ञानमय एव भावः	६६	४६
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि	१४६	६४
ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं	२२४	१४६
ज्ञानादेव ज्वलनपयसोः	६०	४६
ज्ञानाद्विवेचकतया तु	५६	४५
ज्ञानिन् कर्म न जातु	१५१	९६
ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं	१४८	९४
ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः	६७	५०
ज्ञानी करोति न	१९८	१२७
ज्ञानी जानन्नपीमां	५०	३९
ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति	२५१	१६४

ट	कलश	पृष्ठ
टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसरा-	२६१	१७२
टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचित-	१६१	१०३
त		
तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं	१३४	८५
तथापि न निरर्गलं	१६६	१०७
तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो	१००	६३
त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि	१९१	१२३
त्यक्तं येन फलं स कर्म	१५३	९७
त्यजतु जगदिदानीं	२२	१८
द		
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा	२३९	१५५
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वा	१६	१४
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः	१७	१५
दूरं भूरिविकल्पजालगहने	९४	५८
द्रव्यलिङ्गममकारमीलितं	२४३	१५८
द्विधाकृत्य प्रज्ञाकर्कच	१८०	११५
ध		
धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने	१२३	७७
न		
न कर्मबहुलं जगन्न	१६४	१०६
न जातु रागादि-	१७५	११२
ननु परिणाम एव किल	२११	१३७
नमः समयसाराय	१	१
न हि विदधति बद्ध-	११	१०
नाश्नुते विषयसेवनेऽपि	१३५	८६
नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः	२००	१२८
निजमहिमरतानां	१२८	८१

	कलश	पृष्ठ
नित्यमविकारसुस्थित-	२६	२०
निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्	३८	२६
निःशेषकर्म फल-	२३१	१५०
निषिद्धे सर्वस्मिन्	१०४	६५
नीत्वा सम्यक् प्रलय-	१६३	१२४
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ	५४	४१
नैकान्तसङ्गततृशा स्वयमेव	२६५	१७५
नोभौ परिणमतः खलु	५३	४१
प		
पदमिदं ननु कर्मदुरासदं	१४३	६१
परद्रव्यग्रहं कुर्वन्	१८६	१२०
परपरिणतिहेतो-	३	४
परपरिणतिमुज्झत्	४७	३६
परमार्थेन तु व्यक्त	१८	१५
पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा	२२२	१४४
पूर्वबद्धनिजकर्म-	१४६	६३
पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये	२५६	१६८
प्रच्युत्य शुद्धनयतः	१२१	७६
प्रज्ञाछेत्री शितेयं	१८१	११६
प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिर-	२५२	१६५
प्रात्याख्याय भविष्यत्कर्म	२२८	१४८
प्रमादकलितः कथं भवति	१६०	१२२
प्राकारकवलिताम्बर-	२५	२०
प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं	१५६	१०२
प्रादुर्भावविराममुद्रित-	२६०	१७१
ब		
बन्धच्छेदात्कलयदतुलं	१६२	१२३
बहिर्लुठति यद्यपि	२१२	१३७
बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो	२५०	१६३
बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झित्	२४८	१६०
भ		
भावयेद् भेदविज्ञान-	१३०	८२
भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो	११५	७२
भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो	११४	७२
भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षण-	१८२	११७
भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्य-	२५४	१६६
भूतभान्तमभूतमेव	१२	११
भेदज्ञानोच्छलन-	१३२	८३
भेदविज्ञानतः सिद्धाः	१३१	८३
भेदोन्मादं भ्रमरसभरा-	११२	७०
भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९६	१२६
म		
मग्नाः कर्मनयाव-	१११	६६
मज्जन्तु निर्भरममी	३२	२५
माऽकर्तारममी स्पृशन्तु	२०५	१३२
मिथ्यादृष्टेः स एवास्य	१७०	११०
मोक्षहेतुतिरोधानाद्	१०८	६७
मोहविलासविजृम्भित-	२२७	१४८
मोहाद्यदहमकार्षं	२२६	१४७
य		
य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं	६६	५१
यत्तु वस्तु कुरुते	२१४	१३८
यत्र प्रतिक्रमणमेव	१८८	१२१
यत्सन्न्यासमुपैति तत्र नियतं	१५७	१००
यदि कथमपि धारावाहिना	१२७	८१
यदिह भवति रागद्वेष-	२२०	१४३

	कलश	पृष्ठ
यदेतद् ज्ञानात्मा	१०५	६६
यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा	२७७	१८३
यादृक् तादृगिहास्ति	१५०	९५
यावत्पाकमुपैति कर्मविरति–	११०	६८
ये तुकर्तारमात्मानं	१९९	१२८
ये तु स्वभावनियम	२०२	१२९
ये त्वेनं परिहृत्य	२४१	१५६
ये ज्ञानमात्रनिजभावमयी	२६६	१७५
योऽयं भावो ज्ञानमात्रो	२७१	१७९
यः करोति स करोति केवलं	९६	६०
यः परिणमति स कर्ता	५१	४०
यः पूर्वभावकृतकर्म	२३२	१५१
र		
रागजन्मनि निमित्तातां	२२१	१४३
रागद्वेषद्वयमुदयते	२१७	१४१
रागद्वेषविभावमुक्तमहसो	२२३	१४५
रागद्वेषविमोहानां	११९	७५
रागद्वेषाविह हि भवति	२१८	१४१
रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या	२१९	१४२
रागाद्यास्रवरोधतो	१३३	८४
रागादयो बन्धनिदानमुक्ताः	१७४	११२
रागादीनामुदयमदयं	१७९	११४
रागादीनां भणिति विगमात्	१२४	७८
रागोद्गारमहारसेन सकलं	१६३	१०५
रुन्धन् बन्ध नवमिति	१६२	१०४
ल		
लोकः कर्म ततोऽस्तु	१६५	१०६
लोकः शाश्वत एक एष	१५५	९९

	कलश	पृष्ठ
व		
वर्णादिसामग्र्यमिदंविदन्तु	३९	३०
वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा	३७	२९
वर्णाद्यैः सहितस्तथा	४२	३१
वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो	२१३	१३८
विकल्पकः परं कर्ता	९५	५९
विगलन्तु कर्म विषतरु–	२३०	१४९
विजहति न हि सत्तां	११८	७४
विरम किमपरेणाकार्ये	३४	२७
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य–	२४९	१६१
विश्रान्तः परभावभावकलना–	२५८	१७०
विश्वाद्विभक्तोऽपि हि	१७२	११९
वृत्तं कर्मस्वभावेन	१०७	६७
वृत्तं ज्ञानस्वभावेन	१०६	६७
वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं	२०७	१३३
वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्	१४७	९३
व्यक्तिरिक्तं परद्रव्यादेगं	२३७	१५४
व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि	५	६
व्यवहारविमूढदृष्टयः	२४२	१५७
व्याप्यव्यापकता तदात्मनि	४९	३८
व्यावहारिकदृशैव केवलं	२१०	१३६
श		
शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पित–	२१५	१३९
शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्कि	२१६	१४०
स		
सकलमपि विहायाह्राय	३५	२८
समस्तमित्येवमपास्य कर्म	२२९	१४९
सम्यग्दृष्ट्य एव साहसमिदं	१५४	९८
सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं	१३७	८७

	कलश	पृष्ठ
सम्यग्दृष्टे भवति नियतं	१३६	८६
सर्गतः स्वरसनिर्भरभावं	३०	२४
सर्गत्राध्यवसानमेवमखिलं	१७३	१११
सर्गद्रव्यमयं प्रपद्य	२५३	१६५
सर्गस्यामेव जोवन्त्यां	११७	७४
सर्गं सदैव नियतं	१६८	१०६
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्त-	१८५	११६
संन्यस्यत्रिजबुद्धिपूर्वमनिशं	११६	७३
संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि	१०६	६८
सम्पद्यते संवर एष	१२६	८२
स्थितेति जोवस्य निरन्तरायो	६५	४६
स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य	६४	४८
स्याद्वादकौशलसुनिश्चल-	२६७	१७६
स्याद्वाददीपितलसन्महसि	२६६	१७७
स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विध-	२५५	१६७
स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै-	२७८	१८४
स्वेच्छासमुच्छलदनल्प-	६०	५६
स्वं रूपं किल वस्तुनो-	१५८	१०१
ह		
हेतु स्वभावानुभवाश्रयाणां	१०२	६४

योगमार्ग के श्लोकों की अकारादि क्रम सूची

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
आनन्दस्यन्दिविन्दूद्	१६१	पुत्रप्रीत्याहिबालं	१६०
आत्मव्योमप्रकाम	१६१	पौष्पी वृष्टा प्रभाणां	१९६
आद्यं शुक्लं त्रिसंहत्यु	१६५	प्राणेशो धारणायां	१८६
आज्ञा सर्वज्ञवाणी	१९६	बह्मग्रन्थेरुदीर्णं	१६२
आयुष्यन्तर्मुहूर्ते सति	२००	भूयांसि त्वं महांसि	१९०
आलोकान्तासमीरात्	२०१	मास्माधस्ताद्धरित्री	१८८
ऊर्ध्वव्रज्यात्मकत्वात्	२०१	मुक्तौ नापूर्वमाप्यं	२०३
एकं चिन्तानिरोधात्	१६३	यः पात्रं नास्ति मैत्र्याः	१८६
एकत्र स्थैर्यसारा	१६४	ये लक्ष्मीणां विनोदे	१६१
कालोऽस्यान्तर्मुहूर्त्तः	१६४	येषां हिंसा न सत्त्वे	१९५
गुप्त्याद्यैः कर्म	१६७	याथात्म्यं धर्म्यमाहु	१६६
चर्चां देहे ददाने	१८६	यत्रान्येष्यङ्गभाजो नहि	१६८
त्वं गन्ता नो वियासा	२०२	लक्ष्यं त्रैलोक्यमर्थोऽस्य	१६३
देवाधीते सुधीर्नाप्य	१६८	वैराग्यापारवारेः	१६२
दृष्टिर्ज्ञानं गुणो द्वाविह	२०२	विष्वक् संस्थानदेहे	१६४
धर्मध्याने प्रबन्धाभ्यसन	१६७	श्रद्धा सिद्धौषधेः	१६२
ध्येयं स्मार्यं न किञ्चित्	१६६	सा सा लब्धिस्ततो	१६८
नानाभावः पृथक्त्वं	१९७	सत्यात्मन्यात्मरूपे	२००
नाऽशास्तेऽप्राप्तमिष्टं	१६५	सर्वासां हि क्रियाणामुपरति	२००
पातालान्ता	१८८	सौख्यं मोहक्षयेणा	२०२

॥ ॐ नमः शुद्धचिद्रूपाय ॥

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितः

(समयसारकलशः)

परमाध्यात्मतरङ्गिणी

अथ श्रीमदमृतचन्द्रसूरिः श्रीकुन्दकुन्दाचार्योक्तसमयसारप्राभृतव्याख्यानं कुर्वाणः संस्तदन्तरे चित्स्वरूपप्रकाशकानिचिन्नाटकरङ्गावनिवितीर्णानि पद्यानि परमाध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयानि रचयन् प्रथमतः परमात्माविनमस्कृतिरूपमङ्गलमाचष्टे—

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥

॥ श्रीशुभचन्द्राचार्यस्य टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम् ॥

शुद्धं सच्चिद्रूपं भव्याम्बुजचन्द्रममृतमकलङ्कं ।
ज्ञानाभूषं वन्दे सर्वविभावस्वभावसंमुक्तम् ॥ १ ॥
सुधाचन्द्रमुनेर्वाक्य-पद्यान्युद्धृत्य रम्याणि ।
विवृणोमि भक्तितोऽहं चिद्रूपे रक्तचित्तश्च ॥ २ ॥

टीका—[१] सामान्यपक्षे—समयसाराय सम्यक् त्रिकालावच्छिन्नतया अयन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति स्वगुणपर्यायानिति समयाः पदार्थाः तेषां मध्ये सारः सरति गच्छति सर्वोत्कृष्टत्वमिति सारः परमात्मा तस्मै । भावाय, भूयते सत्स्वरूपेणेति भावः पदार्थस्तस्मै परमात्मरूपपदार्थाय, नमः त्रिशुद्धया नमस्कारोऽस्तु । किं लक्षणाय ? चकासते देदीप्यमानाय । कया ? स्वानुभूत्या स्वस्य आत्मनः अनुभूति अनुभवनं तया स्वानुभवप्रत्यक्षेण चकासते प्रकाशते । पुनः किंभूताय ? चित्स्वभावाय चित् ज्ञानदर्शनरूपा सैव स्वभावः स्वरूपं यस्य तस्मै । पुनः किं लक्षणाय ? सर्वभावान्तरच्छिदे आत्मनो भावादन्ये भावाः स्वभावाः पदार्था वा भावान्तराः सर्वे च ते भावान्तराश्च सर्वभावान्तराः तान् छिनत्ति स्वस्वभावात् पृथक्करोतीति सर्वभावान्तरच्छित् तस्मै ।

(२) जिनपक्षे-समयसाराय सं सम्यक् यथोक्तरूपेण अयन्ति जानन्ति स्याद्वादात्मकं वस्तु निश्चिन्वन्ति ते समयाः सातिशयसम्यग्दृष्टिप्रभृतिक्षीणकषायपर्यन्ता जीवाः तेषां पूज्यत्वेन सारो जिनस्तस्मै नमः। स्वानुभूत्या स्वस्यानुभूतिर्विभूतिः समवसरणादिलक्षणा, तया चकासते प्रकाशमानाय। चित्स्वभावाय घातिकर्मक्षयात् साक्षाच्चित्स्वभावाय। भावाय भानि नक्षत्राणि उपलक्षणाच्चतुर्निकायदेवतानि अवति रक्षति पातीति भावस्तस्मै। सर्वभावानामन्तरं भेदं जीवाजीवादिकं भिन्नमित्यादिरूपं विचारं छिनत्ति परिच्छिनत्ति जानातीति सर्वभावान्तरच्छित् तस्मै।

(३) सिद्धपक्षे-परमात्मवत्प्रक्रिया। समं साम्यं यान्ति प्राप्नुवन्तीति समया योगिनस्तेषां मध्ये ध्येयतया सारः सिद्धपरमेष्ठी। स्वानुभूत्या सु सुष्ठु जगत्त्रयासम्भाविनी श्रा अतिशयेनानुभूतिर्वृद्धिरगुरुलघ्वादिगुणानां षड्वृद्धिस्तया। भूधातुर्वृद्ध्यर्थे वर्तते। तथा चोक्तं—

सत्तायां मङ्गले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसम्पदोः।
अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः॥

चकासते। चित्स्वभावाय पूर्ववत्। भावाय भाः दीप्तिः ज्ञानज्योतिः तया वाति प्राप्नोति जगदिति भावः। सकलस्य जगतः ज्ञानान्तर्गतत्वात्। वा गतिगन्धनयोः। ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्थाः, "श्रातोऽनुपसर्गात्कः" इति कप्रत्ययेनसिद्धम्। सर्वभावान्तरच्छिदे सर्वभावानामन्तरम्भ्यन्तरं तेषां श्रच्छिदविच्छेदोऽविनाशो यस्मात् स तथोक्तस्तस्मै। सिद्धपरमेष्ठिनः केषाञ्चित् पदार्थानां विनाशाभावात्।

(४) आचार्यपक्षे—सं सम्यगयनं गमनं [1]यतं चरेदित्यादिलक्षणं चरणं येषां ते समया योगिनस्तेषु सारः आचार्यस्तस्मै। स्वानुभूत्या [2]षट् त्रिंशद्गुणलक्षणया चकासते प्रकाशमानाय। चित्स्वभावाय भावाय चित्सु चिद्रूपेषु स्वस्य आत्मनो भावः परिणतिः स एव अयभावः शुभावहभावो यस्य स तथोक्तस्तस्मै। सर्वभावेत्यादि पूर्ववत्।

(५)—उपाध्यायपक्षे—समयः सिद्धान्तः स्रियते प्राप्यते येन स तथोक्तस्तस्मै। स्वानुभूत्येति पूर्ववत्। चित्स्वभावभावाय चित्सु चेतनेषु पदार्थेषु उपलक्षणादचेतनेष्वपि अभावः स्यान्नास्तित्वं तेन सह आयः भणनं कथनमिति यावत्। इङ् अध्ययनेऽस्य धातोर्भावे घञ् प्रत्ययविधानाद् भावस्य स्यादस्तित्वरूपस्य यस्योपाध्यायस्य तथोक्तस्तस्मै। पदार्थेष्वस्तित्वं नास्तित्वेनोपलक्षितमिति कथकायेत्यर्थः।

(६)—साधुपक्षे—समयेषु कालावलिषु सारः साधुः शेषं पूर्ववत्। मयो गतिः, मय गतावस्य धातोः प्रयोगः, तेषु सारं रत्नत्रयं तेन सह वर्तत इति समयसारः साधुरित्यर्थः।

(७)—रत्नत्रयपक्षे—सं सम्यक्त्वं, अयो ज्ञानं सरणं सारः चारित्रं, द्वन्द्वैकत्वं तस्मै। शेषं पूर्ववद्यथासम्भवं व्याख्येयम्। एवं सप्तार्थकं व्याख्यातं। अत्याक्षिप्यमाणं बहुशोऽर्थेन व्याख्यायते, विस्तारभयान्नेक्षितं पद्यम्॥ १॥

---

१ जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये। जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ॥ १॥
२ पंचेंदीसंवरणो नवविहबंभचेरगुत्तिधरो। चउविय कषायमुक्को य अट्ठारस गुणसंजुओ।१।
पंच महव्वयजुत्तो पंच विहायारपालणसमत्थो। पंच समिओ ति गुत्तो छत्तीस गुणओ हवइ सूरी।२।

अन्वय—नमः समयसाराय भावाय चित्स्वभावाय स्वानुभूत्या चकासते सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥

अर्थ—समय अर्थात् जीव नामक पदार्थ, उसमें सार जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म-रहित शुद्ध आत्मा—उसे मेरा नमस्कार हो। वह कैसा है? शुद्ध सत्तास्वरूप वस्तु है। इस विशेषणपद से सर्वथा अभाववादी नास्तिकों का मत खण्डित हो गया। और वह कैसा है? जिसका स्वभाव चेतनागुणरूप है। इस विशेषण से गुणगुणी का सर्वथा भेद मानने वाले नैयायिकों का निषेध हो गया। और वह कैसा है? अपनी ही अनुभवनरूप क्रिया से प्रकाश करता है अर्थात् अपने को अपने से ही जानता है—प्रकट करता है। इस विशेषण से आत्मा को तथा ज्ञान को सर्वथा परोक्ष ही मानने वाले जैमिनीय भट्ट प्रभाकर के भेद वाले मीमांसकों के मत का खण्डन हो गया। तथा ज्ञान अन्य ज्ञान से जाना जा सकता है स्वयं अपने को नहीं जानता, ऐसा मानने वाले नैयायिकों का भी प्रतिषेध हो गया। और वह कैसा है? स्वतः अन्य सर्व जीवाजीव चराचर पदार्थों को सर्वक्षेत्रकालसम्बन्धी सर्व विशेषणों के साथ एक ही समय में जानने वाला है। इस विशेषण से, सर्वज्ञ का अभाव मानने वाले मीमांसक आदि का निराकरण हो गया। इस प्रकार के विशेषणों (गुणों) से शुद्ध आत्मा को ही इष्टदेव सिद्ध करके (उसे) नमस्कार किया है ॥१॥

अथ सरस्वतीमभिष्टौति—

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

टीका – अनेकान्तमयी मूर्तिरनेकान्तेन स्याद्वादेन निर्वृत्ता स्याद्वादात्मिका मूर्ति यस्याः सा अनेकान्त-मयी मूर्तिर्जिनवाण्या अनेकान्तात्मकत्वादनुक्तापि सामर्थ्याज्जिनवाणी लभ्यते। नित्यं सदैव त्रिकालं प्रकाशतां नित्योद्योतं कुरुतां। किंविशिष्टा सा? प्रत्यगात्मनः परमात्मनोऽथवा आत्मनश्चिद्रूपस्य प्रत्यक् तत्त्वं पश्यन्ती भिन्नं तत्त्वं स्वरूपं अव-लोकयन्ती प्रकाशयन्तीत्यर्थः। किंविशिष्टस्य तस्य? अनन्तधर्मणो-ऽनन्ता द्विकवारानन्तप्रमाणाः अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानेकत्वादिरूपा धर्माः स्वभावा यस्य स तथोक्तस्तस्य। धर्म शब्दोऽत्र स्वभाव वाची, "धर्माः पुण्यसम न्यायस्वभावाचार सोमपाः" इत्यनेकार्थे ॥ २ ॥

अन्वय—अनेकान्तमयी मूर्त्तिः नित्यम् एव प्रकाशताम्। अनन्तधर्मणः प्रत्यगात्मनः तत्त्वं पश्यन्ती ।२।

अर्थ—जिसमें अनेक अन्त (धर्म) हैं ऐसे जो ज्ञान तथा वचनों से युक्त मूर्त्ति सदा ही प्रकाशरूप हो। जो अनन्त धर्मों वाला है और परद्रव्यों से तथा परद्रव्यों के गुणपर्यायों से भिन्न एवं परद्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने विकारों से कथञ्चित् भिन्न एकाकार

है–ऐसे आत्मा के तत्त्व को अर्थात् असाधारण–सजातीय–विजातीय द्रव्यों से विलक्षण–निजस्वरूप को वह मूर्ति (सरस्वती, सम्यक् ज्ञान) अवलोकन करती है ।।२।।

अथ स्वचित्तविशुद्धचर्थं प्रार्थयति—

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा–
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते–
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ।। ३ ।।

टीका—मम मे, भवतु अस्तु । का ? परमविशुद्धिः परमा उत्कृष्टा कर्ममलकलङ्करहिता सा चासौ विशुद्धिश्च विशुद्धता, कुतः ? अनुभूतेरनुभवात् । कया ? समयसार–व्याख्ययैव समयेषु पदार्थेषु सारः परमात्मा, तस्य व्याख्या विशेषेण वर्णनं । एव निश्चयेन परमात्मव्यावर्णनादनुभूतिः ततो विशुद्धिर्भवतु । अथवा समयसाराख्यमिदं शास्त्रं तद्व्याख्यया कृत्वा अनुभूतिस्ततः शुद्धिश्च । कस्याः ? शुद्ध चिन्मात्रमूर्तेः । शुद्धं कर्मकलङ्करहितं चिन्मात्रं ज्ञानमात्रं तदेव मूर्तिर्यस्याः सा तथोक्ता तस्याः । व्यवहारदशायां तु किलक्षणायाः ? अविरतं निरन्तरं संसारिणामनुभवितुं योग्याः अनुभाव्याः विषयाः तेषां व्याप्तिः प्राचुर्यं तया कल्माषिता कश्मलीकृता या सा तथोक्ता तस्याः । कुत ? अनुभावात्–प्रभावात् । कस्य ? मोहनाम्नः शत्रोरित्याध्याहार्यं । किंलक्षणस्य तस्य ? परपरिणतिहेतोः परेभ्यः पुत्रमित्रकलत्रशत्रुभ्यः उत्पन्ना परिणतिः परिणामः । अथवा परा आत्मस्वरूपाद्भिन्ना विभावरूपा परिणतिः सैव हेतुः कारणं यस्य स तथोक्तस्तस्य ।। ३ ।।

अन्वयः—समयसार–व्याख्यया एव मम अनुभूतेः परमविशुद्धिः भवतु । परपरिणतिहेतोः मोहनाम्नः अनुभावात् अविरतम् अनुभाव्य व्याप्ति–कल्माषितायाः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेः ।।३।।

अर्थ—श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि इस समयसार (शुद्धात्मा तथा ग्रन्थ) की व्याख्या से ही मेरी अनुभूति की अर्थात् अनुभवनरूप परिणति की परम विशुद्धि (समस्त रागादिविभावपरिणतिरहित उत्कृष्ट निर्मलता) हो । कैसी है यह मेरी परिणति ? परपरिणतिका कारण जो मोहनामककर्म है, उसके अनुभाव (उदयरूप विपाक) से जो अनुभाव्य (रागादिपरिणामों) की व्याप्ति है, उससे निरन्तर कल्माषित अर्थात् मैली है और मैं द्रव्यदृष्टि से शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ ।।३।।

अथ जिनवचसः समयसारस्य प्राप्तिं दृढयति—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात् पदाङ्के ।
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।।

सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥ ४ ॥

टीका—ते पुरुषाः । सपदि तत्कालं । एव निश्चयेन । ईक्षन्तेऽवलोकयन्ते साक्षात्कुर्वन्तीत्यर्थः । किं तत् परंज्योतिः ? परमुत्कृष्टमतिक्रान्तसूर्यादि तच्च तज्ज्योतिश्च ज्ञानतेजः परब्रह्मेत्यर्थः । किं लक्षणं तत् ? समयसारं सर्वपदार्थेषु सारं । पुनःकिम्भूतं ? उच्चैरतिशयेन । अनवं न नवमकृत्रिमं पुराणमित्यर्थः अनादि-निधनत्वात् । पुनः किं भूतं ? अनयपक्षाक्षुण्णं नयो नैगमादिः स्याद्वादसापेक्षस्ततो विपरीत एकान्तरूपो-ऽनयस्तेषु पक्षोऽभिनिवेशो येषां तेऽनयपक्षा एकान्तवादिनस्तैरक्षुण्णमक्षुभितमध्वस्तमित्यर्थः ।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः ॥ १ ॥ इति वचनात् ।

ते के ? ये स्वयं स्वत एव वान्तमोहाः सन्तो वान्तो वमितो मोहो रागद्वेषरूपो यैस्तेतथोक्ताः । रमन्ते क्रीडन्ति एकत्वं भजन्त इत्यर्थः । क्व ? जिनवचसि जिनोक्तसिद्धान्तसूत्रे । किं लक्षणे ? उभयनय-विरोध-ध्वंसिनि उभये नया द्रव्यपर्यायार्थिका अस्तित्वनास्तित्वं एकत्वानेकत्वं नित्यत्वानित्यत्वमित्येवमादयस्तेषां विरोधः परस्परं विरोधित्वं यत्रास्तित्वं तत्र नास्तित्वस्य विरोधः । यत्र नास्तित्वं तत्रास्तित्वस्य विरोध इत्याद्येकान्तवादिनां विरोधस्तं ध्वंसत इत्येवं शीलं तस्मिन् । तथा चोक्तमष्टसहस्र्यां—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषां ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति र्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ६० ॥

पुनःकिम्भूते ? स्यात्पदाङ्के कथञ्चित्पदेन लक्षिते जिनवचसः स्याद्वादात्मकत्वात् । तथा चोक्तं सोमदेवसूरिणा-

स्याच्छब्दमन्तरेण उन्मिषितमात्रमपि न सिद्धिरधिवसतीति ॥ ४ ॥

अन्वयः—उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्, पद अङ्के जिनवचसि ये रमन्ते ते स्वयं वान्तमोहाः उच्चैः परं ज्योतिः समयसारं सपदि एव ईक्षन्ते अनवम् अनयपक्षअक्षुण्णम् ॥४॥

अर्थ—निश्चय और व्यवहार—इन दोनों नयों के विषयभेद से उत्पन्न परस्पर विरोध का नाश करने वाला, स्यात् पद से चिह्नित जो जिन भगवान का वचन (वाणी) है उसमें जो पुरुष रमते हैं (प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं) वे अपने आप ही मिथ्यात्व-कर्म के उदय का वमन करके इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को तत्काल ही देखते हैं । वह समयसार रूप शुद्ध आत्मा नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु पहले कर्मों से आच्छादित था सो वह प्रकट—व्यक्तरूप होगया है । वह आत्मा सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निर्बाध है ॥ ४ ॥

अथ प्राथमिकानां व्यवहारनयोपयोगित्वं प्रदर्श्य निश्चयात्मकानां निश्चयं निश्चिनोति—

व्यवहरणनयः स्याद् यद्यपि प्राक् पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः ॥
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं ।
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित् ॥ ५ ॥

टीका—हन्त इति वाक्यालङ्कारे । इह जगति । यद्यपि व्यवहरणनयो व्यवहाराख्यो नयो हस्तावलम्बः करावलम्बनं स्याद् भवति । केषां ? निहितपदानां निहितमारोपितं पदं स्थानं (चरणं) सन्मार्गे यैस्ते तथोक्तास्तेषां । "पदंव्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु" इत्यनेकार्थे । कदा ? प्राक्पदव्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्तितः प्राक् पूर्वं तत्सम्मुखत्वे सति प्राथमिकावस्थायां । तदपि व्यवहारनयः पूर्वमुपयोगी यद्येषोऽस्ति तथाऽपि एष व्यवहारनयो न किञ्चित् कार्यकारी । केषां ? पश्यतामवलोकयतां । किं ? परमर्थं शुद्धचिद्रूपलक्षणं पदार्थं । क्व ? अन्तरभ्यन्तरे चेतसि । किम्भूतं ? चिच्चमत्कारमात्रं, चिद् दर्शनज्ञानलक्षणा तस्याश्चमत्कार आश्चर्योद्रेकः स एव मात्रा प्रमाणं यस्य स तथोक्तस्तं । भूयः किम्भूतं ? परविरहितं परैः पुद्गलादिद्रव्यैर्विरहितं त्यक्तं तथा चोक्तं कुन्दकुन्दाचार्यवरैः समयसारे—

ववहारो भूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणयो ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

अन्वय—यद्यपि व्यवहरणनयः इह प्राक्पदव्यां निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः स्यात् तदपि चित्-चमत्कार-मात्रं पर-विरहितं परमं अर्थं अन्तः पश्यतां एषः किञ्चित् न ॥ ५ ॥

अर्थ—यद्यपि जो व्यवहारनय है वह इस पहली पदवी में (जब तक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक) जिन्होंने अपना चरण रखा है ऐसे पुरुषों के लिए हस्तावलम्बन तुल्य कहा है तथापि जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र, परद्रव्यभावों से रहित (शुद्धनय के विषयभूत) परम 'अर्थ' को अन्तरङ्ग में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा उस रूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं उन्हें यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है ॥ ५ ॥

अथ आत्मन एकत्वं वितनोति

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ॥
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं ।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्माऽयमेकोऽस्तु नः ॥६॥

टीका—इह जगति । नियमान्निश्चयनयमाश्रित्य । एव निश्चयेन । एतत्सम्यग्दर्शनं शुद्धसम्यक्त्वं । एतत् किं ? यदस्य जगत्प्रसिद्धस्य आत्मनश्चिद्रूपस्य दर्शनमवलोकनं ध्यानेन आत्मनः साक्षात्करण-

मित्यर्थः। कथं ? द्रव्यान्तरेभ्यः शुद्धचिद्रूपद्रव्यादन्यद्रव्याणि द्रव्यान्तराणि पुद्गलादिद्रव्याणि तेभ्यः पृथक् भिन्नं भवति। तथा किं विशिष्टस्यात्मनः ? शुद्धनयतो निश्चयनयाद्। एकत्वेऽहमात्मा आत्माऽहमित्येतल्लक्षणे एकत्वे। नियतस्य रतिं प्राप्तस्य। पुनः किम्भूतस्य ? व्याप्तुः स्वगुणपर्यायव्यापकस्य। व्यवहारनयाद्वा लोकालोकव्यापकस्य ज्ञानेन ज्ञानत्वात्सर्वस्य। तथा चोक्तमकलङ्कपादैः—

स्वदेहप्रमितिश्चात्मा ज्ञानमात्रोऽपि सम्मतः।
ततः सर्वगतः सोऽपि विश्वव्यापी न सर्वथा ॥ इति ॥

पूर्णज्ञानघनस्य पूर्णं परिपूर्णं ज्ञानस्य बोधस्य घनो यत्र स तथोक्तस्तस्य। च पुनरयं प्रत्यक्षीभूत आत्मा चिद्रूपस्तावान् मात्रः सम्यग्दर्शनमात्र इत्यर्थः। तत्तस्मात्कारणादयमात्मा चिद्रूपो नोऽस्माकं। एकोऽद्वितीयः। अस्तु भवतु। किं कृत्वा ? इमां प्रसिद्धां नवतत्त्वसन्ततिं नवतत्त्वसंहतिं जीवादिनवतत्त्वानां समूहं। मुक्त्वा त्यक्त्वा कर्मकलङ्कितजीवादितत्त्वानि विहाय एक आत्मा। नः शुद्धयेऽस्तु सदेति यावत् ॥ ६ ॥

अन्वय—अस्य आत्मनः यद् इह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् दर्शनम् एतत् एव नियमात् सम्यग्दर्शनम् व्याप्तुः शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य पूर्णज्ञानघनस्य च तावान् अयं आत्मा तत् इमाम् नवतत्त्वसन्ततिं मुक्त्वा अयम् एकः आत्मा अस्तु नः ॥ ६ ॥

अर्थ—इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना (श्रद्धान करना) ही नियम से सम्यग्दर्शन है; यह आत्मा अपने गुण पर्यायों में व्याप्त रहने वाला है और शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है तथा पूर्ण ज्ञानघन है। एवं जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हैं कि "इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर यह एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो" ॥ ६ ॥

अथात्मनः प्रकाशो द्योतत इति द्योतयति—

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति ॥ ७ ॥

टीका—अतो यतो नवतत्त्वेष्वपि अयमेक आत्माऽस्तु नः। अतः कारणाच्चकास्ति द्योतते। तत्प्रसिद्धं प्रत्यग्ज्योतिः परं धाम। शुद्धनयायत्तं निश्चयनयस्यायत्तमधीनं शुद्धनिश्चयनयेनेति यावत्। यत् परंज्योतिरेकत्वमद्वितीयत्वं न मुञ्चति नो जहाति। क्व सति। नवतत्त्वगतत्वेऽपि नवतत्त्वेषु गतत्वं प्राप्तत्वं तस्मिन् सत्यपि। अपिशब्दात्तेषु अगतत्वेऽपि सिद्धात्मनो नवतत्त्वेष्वगतत्वात् संसार्यात्मनः नवतत्त्वायत्तत्वात् नवतत्त्वगतत्वम् ॥ ७ ॥

अन्वय—अतः शुद्धनय-आयत्तं प्रत्यग् ज्योतिः तत् चकास्ति यद् नवतत्त्वगतत्वे अपि एकत्वं न मुञ्चति ॥ ७ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् शुद्धनय के आधीन जो भिन्न आत्मज्योति है वह प्रकट होती

जो नवतत्त्वों में प्राप्त होने पर भी (नवतत्त्वों में अनेकरूप होने पर भी) अपने एकत्व को नहीं छोड़ती ॥ ७ ॥

अथात्मैव दृश्य इति प्रेरयति—

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं ।
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ॥
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं ।
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

टीका—अथ परंज्योतिषः प्रकाशकथनादनन्तरं । इदमात्मज्योतिः परमात्मज्योतिः । दृश्यतामन्तरदृष्ट्या अवलोक्यतां । इत्यमुना प्रकारेण । कोऽसौ प्रकारः ? एकस्मिन् संसार्यात्मनि जीवाजीवादिनवतत्त्वसद्भाव इति । चिरमासंसारं पूर्वं पश्चाच्च । कथम्भूतं ? नवतत्त्वच्छन्नं नवतत्त्वैर्जीवाजीवादिभिः छन्नमाच्छादितं । किमिव ? कनकमिव । यथा सुवर्णं वर्णमालाकलापे वर्णस्य सप्ताष्टादिरूपवर्णस्य माला पङ्क्तस्तस्याः कलापः समूहस्तस्मिन् । निमग्नमन्तःपतितं । ननु च तत्त्वाच्छादितं परंज्योतिर्वर्णमालाच्छादितं स्वर्णं च कथमस्तीति ज्ञायते ? उन्नीयमानं नयप्रमाणादिभिर्निश्चीयमानं निघर्षणच्छेदनादिभिर्ज्ञायमानं । सततं निरन्तरं । किं विशेषेण निश्चयनयेन विविक्तं द्रव्यभावमलाद् भिन्नं । स्वर्णं च निजकिट्टिकालिकादिमलात् परमार्थतो भिन्नमेकरूपं सर्वत्र पर्यायेषु चिद्विवर्तत्वेनैकस्वरूपं लब्ध्यपर्याप्तादिषु लब्ध्यक्षरादिचिद्विवर्तस्याऽपरित्यक्तत्वात् । स्वर्णं च पीतत्वादिस्वरूपेण सर्वत्र वर्णेषु एकस्वरूपं । प्रतिपदमेकेन्द्रियादिपदेषु ज्ञानादिशक्तितः उद्योतमानं प्रकाशमानं । स्पर्शेन्द्रियज्ञानाद् द्वीन्द्रियादिषु रसनेन्द्रियादिज्ञानानां वृद्धिस्वभावत्वात् । कनकमपि प्रतिपदं सप्ताष्टकादिवर्णिकस्थानेषु उद्योतमानमिति छायार्थः । कनकेऽपि ज्ञातव्यः ॥ ८ ॥

अन्वय—इति वर्णमालाकलापे निमग्नं कनकं इव चिरं नवतत्त्वच्छन्नं इदं आत्मज्योतिः उन्नीयमानं अथ सततविविक्तं एकरूपं दृश्यताम् प्रतिपदम् उद्योतमानम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जैसे वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकालते हैं उसी प्रकार नव तत्त्वों में बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनय से बाहर निकालकर प्रकट की गई है इसलिए अब हे भव्य जीवो ! इसे सदा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे होने वाले नैमित्तिक भावों से भिन्न एकरूप देखो । यह (ज्योति) पद पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय में एकरूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है ॥ ८ ॥

अथ परंज्योतिषि प्रकाशिते सति नयादीनां वैयर्थ्यं स्पष्टयति—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं ।
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं ॥

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन् ।
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

टीका—अस्मिन् परमात्मलक्षणे । धाम्नि ज्योतिषि । सर्वंकषे सर्वं लोकालोकं कषति त्रासमानं करोति जानातीति लक्षणया । धातूनामनेकार्थत्वात् सर्वंङ्कषः ।"सर्वंकूलाभ्रकरीषेषु कषः" इति खश् प्रत्यय-विधानात् । अनुभवं स्वानुभवप्रत्यक्षमुपयाते प्राप्ते सति । नयश्रीः नया द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिका नैगमादय-स्तेषां श्रीः न उदयति उदयं न प्राप्नोति । नयानां परमात्मन्यधिकाराऽयोगाद् बाह्यवस्तुप्रकाशकत्वाच्च । पुनस्तस्मिन् प्रकाशिते । प्रमाणं प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणं स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं । तच्च द्वैधं प्रत्यक्षपरोक्षभेदात् । तत्र विशदं प्रत्यक्षं । तच्च द्वेधा साकल्यवैकल्यभेदात् । साकल्यं केवल-ज्ञानं, सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणत्वाद् । वैकल्यमवधिमनःपर्ययभेदाद् द्वेधा । ऐन्द्रियप्रत्यक्षं सांव्यवहारिकं स्पर्शनादीन्द्रियभेदात् षोढा । तच्च प्रत्येकं अवग्रहेहावायधारणाभेदाच्चतुर्धा । तच्च बहु-बहुविधादिद्वादशविषयभेदात् षट्त्रिंशदधिकत्रिंशतभेदभिन्नं । परोक्षं-स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागम-भेदाद् बहुधा । एतद् द्विविधलक्षणं प्रमाणमस्तंगतमेति प्रमाणानां तत् प्राप्तिनिमित्तत्वात् । तत्प्राप्ते वैयर्थ्याच्च । च पुनः निक्षेपचक्रं । निक्षेपस्तु नामस्थापनाद्रव्यभावभेदतश्चतुर्धा, तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम । अन्यत्र सोऽयमिति व्यवस्थापनं स्थापना । वर्तमानतत्पर्यायादन्यद्द्रव्यं । तत्कालपर्याया-क्रान्तं वस्तु भावोऽभिधीयते तस्य चक्रं समूहः । क्वचिदपि कुत्रचिदपि । आत्मनोऽन्यत्रालक्ष्ये स्थाने । याति गच्छति । तद् वयं न विद्मः न जानीमः । अतिशयालङ्कारकथनमेतत् । प्राथमिकानां निक्षेपस्योपयोगि-त्वादत्रापरम् निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानलक्षणं । सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्प-बहुत्वलक्षणं च किमभिदध्मः किं कथयामः ? तत्र तेषामनुपयोगित्वात् । एव निश्चयेन द्वैतं द्वाभ्यां नय-नेय, प्रमाणप्रमेय, निक्षेपनिक्षेप्यादिलक्षणाभ्यामितं प्राप्तं द्वीतं द्वीतमेव द्वैतं स्वार्थिकाऽण् प्रत्ययविधानात् । न भाति न प्रतिभासते । तथा चोक्तं—

प्रमाणनयनिक्षेपा अर्वाचीनपदे स्थिताः ।
केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकं प्रतिभासतां ॥ इति ॥

अन्वय—अस्मिन् सर्वंङ्कषे धाम्नि अनुभवम् उपयाते नयश्रीः न उदयति प्रमाणं अस्तम् एति अपि च निक्षेपचक्रम् क्वचित् याति, न विद्मः किम् अपरम् अभिदध्मः, द्वैतम् एव न भाति ॥ ९ ॥

अर्थ—आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि—इन समस्त भेदों को गौण करने वाला जो शुद्धनय का विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेजःपुञ्ज आत्मा है उसका अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहां चला जाता है सो हम नहीं जानते, इससे अधिक क्या कहें ? द्वैत ही प्रति-भासित नहीं होता ॥ ९ ॥

अथ स्वात्मस्वभावं प्रकाशयन्तं शुद्धनयं व्यनक्ति—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ।।१०।।

टीका—अभ्युदेति उदयं गच्छति । कोऽसौ ? शुद्धनयः शुद्धपरात्मग्राहकद्रव्यार्थिकः । किं कुर्वन् ? प्रकाशयन् व्यक्तीकुर्वन् । कं ? तमात्मस्वभावं शुद्धचिद्रूपस्वरूपं । कीदृशं तं ? परभावभिन्नं परे च ते भावाश्च परभावाः स्वात्मान्यपदार्थाः । अथवा परेषामचेतनादीनां भावाःस्वभावास्तैर्भिन्नं । भूयः कीदृशं? आपूर्णं आ अतिशयेन परिपूर्णं ज्ञानाद्यनन्तगुणपूर्णत्वात्तस्य । पुनः किम्भूतं ? आद्यन्तविमुक्तमनादिनिधनमित्यर्थः । पुनः कीदृशं ? एकमद्वैतमखण्डद्रव्यत्वात् । पुनः कीदृक् ? विलीनसंकल्पविकल्पजालं परद्रव्ये ममेदमितिमतिः संकल्पः । अहं सुखी दुःखीत्यादिमतिः विकल्पः । संकल्पश्च विकल्पश्च संकल्पविकल्पौ तयोर्जालं समूहं विलीनं विनष्टं संकल्पविकल्पजालं यस्य तं ।। १० ।।

अन्वय—शुद्धनयः आत्मस्वभावं प्रकाशयन् अभ्युदेति परभावभिन्नम् आपूर्णम् आदि-अन्त-विमुक्तम् एकम् विलीनसङ्कल्पविकल्पजालं ।। १० ।।

अर्थ—शुद्धनय आत्मस्वभाव को प्रकट करता हुआ उदयरूप होता है । वह आत्मस्वभाव को परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विभाव—ऐसे परभावों से भिन्न प्रकट करता है और वह आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूप से पूर्ण है—समस्त लोकालोक का ज्ञाता है—ऐसा प्रकट करता है; (क्योंकि ज्ञान में भेद कर्मसंयोग से हैं, शुद्धनय में कर्म गौण हैं ।) और वह आत्मस्वभाव को आदि अन्त से रहित प्रकट करता है (अर्थात् किसी आदि से लेकर जो किसी से उत्पन्न नहीं किया गया और कभी भी किसी से जिसका विनाश नहीं होता, ऐसे पारिणामिक भावको प्रकट करता है ।) और वह आत्मस्वभाव को एक—सर्व भेदभावों से (द्वैतभावोंसे) रहित एकाकार—प्रकट करता है, और जिसमें समस्त सङ्कल्पविकल्प के समूह विलीन हो गए हैं ऐसा प्रकट करता है । (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यों में अपनी कल्पना करना सो सङ्कल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना सो विकल्प है ।) ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है ।।१०।।

अथात्मनोऽनुभवनं भावयति—

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी ।
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां ।।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्ताज्—
जगदपगतमोहीभूय सम्यक् स्वभावं ।। ११ ।।

टीका—भो जगत् भो जगन्निवासिलोक ! आधारे आधेयस्योपचारे लोकोक्तिरपीदृशाऽस्ति मालवो देशः समागतोऽत्रेत्युक्ते तत्रत्या भूमिर्नागता किन्तु तत्रत्यो लोकस्तथा जगदित्युक्ते जगन्निवासिलोकः। अनुभवत्वनुभवगोचरीकरोतु। कं? तमेव स्वभावं शुद्धनिश्चयनयोक्तत्वाद्यथोक्तस्वभावं। अथवा स्वभावं स्व-पदार्थं स्वशुद्धचिद्रूपमित्यर्थः। कथं ? सम्यग्यथोक्ततया। पुनःकथम्भूतं ? समन्तात्द्योतमानं, समन्तात् सामस्त्येन द्योतमानं लोके प्रकाशमानं। किं कृत्वा ? अपगतमोहीभूय, अपगतमोहो भूत्वा विनष्ट-मोहो भूत्वेत्यर्थः। यत्रात्मनि। अमी बद्धस्पृष्टभावादयो बद्धः कर्मनोकर्माभ्यां संश्लेषरूपेण बन्धेन बद्धः। स्पृष्टः विस्रसोपचयादिपरमाणुभिरन्यैश्च संयोगमात्रतया स्पृष्टो बद्धश्च स्पृष्टश्च बद्धस्पृष्टौ तावेवादिर्येषा-मन्ययुतादीनां ते च ते भावाश्च ते तथोक्ताः। एत्यागत्य प्राप्येत्यर्थः। प्रतिष्ठां स्थितिं माहात्म्यं वा। नहि विदधति नैव दधते। स्फुटं व्यक्तं यथा भवति तथा। जगदुपरि सर्वतस्तरन्तोऽपि सर्वत उत्कृष्टा भवन्तोऽपि व्यवहारदृष्ट्या दृश्यमाना अपि व्यवहारिभिः कथ्यमाना अपीत्यर्थः। उक्तं च—

अस्पृष्टमबद्धमनन्यमयुतमविशेषमविभ्रमोपेतः।
यः पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः॥ १॥ १०॥

अन्वय—जगत् तम् एव सम्यक् स्वभावम् समन्तात् द्योतमानं अपगतमोहीभूय अनुभवतु यत्र अमी बद्धस्पृष्टभावादयः एत्य स्फुटम् उपरि तरन्तः अपि प्रतिष्ठाम् न हि विदधति॥ ११॥

अर्थ—जगत के प्राणियो ! इस सम्यक् स्वभावका जो सर्वावस्थाओं में प्रकाशमान है, मोह रहित होकर अनुभव करो कि जहां यह बद्धस्पृष्टादिभाव स्पष्टतया उस स्वभाव के ऊपर तैरते हैं तथापि वे उसमें प्रतिष्ठा नहीं पाते क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है, एक-रूप है और ये भाव अनित्य हैं, अनेकरूप हैं, पर्यायें द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करतीं, ऊपर ही रहती हैं॥ ११॥

अथ पूर्वापरबन्धविनाशकत्वेनात्मानमुद्बोधयति—

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किलकोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठाद्॥
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं।
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः॥१२॥

टीका—किलेति आगमोक्तौ। अहो इति आश्चर्ये। यदि कोऽपिसुधीर्धीमानन्तरम्यन्तरे शुद्धचिद्रूपं कलयत्यनुभवति साक्षात्करोतीत्यर्थः। किं कृत्वा ? व्याहत्य निःशेषमुन्मूल्य। कं ? मोहमष्टाविंशति-प्रकृतिभेदभिन्नं मोहनीयं कर्म। कथं? हठाद् बलात्कारेण तपोध्यानादिभिः। पुनः किं कृत्य ? निर्भिद्य निःशेषं भेदयित्वा। कं ? बन्धं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणं चतुर्धा कर्मबन्धं। रभसा शीघ्रं शुक्लध्याना-वाप्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्ततः। कीदृशं बन्धं ? भूतं पूर्वं संसारावस्थायां समयप्रबद्धरूपेण बद्धं निर्जरावशा-न्निर्जीर्णं। भान्तं वर्तमानं योगादिभिरागमसमयप्रबद्धमन्तः संवरवशान्निरुद्धं। अभूतमनागतमग्रे बध्यमानं

निरुद्धय तत्कारणयोगकषायानामभावात् । कारणाभावे कार्यस्याप्यभावादिति न्यायात् । एव निश्चयेन तदिति अध्याहार्यं । अयं प्रत्यक्षीभूतं आत्मा शुद्धचिद्रूपो व्यक्तः साक्षादनन्तचतुष्टयापन्नः । ध्रुवं निश्चितं । आस्ते तिष्ठति । पुनः कीदृशः ? आत्मानुभवैकगम्यमहिमानात्मनश्चित्स्वरूपस्यानुभवस्तेनैक अद्वितीयो गम्यो ज्ञेयो महिमा माहात्म्यं यस्य सः । कदा ? नित्यं सदैव परमावस्थायां । पुनः कीदृशः ? कर्मकलङ्कपङ्क-विकलः, कर्म एव कलङ्कपङ्कः संसारस्य कालङ्क्य हेतुत्वात् तेन विकलो रहितः । पुनःकिम्भूतः ? देवो द्योव्यति क्रीडति एकलोलीभावमनुगच्छति परमात्मपदे द्योतते वा देवः ? स्वयं कर्माद्यनपेक्षत्वेन शाश्वतो नित्यः ॥ १२ ॥

अन्वय— यदि कः अपि सुधीः भूतम् भान्तम् अभूतम् एव बन्धं रभसात् निर्भिद्य मोहं हठात् व्याहत्य अन्तः किल अहो कलयति, अयम् आत्मा आत्म-अनुभव-एक-गम्य-महिमा व्यक्तः ध्रुवं शाश्वतः नित्यं कर्म-कलंक-पङ्क-विकलः स्वयं देवः आस्ते ॥ १२ ॥

अर्थ—यदि कोई सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि जीव) भूत, वर्तमान और भविष्य–तीनों कालों में कर्मों के बन्ध को अपने आत्मा से तत्काल शीघ्र पृथक् करके तथा उस कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले मिथ्यात्व (अज्ञान) को अपने पुरुषार्थ से रोक कर अथवा नाश करके अन्तरङ्ग में अभ्यास करे–देखे तो (जानेगा कि) यह आत्मा–अपने अनुभव से ही जानने योग्य है जिसकी महिमा प्रकट है । ऐसा व्यक्त, अनुभव–गोचर, निश्चल, शाश्वत् नित्य कर्मकलङ्क कर्दम से रहित है ऐसा स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान है ।१२।

अथात्मानुभूतिमेव समर्थयति—

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या ।
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ॥
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प—
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥१३॥

टीका—किलेति निश्चितं । इति पूर्वोक्तप्रकारेण । या शुद्धनयात्मिका शुद्धनय एव आत्मा स्वरूपं यस्याः सा आत्मानुभूतिः आत्मनः शुद्धचैतन्यस्यानुभूतिरनुभवरुपलब्धिर्वा पारमार्थिकी आत्मोपलब्धिरित्यर्थः । इयमेव आत्मानुभूतिरेव ज्ञानानुभूतिर्ज्ञानस्य सम्यग्बोधस्यानुभूतिरनुभव उपलब्धिर्वा । इतीत्थं बुद्ध्वा मत्वा । एक अद्वितीयोऽस्ति वर्तते । समन्तात् सामस्त्येन । पुनः किंभूतः ? नित्यं निरन्तरमवबोधघनः केवलज्ञानपिण्डः नित्यमवबोधघनः । किं कृत्वा ? निवेश्य आरोप्य । कथं ? सुनिष्प्रकम्पमविचलं यथाभवति तथा । क्व ? आत्मनिस्वस्वरूपे । कं ? आत्मानं स्वस्वभावं ॥ १३ ॥

अन्वय—इति या शुद्धनयात्मिका आत्म अनुभूतिः इयम् एव किल ज्ञानानुभूतिः इति बुद्ध्वा आत्मनि आत्मानम् सुनिष्प्रकम्पम् निवेश्य नित्यम् समन्तात् एकः अवबोधघनः अस्ति ॥ १३ ॥

अर्थ—इस प्रकार जो पूर्वकथित शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है; यह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके 'सदा सर्व ओर एक ज्ञानघन आत्मा है' इस प्रकार देखना चाहिए ॥१३॥

अथ परमात्मस्वरूपप्रकाशनं नः आशास्ति—

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ॥
चिदुच्छ्वलननिर्भरं सकलकालमालम्बते ।
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं ॥ १४ ॥

टीका—अस्तु भवतु । किं तत् ? परमं महो जगदुत्कृष्टं ज्योतिर्जगत्प्रकाशकत्वात् । केषां ? नोऽस्माकं । किम्भूतं ? अखण्डितं न खण्डितमध्वस्तं केनापि प्रमाणेन कैश्चिद्विवादिभिस्तत्स्वरूपस्य खण्डयितुमशक्यत्वात् । "सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यत" इति वचनात् । पुनःकथम्भूतं ? अनाकुलं न केनापि व्याकुलीकृतं तत्स्वरूपस्य केनापि पुद्गलादिसंयोगेनास्पृष्टत्वाज्जलेन विसनीपत्रवत् । भूयःकिम्भूतं? अनन्तं न विद्यतेऽन्तो विनाशो यस्य तत् । तद्गुणाविभावेन विनाशरहितत्वात् । पुनः कथम्भूतं ? अन्तर्बहिर्ज्वलत् अन्तरभ्यन्तरे बहिर्बाह्ये ज्वलद् देदीप्यमानं बहिरन्त स्वरूपप्रकाशकत्वात् । पुनःकथंभूतं ? सहजं स्वाभाविकं केनापीश्वरादिनाकृतत्वात् । पुनः कथम्भूतं ? सदा-उद्विलासं-सदा निरन्तरमुद्विलासं उद् ऊर्ध्वं तनुवातवलये विलासः सुखानुभवनं अथवा उदयमानो विलासो यस्य तत् । पुनःकीदृशं ? चिदुच्छ्वलननिर्भरं चितश्चैतन्यस्य उच्छ्वलनं प्रकटीभवनं तेन निर्भरं प्रवर्धमानचित्स्वभावत्वात् । पुनःकथम्भूतं परंज्योतिः? सकलकालमेकरसं, सकलकालं पूर्वापरवर्तमानकालमेकरसं शुद्धपरमात्मरसं आलम्बतेऽवलम्बयति । किम्वल्लवणरसवत् तथाहि-यथा व्यञ्जनलुब्धानामबुद्धानां लोकानां विचित्रव्यञ्जनसंयोगोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भाव्याम्यामनुभूयमानं लवणं स्वदते न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां । तथैव ज्ञेयलुब्धानामबुद्धानां विचित्रप्रमेयाकारकरम्बित सामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानं स्वदते न पुनस्तदन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां ज्ञानिनां केवललवणरसिकानां तु तदेकं स्वदते । भूयःकिंभूतमिति पदं सर्वत्र विशेषणे योज्यं ।

भूयः किं भूतं ? उल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं उल्लसनुल्लास गच्छन् स चासौ लवणखिल्यश्च लवणखण्डं तस्य लीला तद्वदायतं विस्तृतं । यथाऽलुब्धबुद्धानां केवलः सैन्धवखिल्यः परद्रव्यसंपर्करहित्येनैवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथात्माऽपि सकलपरद्रव्यवैकल्येन केवलएवानुभूयमानः सर्वतोऽप्यद्वितीयविज्ञानघनस्वभावत्वाद् बोधत्वेन स्वदते ॥ १४ ॥

अन्वय—परमम् महः नः अस्तु यत् सकलकालम् चिद्-उच्छलन-निर्भरं उल्लसत्-लवण-खिल्य-लीलायितम् एक रसम् आलम्बते अखण्डितम् अनाकुलं अनन्तं अन्तः बहिः ज्वलत् सहजम् सदा उद्विलासं ॥ १४ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हमें वह उत्कृष्ट तेज–प्रकाश प्राप्त हो–जो (तेज) सदाकाल चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है; जैसे नमक की डली एक क्षार रस की लीला का आलम्बन करती है, उसी प्रकार जो तेज एक ज्ञानरसस्वरूप का आलम्बन करता है; जो तेज अखण्डित है–जो ज्ञेयों के आकाररूप खण्डित नहीं होता, जो अनाकुल है–जिसमें कर्मों के निमित्त से होनेवाले रागादि से उत्पन्न आकुलता नहीं है; जो अविनाशी रूप से अन्तरङ्ग में और बाहर में प्रकट दैदीप्यमान है– जानने में आता है, जो सहज है, स्वभाव से हुआ है—जिसे किसी ने नहीं रचा और सदा जिसका विलास उदयरूप है–जो एकरूप प्रतिभासमान है ।। १४ ।।

अथ तस्यैवोपासनं संधत्ते—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यतां ।। १५ ।।

टीका—एष आत्मा चिद्रूपो, नित्यं सदा, समुपास्यतां सेव्यतां । ध्यायतामित्यर्थः । कैः ? सिद्धिं स्वात्मोपलब्धिं । "सिद्धिः स्यात्मोपलब्धिरिति" वचनादभीप्सुभिः प्राप्तुमिच्छुभिः । किम्भूतः ? ज्ञानघनः बोधपिण्डः । पुनःकिंभूतः ? एकोऽद्वितीयः । केन ? साध्यसाधकभावेन साध्यश्च साधकश्च साध्यसाधकौ तयोर्भावेन स्वभावेन । स एवात्मा ध्येयरूपतया साध्यः स एव ध्यायकरूपतया साधकः । न त्वन्यः साध्यः न त्वन्यश्च साधकस्तेन स्वरूपेण द्विधा द्विप्रकारः ।। १५ ।।

अन्वय—एषः ज्ञानघनः आत्मा एकः सिद्धिम् अभीप्सुभिः साध्यसाधकभावेन द्विधा नित्यम् समुपास्यताम् ।। १५ ।।

अर्थ—यह (पूर्वकथित) ज्ञानस्वरूप आत्मा एक ही है (किन्तु) स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को साध्यसाधकभाव के भेद से दो प्रकार से नित्य सेवन करने योग्य है । (आत्मा का पूर्णरूप साध्य भाव है और अपूर्णरूप साधक भाव) ।। १५ ।।

अथात्मनश्चित्रत्वमेकत्वमाह—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ।।१६।।

टीका—आत्मा परमात्मा । समं युगपत् । मेचको विचित्रस्वभावः । कुतः ? दर्शनज्ञानचारित्रैः कृत्वा त्रित्वात् त्रिस्वभावत्वाद् ।अपि च अमेचको विचित्रस्वभावरहितः कुतः ?स्वयं स्वत एकत्वत एक स्वभावत्वात् । ननु य एकस्वभावः सोऽनेकः कथं स्यादेकानेकयोः परस्परं विरोधादिति चेन्न प्रमाणतः प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणतः एकानेकस्वभावत्वसाधनात् । तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेन । आत्मैक एव वस्त्वन्तराभावाद्-

देवदत्तस्य यथा श्रद्धानं ज्ञानमाचरणं तत्स्वभावानतिक्रमात्तत् स्वभाव एव न वस्त्वन्तरं—तथात्मन्यपि तत्त्रितयं तत्स्वभावानतिक्रमाद् आत्मा एव न वस्त्वन्तरं। मेचकचित्रज्ञानवद्वा एकत्वानेकत्वं ।। १६ ।।

अन्वय—प्रमाणतः आत्मा समम् मेचकः अमेचकः च अपि दर्शनज्ञानचारित्रैः त्रित्वात् स्वयम् एकत्वत. ।। १६ ।।

अर्थ—प्रमाणदृष्टि से देखा जाए तो यह आत्मा एक ही साथ अनेक अवस्थारूप (मेचक) भी है और एक अवस्थारूप (अमेचक) भी है, क्योंकि इसे दर्शनज्ञानचारित्र से तो त्रित्व (तीनपना) है और अपने से अपने को एकत्व है ।। १६ ।।

अथ मेचकामेचकत्वमात्मनः पद्यद्वयेन विवृणुते—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ।।१७।।

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावान्तरध्वंसि स्वभावत्वादमेचकः ।।१८।।युग्मं

टीका—आत्मा एकोऽपि चैतन्यैकत्वस्वभावेनाद्वितीयः व्यवहारेण व्यवहारदशायां मेचको नानास्वभावस्त्रिस्वभावत्वात् त्रयो दर्शनादिलक्षणाः स्वभावा यस्य तस्य भावस्तत्त्वं त्रिस्वभावत्वं तस्मात्। किं कृत्वा ? त्रिभिस्त्रिसंख्याकैर्दर्शनज्ञानचारित्रैरात्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः ।। १७ ।।

टीका—तु पुन आत्मा एकक एक इति संज्ञा यस्य स। संज्ञायां क प्रत्ययविधानादथवा एक एव एकः परमार्थेन द्रव्यादेशतया अमेचकोऽखण्डैकस्वभावः। केन ? व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषा, व्यक्तं स्पृष्टं तच्च तज्ज्ञातृत्वं बोधकत्वं तदेव ज्योतिर्महस्तेन कृत्वा। कुतः ? सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वात् सर्वे च ते भावान्तराश्चान्यपदार्थास्तान् ध्वंसयति विनाशयति ततो विविक्तो भवतीत्येवंशीलः स्वभावो यस्य स तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ।। १८ ।।

अन्वय—एकः अपि व्यवहारेण त्रिस्वभावत्वात् मेचकः दर्शनज्ञानचारित्रैः त्रिभिः परिणतत्वतः ।१७।

अन्वय—परमार्थेन तु व्यक्त-ज्ञातृत्व-ज्योतिषा एककः सर्व-भावान्तर-ध्वंसि-स्वभावत्वात् अमेचकः ।। १८ ।।

अर्थ—आत्मा एक है, तथापि व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तो तीन स्वभावरूपता के कारण अनेकाकाररूप (मेचक) है, क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन भावो में परिणमन करता है ।। १७ ।।

अर्थ—शुद्ध निश्चय नय से देखा जाए तो प्रकटज्ञायकत्वज्योतिमात्र से आत्मा एक-

स्वरूप है क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से सर्व अन्य द्रव्य के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त से होनेवाले विभावों को दूर करने रूप उसका स्वभाव है, इसलिए वह 'अमेचक' है–शुद्ध एकाकार है ।। १८ ।।

अथात्मनः साध्यं प्रतिफलते—

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ।।१९।।

टीका—आत्मनश्चिद्रूपस्य मेचकामेचकत्वयोरेकत्वानेकत्वयो शुद्धत्वाशुद्धत्वयोर्वा चिन्तयैव चिन्तनेनैव विचारणेनेत्यर्थः । अलं पूर्यतां तद्विचारणे न किमपीत्यर्थः । तर्हि कुतः साध्यसिद्धिः ? दर्शनज्ञानचारित्रैरात्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः साध्यो मोक्षो भव्यात्मनां मुक्तेरेव साध्यत्वात्तस्य सिद्धिर्दर्शनज्ञानचारित्रैर्भवतीत्याध्याहार्यमन्यथा तच्छ्रद्धानादिमन्तरेण साध्यसिद्धिर्नच नैव रसाङ्गवद्, यथा उपास्यमानो रसाङ्गस्तद्गुणश्रद्धानतत्सेवनानुचरणविधानतो रोगो वनीवच्यते नान्यथा तथात्मनो दर्शनादिकं ।।१९।।

अन्वय—आत्मनः मेचक-अमेचकत्वयो चिन्तया एव अलं । साध्यसिद्धिः दर्शनज्ञानचारित्रैः न च अन्यथा ।। १९ ।।

अर्थ—यह आत्मा मेचक है–भेदरूप अनेकाकार है तथा अमेचक है–अभेदरूप एकाकार है, ऐसी चिन्ता से बस हो । साध्य आत्मा की सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र–इन तीन भावों से ही होती है, अन्य प्रकार से नहीं, (यह नियम है) ।। १९ ।।

अथात्मनस्त्रित्वैकत्वाभ्यामभिन्नत्वेन सर्वमुपपनीपद्यते—

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकतायाः ।
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छं ।।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नम् ।
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ।।२०।।

टीका—अनुभवामोऽनुभवविषयीकुर्मः । किं तत् ? इदं संवेद्यमानं सुखादिभिरात्मज्योतिः परं महः कियन्तं कालं ? सततं निरन्तरं । पुनः किम्भूतं तत् ? कथमपि केनचित्प्रकारेण रत्नत्रयात्मलक्षणेन । समुपात्तत्रित्वमपि सं सम्यगुपात्तं गृहीतं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रित्वं त्रयात्मकत्वं येन तत् । ईदृशमप्येकतायाश्चैतन्यैकस्वभावायाः सकाशादपतितमभिन्नमात्मनस्त्रित्वैकत्वसमर्थनात् । पुनः किम्भूतं ? उद्गच्छत् ऊर्ध्वंगमनस्वभावमथवा उद् ऊर्ध्वमग्रेऽग्रे गच्छति जानतीति उद्गच्छद् विशुद्धकर्मक्षयादनन्तरमूर्ध्वंगमनस्वभावत्वाद् विशुद्धिविशेषादग्रेऽग्रे ज्ञानस्य प्राचुर्य्याच्च । पुनः किम्भूतं ? अनन्तचैतन्यचिह्नं, अनन्तं विनाशरहितं चैतन्यं चेतनस्वभावस्तदेव चिह्नं लक्ष्यं यस्य तत् । कुत एतदनुभवामः ? यस्माद् यतः

कारणादन्यथाऽऽत्मानुभवमन्तरेण साध्यसिद्धिः साध्यस्य चिद्रूपलक्षणस्य सिद्धिः प्राप्तिः। न खलु न खलु निश्चयेन नैव भवतीत्यर्थः। वीप्सार्थोऽयमतिशयेन निषेधकः। अधिकवचनं च किञ्चिदभीष्टं ज्ञापयत्याचार्यस्तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्या चात्मनः साध्यसिद्धिर्नान्यथा। आत्मानुभवनेनैव मुक्तिप्राप्तिरिति तथोपपत्तिस्तदनुभवनमन्तरेण कदाचित्क्वचिदपि कस्यचित् न तत्सिद्धिरित्यन्ययानुपपत्तिः। २०।।

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि अनन्त (अविनश्वर) चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी इस आत्मज्योति का जिसने किसी प्रकार से त्रित्व अङ्गीकार किया है तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई और जो निर्मलता से उदयको प्राप्त हो रही है—हम निरन्तर अनुभव करते हैं क्योंकि उसके अनुभव के बिना अन्य प्रकारसे साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती ॥ २० ॥

अथ तल्लाभलम्भनं स्तौति—

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नाऽनन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः सन्ततं स्युस्त एव ॥ २१ ॥

टीका—हीति स्फुटं। लभन्ते प्राप्नुवन्ति। ये भव्याः। कां ? अनुभूतिमात्मानुभवनमात्ममाहात्म्यं वा। कथं ? अचलितं निश्चलं यथा भवति तथा। कथं लभन्ते ? कथमपि महता कष्टेन। भवाब्धौ स्वरूपप्राप्तेर्दुष्प्राप्यत्वात्। कुतः प्राप्तिः ? स्वतो वा स्वयमेवाभ्यन्तरात् कर्मलाघवत्वलक्षणात्कारणाज्जातिस्मरणदेवागमदर्शनविद्युदभ्रपरशरीरादिविघटनदर्शनाद्वा अनित्याद्यनुप्रेक्षाचिन्तनादात्मस्वरूपप्राप्तिः। णमो सयंबुद्धाणमित्यागमवचनात्। वा अथवा अन्यतो गुरूपदेशादेः। किम्भूतां तां ? भेदविज्ञानमूलाम् आत्मशरीरयोर्भेदो भिन्नत्वं तस्य वि विशिष्टं यथोक्तं ज्ञानमुपलब्धिस्तदेव मूलकारणं यस्याः सा तां। त एव येऽनुभूतिभावुकास्त एव भव्या नान्ये स्युर्भवन्ति। सन्ततं निरन्तरमविकारा मानसभावादिविकृतिरूपविकाररहिताः। "विकारो मानसो भावः" इत्यमरः। कः ? प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावैः, प्रतिफलनं प्रतिबिम्बं आत्मनि प्रतिभासत्वमित्यर्थस्तेन निमग्ना आत्मान्तर्गता प्रतिभासत्वधर्मेणात्मान्तर्गतत्वं न तु तदुत्पत्ति तादात्म्य तदध्यवसायत्वेन ते च ते भावाश्च तेषां स्वभावा जीर्णनूतनागुरुलघुत्वादिलक्षणास्तैः। किंवत् ? मुकुरवत् यथा मूर्तस्य मुकुरस्य स्वपराकारावच्छेदिका स्वच्छतैव बहिरूष्मणस्तत्र प्रतिभा ता ज्वाला

श्रौण्यं च। तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावच्छेत्री ज्ञातृतैव पुद्गलानां कर्मनोकर्मेन्द्रियादीनां च ॥ २१ ॥

अर्थः—जो पुरुष स्वयमेव ही अथवा पर के उपदेश से किसी भी प्रकारसे भेद विज्ञान जिसका मूल उत्पत्तिकारण है ऐसी अपने आत्मा की अविचल अनुभूति को प्राप्त करते हैं वे ही पुरुष दर्पण की भाँति अपने में प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावोंके स्वभावोंसे निरन्तर विकाररहित होते हैं—ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते ॥ २१ ॥

अथ मोहादीनस्यति—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिं ॥ २२ ॥

टीका—इदानीमात्मस्वरूपप्रकाशनध्यानकाले । जगद् विष्टपं । मोहं ममेदमहमस्य, आसीन्मम पूर्वमिदमहमेतस्यासं, भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि, इत्यादिरूपं मोहं । त्यजतु जहातु । पुनः किम्भूतं ? आजन्मलीढमासंसारात्प्रवृत्तं । ज्ञानं भेदविज्ञानं । रसयतु आस्वादयतु ध्याननिषयीकरोत्वित्यर्थः । पुनः किम्भूतं तज्ज्ञानं ? रसिकानां शुद्धचिद्रूपरसास्वादकानां । रोचनं रुचिकरं । पुनः किम्भूतं ? उद्यदुदयं गच्छत् । इह जगति । क्वापि काले कस्मिंश्चित्समये, क्षयोपशम विशुद्धयादिलब्धिपञ्चकसामग्रीसद्भावसमये । किलेति निश्चितं, एक आत्मा जीवः, अनात्मना परद्रव्येण शरीरादिना साकं सह । तादात्म्यवृत्तिं तन्मयत्ववृत्तिमेकत्ववृत्तिं । न कलयति नाङ्गीकरोति तन्मयो न भवतीत्यर्थः कथमपि केनचित्प्रकारेणाऽपि ॥२२॥

अर्थ—हे जगत के जीवो ! अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किए गये मोह को अब तो छोड़ो और रसिक जनों को रुचिकर उदित हुए ज्ञान का आस्वादन करो, क्योंकि इस लोक में आत्मा निश्चय से एक है (एकाकी) वह किसी प्रकार भी अनात्मा रूप (परद्रव्य) के साथ कदापि तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता ॥ २२ ॥

अथ मोहहापनार्थं देहहापनं ख्यापयति—

अयि ! कथमपि मृत्वा, तत्त्वकौतूहली स-
न्ननुभव भवमूर्तेः, पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसन्तं, स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या, साकमेकत्वमोहम् ॥ २३ ॥

टीका—अयीतिकोमलालापेऽव्ययं, तत्त्वकौतूहली, तत्त्वं परमात्मलक्षणं तस्यावलोकने कौतूहली कौतुकी सन् भवन् । हे मित्रेत्यध्याहार्यं । कथमपि केनचित्प्रकारेण, मायादिप्रकारेण, मृत्वा-च्युत्वा, साक्षान्मरणे तदनन्तरं तत्क्षणे साक्षात्तत्त्वावलोकनाभावान्मुहूर्तं द्विनालिकापर्यन्तं । मूर्तेः शरीरस्य पार्श्ववर्ती नैकट्यवर्ती भव तच्छरीरस्वभावावलोकनार्थं । अथ मृत्वा पार्श्ववर्तिभवनानन्तरं । स्वं परमात्मानमनुभवानुभवगोचरीकुरु स्वध्यानविषयं कुर्वित्यर्थः । किं कृत्वा ? समालोक्य दृष्ट्वा पृथग् भिन्नं विलसन्तं स्वस्वरूपे विलासं कुर्वन्तमात्मव्यतिरिक्ताचेतनादिशरीरावस्थाज्ञानादि-परिणतात्मावस्थामवलोक्य स्वस्वरूपे स्थिरीभवत्वित्यर्थः । येन पृथक् स्वानुभवनेन । मूर्त्या शरी-रेण । साकं सह । एकत्वमोहं ममेदं शरीरं शरीरस्याहमित्येकत्वलक्षणं मोहं । त्यजसि जहासि । झगिति तत्कालं विलम्बमन्तरेणेत्यर्थः ॥ २३ ॥

अर्थ—आचार्य देव कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि हे भाई ! तू किसी प्रकार-भले ही महाकष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्वों का कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त के लिये पड़ोसी होकर आत्मानुभव कर, जिससे स्वविलासरूप आत्मा को सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर, इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गल द्रव्यके साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा ॥ २३ ॥

ननु शरीरमेवात्मा, तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदात्मनोऽनुपलभ्यमानत्वात् । अन्यथा महामुनीनां तीर्थंकरशरीराद्यतिशयवर्णनानुपपत्तिरिति युक्तिमुद्भाव्य भिन्नात्मवादिनं योगिनं प्रति कश्चिदप्रतिबुद्धः शिष्य इति पद्यमुत्प्लवते—

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये ।
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ॥
दिव्येन ध्वनिना सुख श्रवणयोः साक्षात् क्षरन्तोऽमृतं ।
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥ २४ ॥

टीका—ते प्रसिद्धा नाभेयादयस्तीर्थेश्वराः श्रुतज्ञानलक्षणतीर्थनायका वन्द्या नमस्करणीयाः। ये भगवन्तः। कान्त्यैव द्युत्या एव केवलं दशदिशः ककुभः स्नपयन्ति प्रक्षालयन्ति। स्वकान्त्यैव समस्ता दिशः प्रकटयन्तीत्यर्थः। ये जिना निरुन्धन्ति निवारयन्ति स्वल्पीकुर्वन्तीत्यर्थः। किं तत्? धाम तेजः। केषां? उद्दाममहस्विनाममर्यादीभूततेजस्विनां स्वर्णरत्नमुक्ताफलनक्षत्रविमानसूर्यचन्द्रदीपाग्न्यादीनां। केन? धाम्ना घातिकर्मक्षयोत्पन्नकोटिसूर्याधिकशरीरतेजसा। तथा चोक्तं—

आकस्मिकमिव युगपद्दिवसकरसहस्रमपगतव्यवधानं।
भामण्डलमविभावितरात्रिदिवभेदमतितरामाभाति ॥ १ ॥

ये रूपेण कृत्वा, जनमनस्त्रिलोकनिवासिप्राणिचित्तं मुष्णन्ति हरन्ति। तच्चित्ताकर्षणं कुर्वन्तीत्यर्थः। कथम्भूतास्ते? क्षरन्तः स्रवन्तः। किं तत्? साक्षादमृतं साक्षात् प्रत्यक्षममृतं धर्मसुधां संसारदुःखहारित्वात्। केन? दिव्येन ध्वनिना। दिव्येनान्यजनातिशायिना ध्वनिना तीर्थंकरपुण्यकर्मातिशयविजृम्भमाणध्वनिना। कयोः? श्रवणयोः उभयोः कर्णयोः। कथं? सुखं शर्म। यथा भवति तथा। पुनः किं भूताः? अष्टसहस्रलक्षणधराः, अष्टाभिरधिकानि सहस्राणि तानि च तानि लक्षणानि वज्रकुशेशयतोरणछत्राकारादीनि तेषां धरा धारकास्ते तथोक्ता नवशतव्यञ्जनोपलक्षिताष्टशतलक्षणलक्षितत्वात्। तथा च सूरय आचार्या वन्द्याः ॥ २४ ॥

अर्थ—वे तीर्थंकर और आचार्य वन्दनीय हैं। कैसे हैं वे? जो अपने शरीर की कान्ति से दसों दिशाओं को धोते हैं—निर्मल करते हैं; अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादिक के तेजको ढ़क देते हैं; अपने रूप से लोगों के मन को हर लेते हैं; दिव्यध्वनि से (भव्योंके) कानोंमें साक्षात् सुखामृत बरसाते हैं तथा जो एक हजार आठ लक्षणों के धारक हैं (अतः वे वन्दनीय हैं।) ॥ २४ ॥

अथ कथं कान्त्येत्यादिशरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यते इत्युक्ते प्रत्युत्तरयति पद्यद्वयेन—

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलं।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालं ॥ २५ ॥
नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥ २६ ॥ युग्मं

टीका—इदं प्रसिद्धं नगरं पत्तनं। पिबतीव पानं करोति गिलतीत्यर्थः। इव उपमायां। किं? पातालमधोभवनं। केन? परिखावलयेन अतिमात्रं निम्नत्वात्। पुनः किम्भूतं? प्राकार-कवलिताम्बरं, प्राकारेण शालेन कवलितं कवलीकृतं व्याप्तमित्यर्थः अम्बरं नभो येन तत्। अत्युच्चै-स्तरत्वात्। पुनः किम्भूतं? उपवनराजीनिगीर्णभूमितलं, उपवनानां वाटिकानां राजिः पङ्क्ति-स्तया निगीर्णं व्याप्तं भूमितलं पृथ्वीतलं येन तत्। इति नगरे वर्णितेऽपि राज्ञस्तदधिष्ठातृत्वेऽपि प्राकारादिस्वरूपाभावादवर्णनं नो भवेत् ॥ २५ ॥

तथैव—टीका—जिनेन्द्ररूपं सर्वज्ञरूपं। जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। किं भूतं? नित्यं यावच्छ-रीरभावित्वात् स्थिरमित्यर्थः। पुनः कथम्भूतं? अविकारसुस्थितसर्वाङ्गं, अविकारेण नेत्रहस्तादि-विकृत्यभावेन सुस्थितानि सर्वशरीराङ्गानि सर्वावयवा यस्य तत्। पुनः किम्भूतं? अपूर्वसहज-लावण्यम्, अपूर्वमन्यजीवासंभवि, सहजमकृत्रिमं स्वाभाविकमित्यर्थः। लावण्यं लवणिमा यस्य तत्। किमिव? समुद्रमिवाक्षोभं न केनापि क्षुभ्यत इत्यक्षोभमिति। शरीरस्तूयमाने तीर्थंकरकेवलि-पुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेऽपि सुस्थितसर्वाङ्गादिगुणाभावात् स्तवनं न स्यात् ॥ २६ ॥

अर्थ—कोट के द्वारा आकाश को ग्रसित कर रखा है (अर्थात् बहुत ऊंचा कोट है), बगीचों की पंक्तियों से जिसने भूमितल को निगल लिया है (अर्थात् पृथ्वी चारों ओर बगीचों से ढ़क गई है) और कोट के चारों ओर की खाई के घेरे से मानों पाताल को पी रहा है (अर्थात् बहुत गहरी खाई वाला है) ऐसा यह नगर है ॥ २५ ॥

अर्थ—जिसमें सभी अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं, जिसमें (जन्म से ही) अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है (जो सर्वप्रिय है) और जो समुद्र के सदृश क्षोभरहित है अर्थात् जिसमें चलाचल नहीं है, जिनेन्द्र का ऐसा रूप उत्कृष्टतया जयवन्त वर्तता है ॥ २६ ॥

यद्येवं तीर्थङ्कराचार्यस्तुतिः समस्ताप्यप्रशस्ता स्यात्। ततः शरीरात्मनोरैकान्तिकी प्रतिपत्तिः? नैवं नयविभागाभावात्। तं नयमुल्लेखयति—

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चयान्।
नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ॥
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवेन्
नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबला-देकत्वमात्माङ्गयोः ॥ २७ ॥

टीका—कायात्मनोर्देहदेहिनोरेकत्वं कथञ्चिदेकता। कस्माद् ? व्यवहारतोव्यवहारनयमाश्रित्य लोकव्यवहारं वा। आत्मकर्मवशान्नोकर्मरूपेण पुद्गलस्कन्धबन्धो देहः कनककलधौतयोरेकस्कन्धव्यवहारवत् नीरक्षीरवद्वा। पुनर्निश्चयान्निश्चयनयमाश्रित्य नैकत्वं तयोः परस्परं भिन्नत्वात्। त्वित्यधिकपदं विशेषज्ञापकं। निश्चयाद्धि देहदेहिनोरनुपयोगोपयोगरूपयोः कनककलधौतयोः पीतपाण्डुत्वस्वभावयोरिव अत्यन्तव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेर्नानात्वं एवं किल नयविभाग इति। अतः कारणाद् वपुषः शरीरस्य स्तुत्या स्तवनेन शरीरगुणवर्णनेन। नुरात्मनः स्तोत्रं स्तवनमस्ति भवति। कुतो व्यवहारतो व्यवहारनयात्। तत् स्तोत्रं निश्चयात् परमार्थतो न। ननु आत्मस्तोत्रं कथं ? निश्चयतः परमार्थतश्चिच्चिद्रूपस्यात्मनः स्तोत्रं स्तवनं गुणवर्णनमित्यर्थो भवत्यस्ति। कया ? चित्स्तुत्यैव चिद्रूपस्यामूर्ताखण्डज्ञानदर्शनाद्यनन्तगुणस्तवनेन। एवं निश्चयस्तुतिरेवात्मस्तुतिरेवं सति सा निश्चयस्तुतिर्भवेत्। अतः आत्मशरीरयोर्भिन्नत्वसमर्थनादेकत्वमभिन्नता न भवतीत्यर्थः। कयोः ? आत्माङ्गयोश्चिद्रूपदेहयोः कुतः ? तीर्थंकरस्तवोत्तरबलात् तीर्थंकरस्य नाभेयादिजिनस्य स्तवोऽष्टप्रातिहार्यादिगुणवर्णनं तीर्थंकरशरीरगुणवर्णनमेव परमार्थस्तवनमिति प्रत्युत्तरबलाधानादेकत्वं न कदाचन। २७॥

अर्थ—शरीर और आत्मा के व्यवहारनय से एकत्व है किन्तु निश्चयनय से नहीं है; इसलिये शरीर के स्तवन से आत्मा-पुरुष का स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहलाता है निश्चयनय से नहीं; निश्चयसे तो चैतन्यके स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है उस चैतन्य का स्तवन यहां जितेन्द्रिय, जितमोह क्षीणमोह इत्यादिरूप से कहा है। अज्ञानी ने तीर्थङ्कर के स्तवन का जो प्रश्न किया था उसका इस प्रकार के नय विभाग से उत्तर दिया है जिसके बल से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा और शरीर में निश्चय से एकत्व नहीं है॥ २७॥

अथैकत्वनिरासमुपसंहरति—

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्याऽत्यन्तमुच्छादितायां।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव॥ २८॥

टीका—अद्य दानीमेव। निश्चयेन, कस्य पुरुषस्य। बोधो भेदविज्ञानं। बोधो बुध्यते जानातीति बोध आत्मा, अथवा गुणे गुणिन उपचारस्तं नावतरति न प्रादुर्भवति अपि तु प्रादुर्भवत्येव।

किम्भूतः सः ? स्वरसरभसकृष्टः स्वस्यात्मनोरसो ज्ञानशक्तिविशेषस्तस्य रभसो वेगस्तेन कृष्ट आकृष्टो विशदीकृत इत्यर्थः। भूयः किम्भूतः ? प्रस्फुटन् प्रकर्षेण निर्मलीभवन् प्रकटीभवन् वा। एक एव नान्यो बोधं विना आत्मानं प्रत्यवतरयितुम् न कश्चित् क्षम इत्यर्थः। क्व ? सत्यामात्मकायैकतायामात्मा च कायश्च आत्मकायौ तयोरेकता ऐक्यं तस्यां। कस्यां सत्यां ? उच्छादितायां निराकृतायां सत्यां। कया ? नयविभजनयुक्त्या नयस्य निश्चयव्यवहारलक्षणस्य विभजनं विभागस्तस्ययुक्तिर्दर्शनोपन्यासस्तया। कैः ? इति परिचिततत्त्वैः इति पूर्वोक्तप्रकारेण परिचितं परिचयीकृतं तत्त्वं शुद्धचिद्रूपलक्षणं यैस्ते परिचिततत्त्वास्तैः ॥ २८ ॥

अर्थ—जिन्होंने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय पा लिया है ऐसे मुनियों ने जब आत्मा और शरीर के एकत्व को इसप्रकार नयविभाग की युक्ति द्वारा जड़-मूल से उखाड़ फेंका है, उसका अत्यन्त निषेध किया है, तब अपने निजरस के वेग से आकृष्ट हुए प्रकट होनेवाले एक स्वरूप होकर किस पुरुष को वह ज्ञान तत्काल ही यथार्थपने को प्राप्त न होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा ॥ २८ ॥

अथ यावत्पर्यन्तं परभावाभावस्तावत्स्वानुभव इति संतन्यते—

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥ २९ ॥

टीका—यावद् यावत्कालपर्यन्तं। अनवं सत्यं यथा भवति तथा। अत्यन्तवेगादतिशीघ्रं। अपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः, अपरे च ते भावाश्चापरभावा अन्यपदार्थास्तेषां त्यागस्त्यजनं तदुल्लेखाय यो दृष्टान्तस्तत्र दृष्टिः यथा हि कश्चिन्नरो राजकात् परकीयमम्बरमादाय संभ्रान्त्याऽऽत्मीय प्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तद्वस्त्रस्वामिना तदञ्चलमालम्ब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मङ्क्षु प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाचः शृण्वन्नखिलैश्चिन्हैः सुपरीक्ष्य परकीयमिति निश्चित्याचिराज्ज्ञानी सन् मुञ्चति। तथा ज्ञाताऽपि परभावान् संभ्रान्त्या स्वप्रतिपत्त्याऽऽत्मसात्कुर्वन् शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावे विवेक कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्व एकः खल्वयमात्मेत्यसकृत् श्रुति श्रौतीं शृण्वन्नखिलैश्चिन्हैः सुपरीक्ष्य सर्वान् परभावान्निश्चित्य ज्ञानी सन् मुञ्चति परभावानिति दृष्टान्तदृष्टिः। वृत्तिं परभावप्रवृत्तिं प्रति नावतरत्यवतरणं न करोति तावत्पर्यन्तमियमनुभूतिरात्मानुभवज्ञानं स्वयं स्वत आविर्बभूव प्रकटीबभूव। झटिति

शीघ्रं । किम्भूता ? विमुक्ता त्यक्ता । कैः ? अन्यदीयैः परकीयैः । कथम्भूतैः ? सकलभावैः सकल-चेतनाचेतनपदार्थैः ॥ २९ ॥

अर्थ—परभाव के त्याग की दृष्टान्तदृष्टि पुरानी न पड़े, इसप्रकार अत्यन्त वेग से जब तक प्रवृत्ति को प्राप्त न हो उससे पहले ही शीघ्र सकल अन्यभावों से रहित स्वयं ही यह अनुभूति तो प्रकट हो जाती है ॥ २९ ॥

अथ स्वरसं रसामीति रचयति—

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं, चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः, शुद्धचिद्घनमहोदधिरस्मि ॥३०॥

टीका—इह जगत्यहमात्मा । स्वयमात्मना स्वमात्मानं चेतयेऽनुभवाम्युपलभे जानामीत्यर्थः । किम्भूतमात्मानं ? सर्वतः सामस्त्येन । स्वरसनिर्भरभावं, स्वस्यात्मनो रसो रुचिरनुभवनमिति यावत् तेन निर्भरो भावः स्वभावो यस्य तं । ममात्मनः कश्चन कोऽपि । शरीरादौ मोहोममत्वं नास्ति नास्ति पुनः पुनर्न विद्यते । अस्मि भवाम्यहं । कीदृक्षः ? शुद्धचिद्घनमहोनिधिः, शुद्धा निर्मला कर्मकलङ्कराहित्यात् सा चासौ चित् चेतना तस्या घनो निविडः स चासौ महोदधिर्महासमुद्रश्च घनरसानामिव निःशेषगुणानामाधारत्वात् ॥ ३० ॥

अर्थ—इस लोक में मैं स्वतः ही अपने एक आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूं; वह स्वरूप सर्वतः अपने निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरे हुए भाव-वाला है इसलिये मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है । मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप तेजःपुञ्जका निधि हूं (भावभावक के भेद से ऐसा अनुभव करे) ॥ ३० ॥

अथात्मपरद्रव्ययोर्विवेकं तंतन्यते—

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥ ३१ ॥

टीका—अयमुपयोगोज्ञानदर्शनोपयोगः । स्वयं स्वरूपेणाऽऽत्मा चिद्रूप एव प्रवृत्तः प्रवृत्तिं प्राप्तः । क्व सति ? इति पूर्वोक्तप्रकारेण । सर्वैः समस्तैरन्यभावैर्धर्माधर्मादिलक्षणैः परपदार्थैः ।

सह साकं । विवेके पृथग्भावे जाते सति । किम्भूत आत्मा ? बिभ्रद दधत् । कं ? एकमद्वितीयमात्मानं स्वस्वरूपं । भूयः किम्भूतः ? कृतपरिणतिः, कृता विहिता परिणतिः परिणमनमेकता यस्य सः । कैः सह ? दर्शनज्ञानवृत्तैस्तच्छ्रद्धानबोधचारित्रैरात्मनस्तन्मयत्वात् । कीदृक्षैस्तैः ? प्रकटितपरमार्थैः परम उत्कृष्टः सर्वप्रकाशकत्वात् स चासौ अर्थश्च परमात्मलक्षणोऽर्थ इति यावत् प्रकटितः प्रकाशं नीतः परमार्थो येन स तथोक्तः । भूयः किम्भूतः ? रामः रमणीयो मनोज्ञो जगच्छ्रेष्ठत्वात् ॥ ३१ ॥

अर्थ :–इसप्रकार पूर्वोक्तरूप से भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर जब सर्व अन्य भावोंसे भिन्नता हुई तब यह उपयोग स्वयं ही एक अपने आत्माको ही धारण करता हुआ जिनका परमार्थ प्रकट हुआ है ऐसे दर्शनज्ञानचारित्र से जिसने परिणति की है ऐसा अपने आत्मारूपी बाग में प्रवृत्ति करता है, अन्यत्र नहीं जाता ॥३१॥

अथ ज्ञानसमुद्रे मज्जनादिना जगदुद्युज्यते—

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका ।
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः ॥
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण ।
प्रोन्मग्न एष भगवा-नवबोधसिन्धुः ॥३२॥

टीका—उन्मग्न उच्छलितः प्रकटीभूत इति यावत् । कोऽसौ? एष अवबोधसिन्धुरवबोधो ज्ञानं स एव सिन्धुरनन्तगुणाधारत्वात्। किं कृत्वा? आप्लाव्य प्लावयित्वा निराकृत्येत्यर्थः । का? विभ्रमतिरस्करिणीं विभ्रमो ममेदमितिमोहो मद्यवद्भ्रमकारकत्वात् स एव तिरस्करिणी यवनिका तां। कण्टकादिभिर्दुःस्पर्शत्वेनोभयोरुपमानोपमेययोः सादृश्यत्वाज्जलेन सस्यविनाश्यत्वात् । कथं ? भरेणातिशयेन । मज्जन्तु मज्जनं कुर्वन्तु कर्ममलक्षालनहेतुत्वात् तस्य । के ? अमी समस्ताः सर्वे लोका भव्यजनाः । कथ ? निर्भरमत्यर्थं । सममेव युगपदेव । क्व ? शान्तरसे शान्त उपशमत्वं स एव रसः पानीयं शाम्यस्य पापक्षालनशीलत्वात् । कथम्भूते शान्तरसे ? आलोकमुच्छलति आलोकं त्रिलोकशिखरपर्यन्तमुच्छलत्यूर्ध्वगमनं कुर्वति सति इत्यर्थः । आलोकं व्याप्ते सति अन्यवारिधिजलस्योच्छलनशीलत्वात् ॥३२॥

इति समयसारवृत्तिरूपायाः परमाध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयाया आत्मख्यातौ व्याख्यायां पूर्वरङ्गः समाप्तः ॥

अर्थः—यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूपी आड़ी चादर को सर्वथा डुबोकर (दूर करके) स्वयं सर्वाङ्ग प्रकट हुआ है; इसलिए अब सम्पूर्ण लोक उसके शान्तरस में एक साथ ही पूर्णतया निमग्न हो जाओ; यह शान्तरस समस्त लोक पर्यन्त उछल रहा है ॥३२॥

अथ ज्ञानविलासमाख्याति—

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याय्य यत् पार्षदान् ।
आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ॥
आत्मारामममनन्तधाम महसाऽध्यक्षेण नित्योदितं ।
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥३३॥

टीका—ज्ञानं शुद्धात्मबोधः । विलसति विलासं कुरुते । तदित्याध्याहारः । यज्ज्ञानं, विशुद्धं निर्मलं । कुतः ? आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसात् आसंसारंपञ्चसंसारमभिव्याप्येत्यासंसारं निबद्धानि बन्धनं प्राप्तानि तानि च तानि बन्धनानि च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणानि तेषां विधिविधानं तस्य ध्वंसो विनाशस्तस्मात् । पुनः किम्भूतं ? स्फुटत् प्रादुर्भवत् । किंकृत्वा ? प्रत्याय्य प्रतीतिगोचरान् कृत्वा । कान् ? पार्षदान् सभापतीन् । कया ? जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा जीवश्चाजीवश्चजीवाजीवौ तयोर्विवेकः पृथक्करणं स एव पुष्कला विस्तीर्णा दृग् दृष्टिस्तया । किम्भूतं ? आत्मारामम्आत्माचिद्रूपः स एव आरामः क्रीडावनं निवासस्थानं यस्य तत् । पुनः किम्भूतं ? अनन्तधाम, अनन्तमन्तातीतं धाम तेजो यस्य तत् । पुनः किम्भूतं ? नित्योदितं नित्यं निरन्तरमुदितमुदयप्राप्तं । केन ? अध्यक्षेण सकलकेवलालोकप्रत्यक्षेण । महसा तेजसा लोकातिक्रान्तप्रकाशेन । पुनः किम्भूतं? धीरोदात्तं धीरं निष्कम्पं धैर्यादिगुणयुक्तत्वात् तच्च तदुदात्तं चोत्कटधीरोदात्तं । पुनः किम्भूतं ? अनाकुलमाकुलतारहितं मनो भव्यचित्तं ह्लादयद् हर्षोद्रेकं कुर्वत् ॥३३॥

अर्थ :—ज्ञान जीव–अजीव के स्वाँग को देखनेवाले महापुरुषों के जीव–अजीव के भेद को देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है । अनादि संसार से जिनका बंधन दृढ़ बँधा हुआ है ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से विशुद्ध हुआ है, स्फुट हुआ है—जैसे कली खिलती है उसी प्रकार विकासरूप है और उसका रमण करने का क्रीड़ावन आत्मा ही है अर्थात् उसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार आकर झलकते हैं तथापि वह अपने स्वरूप में ही रमता है; उसका प्रकाश अनन्त है और वह प्रत्यक्ष तेजसे नित्य उदयरूप है तथा धीर है, उदात्त (उच्च) है और

अनाकुल–सर्व इच्छाओं से रहित है–ऐसा (इन गुणों से युक्त) ज्ञान मन को आनन्दित करता हुआ प्रकट होता है ॥३३॥

अथ परविवेकेनोत्साहयति–

विरम किमपरेणाऽकार्यकोलाहलेन ।
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं ॥
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद् भिन्न धाम्नो ।
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः ॥३४॥

टीका—ननु शब्दोऽत्रामन्त्रणे । विरम विरक्तो भव संसारदुःखादेः परादवचोव्यापाराच्च । अपरेण परकीयेनाऽकार्यकोलाहलेन । कार्यादन्योऽकार्यः

तत्रभावे निषिद्धे च स्वरूपार्थेऽप्यतिक्रमे ।
ईषदर्थे च सादृश्यात्तद्विरुद्ध तदन्ययोः ॥१॥

इति नञ्शब्दस्य तदन्यवाचित्वादकार्यश्चासौ कोलाहलश्च स तेन । तथाहि–नैसर्गिकरागद्वेषकर्मकलमाषितमध्यवसानमेव जीवस्तथाविधाध्यवसानादङ्गारस्येव कार्त्स्न्यत्तदतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥१॥ अनाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडत् कर्मैव जीवः कर्मणातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥२॥ तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरन्तरागरसनिर्भराध्यवसानसन्तान एव जीवस्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥३॥ नवपुराणावस्थादिभावेन वर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥४॥ विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥५॥ सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमन्दगुणाभ्यां भिद्यमान कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःख तिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥६॥ मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवःकार्त्स्न्यत कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥७॥ अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात् खट्वाया इव काष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥८॥ एवमेवं प्रकारेण कोलाहलेन किं न किमपि । तर्हि किं कर्त्तव्यं ? एकं षण्मासं षण्मासपर्यन्तं । पश्यावलोकय । किंभूतः सन् ? स्वयमपि स्वत एव परनिरपेक्षो भूत्वा । निभृतः सन् निश्चलः सन् । समस्तव्यापारतन्त्रादिचिन्तां विहाय । क्व ? हृदयसरसि हृदय चित्तमेव सरः सरोवरं तस्मिन् । पुंस आत्मनस्तदाऽनुपलब्धिरप्राप्तिः किं भाति प्रतिभासते । च पुनः पक्षान्तरे । उपलब्धिः प्राप्तिः किं भाति निश्चलं स्वात्मस्वरूपेऽवलोकिते सति षण्मासाभ्यन्तरे आत्मनोऽनुपलब्धि-

रुपलब्धिर्वा भवतीत्यर्थः । किम्भूतस्य पुंसः ? पुद्गलात् परमाण्वादिद्रव्याद् भिन्नधाम्नः भिन्नमतिरिक्तं धाम तेजो यस्य तत् ॥ ३४ ॥

अर्थ :–हे भव्य ! तुझे अन्य व्यर्थ ही कोलाहल करने से क्या लाभ है ? तू इस कोलाहल से विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल लीन होकर देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में, जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसे उस आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं ? ॥३४॥

अथ सकलद्रव्यव्यतिरिक्तमात्मद्रव्यं विचकास्ति–

सकलमपि विहायाह्राय चिच्छक्तिरिक्तं ।
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं ॥
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात् ।
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तं ॥३५॥

टीका—कलयतु ध्यायतु पश्यतु जानातु वा । कलिवलिकामधेनुरिति वचनात् । क आत्मा चिद्रूपः । कं ? इमं प्रत्यक्षीभूतं स्वानुभवादिभिरात्मानं स्वस्वरूपं । क्व ? आत्मनि स्वस्वरूपे । किंभूतं ? साक्षात् प्रत्यक्षं । कस्य ? विश्वस्य जगत उपरि चरन्तमग्रभागे परिस्फुरन्तं लोकातिशायिमाहात्म्यं लोकालोकपरिच्छेदकं वा । चरधातोर्ज्ञानार्थवाचकत्वात् । परमुत्कृष्टमनन्तमंतातीतं । किं कृत्वा ? स्वमात्मानमवगाह्यानुभूय । किम्भूत स्वं ? चिच्छक्तिमात्रं ज्ञानशक्तिमात्रं स्फुटतरमतिव्यक्तं । च पुनः किं कृत्वा ? विहाय त्यक्त्वा । सकलमपि समस्तमपि परद्रव्यं । नत्वेकदेशेनेत्यपिशब्दार्थः । किम्भूतं तत् ? चिच्छक्तिरिक्तं ज्ञानशक्तिमुक्तमचेतनमिति यावत् । अह्राय शीघ्रं । स्राग्झगित्यञ्जसाह्राय इति शीघ्रवाच्यव्ययमित्यमरः ॥ ३५ ॥

अर्थः–चित् शक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को मूल से छोड़कर और प्रकट रूप से अपने चित् शक्तिमात्र भाव का अवगाहन करके समस्त पदार्थसमूहरूप लोक के ऊपर सुन्दर रीति से प्रवर्तमान इस एकमात्र अविनाशी आत्मा का भव्यात्मा आत्मा में ही अभ्यास करो, साक्षात् अनुभव करो ॥३५॥

अथ चेतनाचेतने विभजति–

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्व–सारो जीव इयानयं ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३६॥

टीका—अयं जीव आत्मा ! इयान् एतावन्मात्रश्चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारश्चिच्छक्त्या ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदेन व्याप्तं सर्वस्वसारं । सर्वतः सामस्त्येन सारमन्तर्भागो यस्य स । अमी प्रत्यक्षाः-शरीरादयः सर्वेऽपि समस्ता अपि भावाः पदार्थाः पौद्गलिकाः पुद्गले भवाः पौद्गलिकाः अत एतस्माच्चैतन्यादतिरिक्ता भिन्ना ज्ञानशून्या इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अर्थ :—चैतन्यशक्ति से व्याप्त है सर्वस्व-सार जिसका ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है; इस चित्शक्ति से शून्य जो ये भाव हैं वे सभी पुद्गलजन्य हैं—पुद्गल के ही हैं ॥३६॥

अथ वर्णादीनां विविक्तं बंभण्यते—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा ।
भिन्ना भावाः सर्वे एवास्य पुंसः ॥
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी ।
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

टीका—अस्य प्रत्यक्षस्य पुंस आत्मनो वर्णाद्या वा वर्णगन्धरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननादयो बहिर्भावा वा पुना रागमोहादयो रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबन्धस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबन्धस्थानसंक्लेशस्थान—विशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानादयः । सर्वे समस्ता एव निश्चयेन । भावाः पदार्थाः । भिन्ना अतिरिक्ता आत्मातिरिक्ता इत्यर्थः तेनैव वर्णादीनां भिन्नत्वकारणेनैव । तत्त्वतः परमार्थतोऽन्तोऽभ्यन्तरे पश्यतोऽवलोकयतः स्वध्यानं कुर्वत इति भावः । अमी वर्णरागादयो नो दृष्टा नावलोकिताः स्युर्भवेयुः । अन्तोऽवलोकने सति किं दृष्टमेकमद्वितीयं परमुत्कृष्टं परमात्मानमित्यर्थः । दृष्टमवलोकितमन्तः पश्यतः पुंसः स्याद भवेत् ॥३७॥

अर्थ :—इस पुरुष (आत्मा) से वर्णादिक अथवा रागमोहादिक सब ही भाव भिन्न हैं; इसलिए अन्तर्दृष्टि से देखने वाले को ये सब दिखाई नहीं देते—मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखाई देता है—केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है ॥३७॥

अथ पुद्गलेन निर्वृत्तस्य पौद्गलिकत्वं पिपर्ति—

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्, तदेव तत्स्यान्न कथं च नान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं, पश्यन्ति रुक्मं न कथञ्चनासिं ॥३८॥

टीका—अत्र जगति । यच्छरीरादि, किञ्चित् किमपि । येन पुद्गलादिना निर्वर्त्यते निष्पाद्यते तच्छरीरादि तदेव पौद्गलिकमेव स्याद् भवेत् । कथञ्चन केनापि प्रकारेण संस्कारादिना अन्यत् पुद्गलातिरिक्तं न भवेदथवा अन्यदात्मादिद्रव्यं । केनापि प्रकारेण पौद्गलिकं न हि । इममर्थं दृष्टान्तयति इह जगति । रुक्मेण कार्तस्वरेण निर्वृत्तं निष्पन्नमसिकोशं कनकपत्रनिष्पन्नं खड्गपेटारकं । रुक्मं सौवर्णं पश्यन्ति अवलोकयन्ति । सर्वे व्यवहारिणः कथञ्चन केनापि प्रकारेणाऽधाराधेयादिना असिं खड्गं न सौवर्णं पश्यन्ति ॥३८॥

अर्थ :—जिस वस्तु से जो भाव बने वह भाव वह वस्तु ही है, किसी भी प्रकार से अन्य वस्तु नहीं है; जैसे जगत में स्वर्णनिर्मित म्यान को लोग स्वर्ण ही देखते हैं उसे किसी प्रकार से तलवार नहीं देखते ॥३८॥

अथ वर्णादीनां पौद्गलिकत्वं पूरयति—

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु, निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा, यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥३९॥

टीका—विदन्तु जानन्तु दक्षा इत्याध्याहार्यं । इदं प्रत्यक्षं वर्णादिसामग्र्यं वर्णादीनि वर्णगन्धरसस्पर्शं शरीरसंस्थानसंहननादीनि तेषां सामाग्र्यं समग्रस्य भावः सामाग्र्यं निर्माणं निष्पत्तिः । एकस्य धर्मादिपञ्चद्रव्यनिरपेक्षस्य पुद्गलस्य पुद्गलपरमाणुद्रव्यस्य । हीति निश्चितं । नान्यन्निष्पादितं । ततः तस्मात्कारणाद् वर्णादिनिर्माणस्य पुद्गलत्वसाधनादिदं तु वर्णादि पुद्गल एव । वर्णादिनामप्रकृतिनिष्पादितत्वान् नात्मा चिद्रूपो न हि । वर्णादि चिद्रूपः कुतो न ? यतो यस्माद्धेतोः स आत्मा विज्ञानघनो विशिष्टेन ज्ञानेन बोधेन घनो निविडो विज्ञानस्य घनो यत्र स तथोक्तस्ततो वर्णादीनां विज्ञानाभावादन्यो वर्णादिभिन्न एव ॥३९॥

अर्थः—हे ज्ञानिजन ! ये वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव हैं इन सबको एक पुद्गल की रचना जानो इसलिए ये भाव पुद्गल ही हैं आत्मा नहीं क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान पुञ्ज है इसलिए वह इन वर्णादिक भावों से अन्य ही है ॥३९॥

अथ जीवानां वर्णादिप्रतिपादनं मिथ्येति मन्यते—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेज् ।
जीवो वर्णादिमज् जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

टीका—चेद् यदि । कुम्भः कलशो । घृतमयो घृतेनाऽऽज्येन निर्वृत्तो घृतमयो न भवेद् । घृतकुम्भाभिधाने घृतस्य कुम्भ इत्यभिधानेऽपि न केवलं अनभिधानेऽपीत्यपिशब्दार्थः । तर्हि जीव आत्मा तन्मयो वर्णादिमयो न हि । क्व सति ? वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि मुग्धं प्रति वर्णादिमानयं जीव इति सूत्रे लोकव्यवहारे जल्पनेऽपि । यथैव हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धं कघृतकुम्भस्य तदन्यमृण्मयकुम्भानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुम्भः स मृण्मयो, न घृतमय इति । तथा कुम्भे घृतकुम्भ इति व्यवहारः। तथाऽस्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो, न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्धया जीवे वर्णादिमद् व्यवहारः ॥४०॥

अर्थः—'घी का घड़ा' ऐसा कहने पर भी घड़ा घी मय नहीं है (मिट्टीमय ही है) इसीप्रकार 'वर्णादिमान् जीव' ऐसा कहने पर भी जीव है वह वर्णादिमय नहीं है (ज्ञान-घन ही है) ॥४०॥

ननु वर्णादीनां रागादीनां च जीवत्वाभावे को जीव इति वाच्यते—

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटं ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥४१॥

टीका—इदं प्रत्यक्षं चैतन्यं चेतनत्वं। स्वयं स्वतः पुद्गलाद्यनपेक्षत्वेन । त्विति निश्चितं । जीवः आत्मा चैतन्यमन्तरेणाऽन्यस्यानुपलभ्यमानत्वादुच्चैः सकलश्रेष्ठत्वाच् चकचकायते चाकचक्यतया शोभते । किंभूतं ? अनादि कदाचिदपि तस्योत्पत्तेरभावादनन्तमन्तातिक्रान्तं विनाशरहितत्वाद् । अनादिनिधनत्वे, तर्हि कीदृशं ? अचलं विनाशरहितत्वात्, तर्ह्यस्तीति कथं ज्ञायते ? स्वसंवेद्यमहं सुखी दुःख्यहमित्यादिरूपस्वसंवेद्यप्रत्यक्षं । स्फुटं व्यक्तं । धर्मादिद्रव्याणामचेतनत्वेनास्फुटत्वात् ॥४१॥

अर्थ :—जो अनादि है (अर्थात् किसी काल उत्पन्न नहीं हुआ); अनन्त है (अर्थात् किसी काल जिसका विनाश नहीं) अचल है (अर्थात् जो कभी चैतन्यपने से अन्यरूप नहीं होता); स्वसंवेद्य है (अर्थात् जो स्वयं अपने आपसे ही जाना जाता है) और प्रकट है ऐसा जो यह चैतन्य अत्यन्त चमत्काररूप प्रकाशमान है वह स्वयं ही जीव है ॥४१॥

अथाजीवभेदं विकाश्य जीवतत्त्वमालम्बते —

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो ।
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ॥

इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा ।
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यतां ।।४२।।

टीका – ततस्तस्मात्कारणाज् । जगद् गच्छति जानातीति जगद् । द्युतिगमोऽर्थे चेति क्विप् । ज्ञानवत्प्राणिसमूहोऽमूर्तत्वंमूर्तत्वरहितमुपास्याश्रित्य । जीवस्यात्मनस्तत्त्वं स्वरूपं पश्यत्यवलोकयति न हि । यद् यदमूर्तं तत्तज्जीवतत्त्वमिति जीवेनामूर्तत्वस्य व्याप्त्यभावात् । कुतः ? यतः कारणादजीव अजीवपदार्थो द्वेधा द्विप्रकारोऽस्ति वर्तते । एको भेदो वर्णाद्यैः सहितो युक्तः परमाण्वादिपुद्गल-पिण्डानां वर्णात्मकत्वेन मूर्तत्वात् । रूपगन्धरसस्पर्शाद्यैः सहितो युक्त परमाण्वादिपुद्गलपिण्डानां वर्णात्मकत्वेन मूर्तत्वात् । तथा तेनैव प्रकारेण द्वितीयो भेदस्तैर्विरहितो धर्माधर्माकाशकालानां वर्णादिरहितत्वेनामूर्तत्वादित्यमुना प्रकारेण अमूर्तत्वं जीवस्वरूपं न । आलोच्य निश्चित्य । कैः ? विवेचकैर्भेदविज्ञानयुक्तपुम्भिः । आलम्ब्यतां सेव्यतां । किं ? चैतन्यं चेतनत्वं । कथम्भूतं? व्यञ्जितजीव-तत्त्वं व्यञ्जितं प्रकटीकृतं जीवस्य स्वरूप येन तत् । पुनश्च कथम्भूतं ? अचलं परलक्ष्येऽभावाच्चलना-रहितं । समुचितं सम्यक् प्रकारेण तत्रोचितं युक्तं । लक्षणस्य त्रीणि दूषणानि अव्याप्त्य-तिव्याप्त्यसंभवरूपाणिलक्ष्यैकदेशे लक्षणस्यवर्तनमव्याप्तिः । तत्राव्यापि नैतल्लक्षणं स्वलक्ष्ये जीवे सर्वत्र विद्यमानत्वात् । गो. शावलेयत्ववदव्यापि न च । वा पुनोऽतिव्यापि न च, स्वलक्ष्यं जीवलक्षणं विहायान्यत्र गोः पशुत्ववद् विद्यमानत्वाभावात् । पुनो गव्येकशफत्ववदसंभवं न च । यतो व्यक्तं तत्रैव तत्र सर्वत्रैव विद्यमानत्वादथवासमुचितपदेनासंभवपरिहारः ।।४२।।

अर्थ :–अजीव दो प्रकार के हैं; वर्णादि सहित और वर्णादि रहित; इसलिए अमूर्तत्व का आश्रय लेकर भी (अर्थात् अमूर्तत्व को जीव का लक्षण मानकर भी) जीवके यथार्थ स्वरूप को जगत् नहीं देख सकता–इस प्रकार परीक्षा करके भेदज्ञानी पुरुषों ने अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणों से रहित चेतनत्वको जीवका लक्षण कहा है, वह योग्य है । वह चैतन्यलक्षण प्रकट है, उसने जीव के यथार्थस्वरूप को प्रकट किया है और वह अचल है–चलाचलता रहित सदा विद्यमान है । जगत् उसीका अव-लम्बन करो (उसीसे यथार्थ जीव का ग्रहण होता है ।) ।।४२।।

अथ जीवाजीवयोर्भिन्नत्वमनुभवति—

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं ।
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तं ।।

अज्ञानिनो निरवधि प्रविजृम्भितोऽयं।
मोहस्तु तत्कथमहो वत नानटीति ॥४३॥

टीका–इति चेतनत्वाचेतनत्वयोर्भिन्नत्वकथनेनाऽनुभवतिनिश्चिनोत्यनुभवविषयं करोतीत्यर्थः। कः? ज्ञानी भेदविज्ञानयुक्तो जनो भव्यलोको लक्षणतोऽसाधारणधर्मतो जीवादात्मनोऽजीवं धर्मादिद्रव्यं विभिन्नमतिरिक्तं। कीदृशमजीवं? स्वयमचैतन्यस्वरूपेण उल्लसन्तमूर्ध्वं विलसन्तं। वतेति खेदे। ततस्माद्। जीवाजीवयोः परस्परं भिन्नत्वादयं मोहः पुद्गलात्मकं मोहनीयं रागद्वेषात्मकं च कर्म। अहो इत्याश्चर्ये। कथं? केन प्रकारेण? नानटीति। अत्यर्थं नाटयति न कथमपि तयोः परस्पर-भिन्नत्वसाधनात्। किम्भूतो मोहः? अज्ञानिनो भेदज्ञानरहितस्य मूढप्राणिनः। निरवधि मर्यादा-रहितत्वेन व्याप्तोऽज्ञानिनस्तन्मयत्वात् ॥ ४३ ॥

अर्थ :–यों पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण जीव से अजीव भिन्न है उसे (अजीवको) अपने आप ही (स्वतन्त्रपने, जीवसे भिन्नपने) विलसित होता हुआ–परिण-मित होता हुआ ज्ञानीजन अनुभव करते हैं तथापि अज्ञानी को अमर्यादरूप से फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्वपर के एकत्व की भ्रान्ति) क्यों नाचता है–यह हमें महा आश्चर्य और खेद है ॥४३॥

अथाविवेकनाट्ये नटनपटुतां प्रकटयति–

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये।
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः॥
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥४४॥

टीका—नटति नृत्यं करोति नारकादिपर्यायसूक्ष्मस्थूलादिरूपं भवतीत्यर्थः। कः? पुद्गलो वर्गवर्गणास्पर्धकगुणहान्यादिरूपः। एव निश्चयेन। किम्भूतः? वर्णादिमान् वर्णो रूपं स एवादिर्य-स्य स्पर्शरसगन्धादेः स वर्णादिर्विद्यते यस्य सः। "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गला" इति वचनात्। क्व? अस्मिन् जगत्प्रसिद्धेऽविवेकनाट्ये। ममेदमहमस्येति लक्षणोऽविवेकस्तथा चोक्तं। चिदचित्त्वे परतत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनमिति। तद्विपरीतोऽविवेकः स एव नाट्यं लास्यं तस्मिन्। किम्भूते? अनादिनि आदिरहिते। पुनः किम्भूते? महत्यासंसारजीवव्याप्यत्वात्। चेति भिन्नप्रक्रमे। अन्यो-ऽजीवाद्भिन्नोऽयं जीव आत्मा न नटति। कुतः? हेतुर्गर्भितविशेषणं दर्शयति–रागादिपुद्गलविकार विरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिः रागो रतिः आदिशब्दात् द्वेषमोहाध्यवसायादयस्ते च ते पुद्गलानां

विकाराश्च विकृतयस्तेभ्यो विरुद्धं विपरीतस्वरूपत्वाद् भिन्नं तच्च तच्छुद्धं द्रव्यभावनोकर्मरहितं चैतन्यं च तदेव धातुर्द्रव्यविशेषोऽथवा दधाति स्वगुणपर्यायानिति धातुर्ज्ञानशक्तिस्तेननिर्वृत्ता मूर्तिर्लक्षणया स्वरूपं यस्य सः ॥ ४४ ॥

अर्थ :–इस अनादिकालीन महा अविवेक के नाटक में अथवा नृत्य में वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, अन्य कोई नहीं; (अभेदज्ञान में पुद्गल ही अनेक प्रकार का दिखाई देता है, जीव अनेक प्रकार का नहीं है) और यह जीव तो रागादिक पुद्गलविकारों से विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है ॥४४॥

अथोपसंहारमाजेहीयते—

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा ।
जीवाजीवौ स्फुट विघटनं नैव यावत्प्रयातः ॥
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद् व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या ।
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥ ४५ ॥

टीका—तावत् तावत्कालपर्यन्तं । ज्ञातृद्रव्यं ज्ञायकद्रव्यमात्मद्रव्यमित्यर्थः । स्वयं स्वभावादेवाऽतिरसाद् रसातिशयत उच्चैरूर्ध्वं चकाशे शुशुभे । किम्भूतं ? प्रसभविकसदत्यर्थं विकाशं गच्छत् । कया ? व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या चिन्मात्रस्य ज्ञानमात्रस्य शक्तिरविभागप्रतिच्छेदसमूहो व्यक्ता चासौ चिन्मात्रशक्तिश्च तया । किं कृत्वा विश्वं जगद् व्याप्य परिच्छेद्येत्यर्थः । यावद् यावत्पर्यन्तं । नैव प्रयातेनिश्चयेन न प्राप्नुतः । किं ? स्फुटविघटनं स्फुटं व्यक्तं विघटनं पृथग्भवनं । कौ ? जीवाजीवौ जीव आत्मा चेतनोऽजीवोऽचेतनः कर्मपुद्गलादिर्द्वन्दस्तौ । किं कृत्वा ? इत्थं पूर्वप्रकारेण पुद्गलस्यैव नर्तनादि कथनलक्षणेन नाटयित्वा नृत्यविषयं कृत्वा । इतस्ततश्चालयित्वेति यावत् । किं ? ज्ञानक्रकचकलनापाटनं ज्ञानं शुद्धात्मज्ञानं तदेव क्रकचः करपत्रं तस्य कलना ग्रहणं तस्यां पाटनं पटुत्वं तत्पटुत्वं जीवाजीवयोर्मध्ये कृतेत्यर्थः "क्रकचोऽस्त्री करपत्रं स्यादित्यमरः" । तावज्ज्ञातृद्रव्यं, समयं समयं प्रत्यधिकतया अचकाद् यावन्निःशेषबन्धध्वंसो न याति । तस्मिन्कृतेऽधिकतया प्रतिभासनाभावात्तस्य स्वरूपेऽवस्थानात् कृतकृत्यत्वादिति तात्पर्यं ॥ ४५ ॥

अर्थ :–इस प्रकार ज्ञानरूपी करवत का जो बारम्बार अभ्यास है उसे नचा कर जहाँ जीव और अजीव दोनों प्रकट रूप से अलग नहीं हुए, वहां तो ज्ञाताद्रव्य अत्यन्त विकासरूप होती हुई, अपनी प्रकट चिन्मात्रशक्ति से विश्व को व्याप्त करके अपने आप ही अतिवेग से उग्रतया अर्थात् आत्यन्तिक रूप से प्रकाशित हो उठा ॥४५॥

व्याख्यानमिदं जयता-दात्मविकाशि प्रकृष्टनिजमानं ।
शुभचन्द्रयतिव्यक्तं शुद्धार्थं समयसारपद्यस्य ॥ १ ॥

इति समयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिणीनामधेयस्य व्याख्यायां प्रथमोऽङ्कः ॥ १ ॥

*

अथ कर्तृकर्माधिकारः

द्वितीयोऽङ्कः

अथ जीवाजीवौ कर्तृकर्मभावेन बाभाति—

एकः कर्त्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी ।
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिं
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं ।
साक्षात् कुर्वन्निरुपधि पृथग् द्रव्यनिर्भासि विश्वं ॥ ४६ ॥

टीका—स्फुरति द्योतते । किं ? ज्ञानज्योतिर्बोधतेजः । पृथक् समस्तद्रव्येभ्यो भिन्नं । किम्भूतं ? परमोदात्तं परममुत्कृष्टं सर्वद्रव्यविकाशकत्वादथवा परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीरनन्तचतुष्टयलक्षणा यस्य तत्परमं । तच्च तदुदात्तमुत्कृष्टं च तत् । पुनश्च कथंभूतं ? अत्यन्तधीरमतिशयेन धीरं निष्कम्पं । धीर्धारणा तां जगद् ग्रहणाय राति आदत्त इति धीरमिति वा । पुनः कथम्भूतं ? निरुपधि बाह्याभ्यन्तरद्रव्यभावकर्मणा उपाधेर्निष्क्रान्तं निरुपधि । "निरादयो निर्गमनाद्यर्थे पञ्चम्या" इति पञ्चमी तत्पुरुषः नत्वव्ययीभावः । पुनः कथम्भूतं ? द्रव्यनिर्भासि समस्तगुणपर्याय नयोपनयप्रकाशकं । नयोपनयमन्तरेणाऽन्यस्य द्रव्यस्याभावात् । तथा चोक्तमष्टसहस्र्यां—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः ।
अविभ्राड् भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥ १ ॥ इति ।

विश्वं षड्द्रव्यसमुदायसमरज्जुघनत्रिलोकमुपलक्षणादलोकं च साक्षात् कुर्वन् प्रत्यक्षी कुर्वन्निति। पूर्वार्धोक्तप्रकारेण प्रवृत्तिं कर्तृकर्मप्रवृत्तिं । तदत्र क्रोधादौ योऽयमात्मा स्वयमज्ञानभावेन ज्ञान भवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्त्ता । यत्तु अज्ञान भवन व्याप्रियमाणत्वेनान्तरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म । एवमियमनादिरज्ञानजा कर्मकर्तृप्रवृत्तिः । कर्त्ता आत्मा, कर्म ज्ञानावरणादिः । द्वन्द्वस्तयोः प्रवृत्तिः प्रवर्तनं तामभितः साकल्येन शमयदुपशम शान्तां

नयत् । किम्भूतां तामज्ञानां न विद्यते ज्ञानं यस्यां सा तां । क्व ? इह जगति । एकोऽहं चिदात्मा चिच्छब्दोऽत्रपुल्लिङ्गे । कर्त्ता करोतीत्येवं शीलः कर्त्ता, कोपादयः क्रोधादयो द्रव्यभावरूपाः । मे ममात्मनः कर्तृतापन्नस्य । कर्म क्रियमाणं कार्यं ॥ ४६ ॥

अर्थ :—'इह लोक में मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो एक कर्त्ता हूं और ये क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं, ऐसी अज्ञानियों के जो कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति है उसे सब ओर से शमन करती हुई (मिटाती हुई) ज्ञानज्योति स्फुरायमान होती है। वह ज्ञान ज्योति परम उदात्त है अर्थात् किसी के आधीन नहीं है, अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी भी प्रकार से आकुलतारूप नहीं है और पर की सहायता के बिना भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने का उसका स्वभाव है इसलिए वह समस्त लोकालोक को साक्षात् करती है—प्रत्यक्ष जानती है ॥४६॥

ननु ज्ञाने कथं न कर्तृकर्मप्रवृत्तिरितिचेत्—

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद् भेदवादा —
निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्म प्रवृत्ते–
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥ ४७ ॥

टीका—इदं प्रत्यक्षं ज्ञानं बोधः । उच्चैरतिशयेन । उदयमुदयं प्राप्तं । किम्भूतं ? उज्झत् त्यजत् । कां ? परपरिणतिम् परेषु क्रोधादिषु परिणतिं परिणामं । पुनः कीदृक्षं ? खण्डयन् निराकुर्वत् । कान् ? भेदवादान् भेदानां कर्तृकर्मकरणादिरूपाणां वादाः कथनानि तान् । पुनः कथम्भूतं ? अखण्डं न खण्ड्यते केनापि तदखण्डं परिपूर्णं । पुनः कथम्भूतं ? उच्चण्डमुत्कटं द्रव्यास्रवनिराकरणहेतुत्वात् । नन्विति वितर्के । इह ज्ञानात्मनि । अवकाशः स्थानं कथं न केनापि प्रकारेण । कस्याः ? कर्तृकर्मप्रवृत्तेः कर्ता च कर्म च कर्तृकर्मणी तयोः प्रवृत्तिः प्रवर्तनं । आत्मा कर्ता । क्रोधादि कर्म । ईदृग्विधविकल्परूपा, तस्या भावकर्मणां नावकाश इति यावत् । वा अथवा भवति जायते । प्रादुर्भवि गतौ च भूः इत्यभिधानात् । कथं ? न केनापि प्रकारेण पौद्गलः पुद्गलेभ्यस्त्रयोविंशतिवर्गणा मन्यतमाभ्यो वर्गणाभ्यस्तदुचिताभ्यो भवः पौद्गलः कर्मबन्धः कर्मणां ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मणां बन्धः द्रव्यकर्मबन्धो निरस्तः ॥ ४७ ॥

अर्थ :—परपरिणति को छोड़ता हुआ, भेद के कथनों को तोड़ता हुआ, यह अखण्ड और अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष उदयको प्राप्त हुआ है। अहो ! ऐसे ज्ञान में (परद्रव्यके)

कर्त्ताकर्मकी प्रवृत्ति का अवकाश कैसे हो सकता है ? तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है ? (कदापि नहीं हो सकता) ॥४७॥

अथ चेतनश्चकास्तीति प्रकाशते

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां ।
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभया–दास्तिघ्नुवानः परं ॥
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनाक्लेशान्निवृत्तः स्वयम् ।
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥ ४८ ॥

टीका—इतो ज्ञानस्य माहात्म्यकथनादनन्तरं । चकास्ति द्योतते । कः ? पुराणो जीर्णोऽनादिरित्यर्थः । पुमान् आत्मा । पुनः किम्भूतः ? जगतः साक्षी जगतस्त्रिलोकस्य साक्षी अक्षति संघातीकरोति पूर्वोत्तरपर्यायानित्येवं शीलोऽक्षी । अथवा अक्ष्णोति व्याप्नोति परिच्छिनत्ति सर्वगुणपर्यायानित्येवं शीलोऽक्षी ज्ञायकस्तेनसह वर्तत इति साक्षी । अथवा जगतः साक्षी साक्षिको जगत्स्वभावज्ञायकत्वात् । स्वयं परस्वरूपमन्तरेण ज्ञानीभूतः संसारदशायामज्ञानं प्रतिबुद्धावस्थायां ज्ञानं भूयतेस्मेति ज्ञानीभूतो निवृत्तो विनिवृत्तिं प्राप्तः । कुतः ? अज्ञानोत्थित कर्तृकर्मकलनाक्लेशात् अज्ञाना स्वयं चैतन्याभावलक्षणा उत्थिता प्रादुर्भूता कर्तृकर्मणोः कलना प्रवृत्तिर्विकल्पो वा सैव क्लेशो दुःखदायित्वात्तस्मात् । पुनः किम्भूतः ? आस्तिघ्नुवानः । ष्टिवु आस्कन्दनेऽस्य धातोः प्रयोगात् । परं केवलं । स्वं स्वरूपं । कुतः ? अभयान्निर्भयत्वमाश्रित्य । किम्भूतं स्वं ? विज्ञानघनस्वभावं विज्ञानस्य विशिष्टनिर्मलज्ञानस्य घनो निरन्तरं स एव स्वभावो यस्य तत् । इति हेतोरात्मप्रकाशनस्वभावात् । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, कर्तृकर्मविकाशाभावे सति । विरचय्य रचयित्वा । कां ? परामुत्कृष्टां निवृत्तिं परावृत्तिं । संप्रतीदानीं । कुतःपरद्रव्यात् पुद्गलादिपरद्रव्यत्वात् ॥ ४८ ॥

अर्थ :–इसप्रकार पूर्वकथित विधान से शीघ्र ही परद्रव्य से उत्कृष्ट (सर्व प्रकार से) निवृत्ति करके, विज्ञानघनस्वभावरूप केवल अपने पर निर्भयता से आरूढ़ होता हुआ अर्थात् अपना आश्रय करता हुआ (अथवा अपने को निःशङ्कतया आस्तिक्य भाव से स्थिर करता हुआ) अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास से उत्पन्न क्लेशों से निवृत्त हुआ, स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, जगत् का साक्षी पुराण पुरुष (आत्मा) अब यहां से प्रकाशमान होता है ॥४८॥

अथात्मनः कर्तृत्वशून्यत्वं संसूचयति—

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि ।
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ॥

इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिन्दंस्तमो ।
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥ ४६ ॥

टीका—तदा कर्तृत्वशून्यत्वसूचनसमये । स एव प्रत्यक्षीभूतः पुमान् चिद्रूपो, लसित उल्लासं प्राप्तः, परमप्रकर्षत्वं प्राप्त इत्यर्थः । किं कृत्वा ? ज्ञानीभूय अज्ञानं ज्ञानं भूत्वा संसारदशात इति ज्ञानीभूय । "समासे भाविन्यनत्रः क्तो यप्" इति कौमारसूत्रेण यप् । "डाच्चूर्याद्यनुकरणं" चेदिति चिन्तामणीयसूत्रेण निष्पादनाच्च । तदा लसितो यदेत्यध्याहारः । कर्तृत्वशून्या यदाहमात्मा कर्त्ता । कर्मनोकर्मपरिणामरूपकर्मणामिति विकल्पेन शून्या रहितः । किं कुर्वन् ? तमोऽज्ञानं ज्ञानदृष्टि निवारकत्वात् । भिन्दन् छिन्दन् निवारयन्निति यावत् । इति पूर्वार्धोक्तयुक्त्या । केन ? उद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण, उद्दाम उत्कृष्टः स चासौ विवेकश्च चेतनाचेतनभिन्नत्वकरणलक्षणः स एव घस्मरं जगदज्ञानग्रसकं महस्तेजोऽथवा विवेकेनोपलक्षितं घस्मरमहो जगदन्तः कारकं ज्ञानं तस्य भारस्तेन । क्व? तदात्मनि तावेव स्वभावस्वभाविभावावेव आत्मा स्वरूपं यस्य स तदात्मा तस्मिन् । भवेत् स्यात् । का व्याप्यव्यापकता ? व्याप्यतेऽनेनेति व्याप्यं कार्यं । व्याप्नोति स्वकार्यमिति व्यापकः । धूमधूमध्वजयोर्घटमृत्तिकयोर्वा व्याप्यव्यापकभावसद्भावात् । पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा स्वतन्त्रव्यापकेन कर्मत्वेन क्रियमाणं कर्म व्याप्यं तयोस्तद्भावत्वव्यवस्थापनात् । कयोरिव ? कुम्भमृदोरिव । अपि पुनः । अतदात्मनि अतत्स्वरूपे नैव व्याप्यव्यापकता । कुम्भकारकुम्भयोरिव । अन्यथा पर्वतधूमध्वजयोरपि तत्प्रसङ्गात् । स्वभावस्वभाविनोः कार्यकारणयोश्च शिंशपावृक्षत्वयोर्धूमधूमध्वजयोश्च । यथा व्याप्य व्यापकता न चान्यत्र, तथा ज्ञानात्मनोः पुद्गलकर्मणोरेव व्याप्यव्यापकता न च पुद्गलपरिणामात्मनोः कुम्भतत्कारकयोरिवास्ति । व्याप्यव्यापकभावसंभवं व्याप्यं च व्यापकं च व्याप्यव्यापकेतयोर्भावस्तस्य संभवस्तं । ऋते विना । "ऋते योगे द्वितीयापि भवति पञ्चमी चर्ते द्वितीया च शब्दादिति शाकटायनात् ।" कर्तृकर्मस्थितिः कर्मात्मनोः कर्तृकर्मावस्थानं । कापि न ? काऽपि न भवतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

अर्थ :—व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है, अतत्स्वरूप में नहीं और व्याप्यव्यापक भाव के सम्भव के बिना कर्त्ताकर्म की स्थिति कैसी ? अर्थात् कर्ताकर्म की

स्थिति नहीं ही होती। ऐसे प्रबल विवेकरूप और सबको ग्रासीभूत करने के स्वभाववाले ज्ञानप्रकाश के भार से अज्ञानान्धकार को भेदता हुआ यह आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर उस समय कर्तृत्वरहित हुआ शोभित होता है ॥४९॥

अथानयोर्व्याप्यव्यापकत्वं पुनारुणद्धि—

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्य जानन्।
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्॥
अज्ञानात् कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावद्।
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः॥ ५०॥

टीका—ज्ञान्यात्मा। च पुनः पुद्गलः परमाण्वादि पुद्गलद्रव्यं व्याप्य व्यापकत्वं। 'प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं'। तत्र प्राप्यं कर्मपर्यायं प्राप्तुं योग्यं व्याप्यं यथा स्वभाविनि वह्नावुष्णत्वं। विकार्यं-पूर्वावस्थापरित्यागेन चावस्थान्तरप्राप्तिस्तद्विकार्यं, यथा मृत्पिण्डस्य घटः निर्वर्त्यं-पर्याय स्वरूपेण निर्वर्तितुं निष्पादितुं योग्यं निर्वर्त्यं यथा मृदः स्थासकोशकुशूल घटादिवत्। व्यापकस्वमुष्णत्वे वह्नित्वं। घटे मृत्पिण्डत्वं स्थासादौमृत्त्वं। पुद्गलकर्मपरिणामयोः। आत्माज्ञानपरिणामयोर्व्याप्यव्यापकत्वं नत्वात्मकर्मणोः अत्यन्तविलक्षणत्वात्। अन्तोऽभ्यन्तरे बहिस्तयोर्व्याप्य व्यापकत्वे दृश्यमानेऽपि कलयितुं स्वीकर्तुमसहावसमर्थौ अत्यन्तविलक्षणत्वमुद्घाटयति तयोः। किम्भूतः सन्नात्मा? जानन्नपि परिच्छिदन्नपि। अपिशब्दाल्लब्ध्यपर्याप्तादौ साकल्येनाजानन्। कां? इमां प्रत्यक्षां स्वपरपरिणतिं स्वपरयोरात्मपुद्गलयोः परिणतिः परिणामः पर्यायो ज्ञानकर्मलक्षणस्तां। पुनः पुद्गलस्तामजानन्नपरिच्छिदन्नज्ञानस्वभावत्वादसहौ। कुतः? नित्यं सदैव अत्यन्त भेदाच्चेतनाचेतनस्वभावेनात्यन्तं विलक्षणत्वात्। यावद् विज्ञानार्चिर्ज्ञानज्योतिर्न चकास्ति न द्योतते। किं कृत्वा? सद्यस्तत्कालं उत्पाद्य निष्पाद्य। कं? भेदमात्मकर्मणोर्भिन्नत्वं। कथं? अदयं ध्यानादिना निष्ठुरत्वं यथा भवति तथा। क इव? क्रकचवद् यथा क्रकचः करपत्रं काष्ठयोर्भेदमुत्पादयति तावत्कालं भाति शोभते। का? कर्तृकर्मभ्रममतिः कर्तृकर्मणोर्भ्रं मस्तेनोपलक्षिता मतिर्बुद्धिः यस्य सः। कयोः? अनयोर्जीवपुद्गलयोः। कुतः? अज्ञानाज्ज्ञानावरणादिकर्मोच्छादितचैतन्यात् ॥ ५० ॥

अर्थ :—ज्ञानी तो अपनी और पर की परिणति को जानता हुआ प्रवर्तता है और पुद्गलद्रव्य अपनी तथा पर की परिणति को न जानता हुआ प्रवर्तता है इसप्रकार उनमें सदा अत्यन्त भेद होने से (दोनों भिन्न द्रव्य होने से) वे दोनों परस्पर अन्तरङ्ग में

व्याप्यव्यापकभाव को प्राप्त होने में असमर्थ हैं। जीव पुद्गल के कर्ताकर्मभाव है ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञान के कारण वहां तक भासित होती है कि जहां तक (भेदज्ञान करने वाली) विज्ञान ज्योति करवत की भांति निर्दयता से (उग्रता से) जीव-पुद्गल का तत्काल भेद उत्पन्न करके प्रकाशित नहीं होती ॥५०॥

अथकर्तृकर्मादित्रयं पृथगुपदिशति पद्यचतुष्टयेन—

यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥ ५१ ॥

टीका—य आत्मा पुद्गलो वा परिणमति स्वपर्यायान् प्रति परिणामं प्राप्नोति। यथोत्तरङ्ग निस्तरङ्गावस्थयोः समीरणसञ्चरणासञ्चरणयोरपि समीरसमुद्रयोः। कर्तृकर्मत्वाभावात् पारावार एवादि मध्यान्तेषूत्तरङ्ग निस्तरङ्गावस्थे व्याप्य उत्तरङ्गनिस्तरङ्गत्वात्मानं कुर्वन् कर्ता। तथा संसारनिस्संसारयोः पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि कर्तृकर्मत्वाभावाज्जीव एवादि-मध्यान्तेषु तेऽवस्थे व्याप्य। उभयस्वरूपमात्मानं कुर्वन् कर्ता। एवं पुद्गलेऽपि योज्यं। तु पुनर्यः परिणामो भवेत्तत्कर्म। यथा तस्यैवोत्तरङ्गनिस्तरङ्गत्वात्मानुभवतः स एव परिणामः कर्म। तथा तस्य संसारं निस्संसारं चानुभवतः स एव परिणामः कर्म या परिणतिः स्वपरिणामे परिणमनं सा क्रिया वस्तुतया वस्तुरूपेण ऐक्यात् त्रयमपि कर्तृकर्मपरिणतिरूपं भिन्नमन्यन्न भवेत्। क्रिया हि तावदखिलाऽपि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना। परिणामोऽपि परिणाम-परिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात् परिणामिनो न भिन्नः परिणाम्यपि क्रिया परिणामयोरभिन्नत्वात् परिणामतोऽभिन्नः ॥ ५१ ॥

अर्थ :—जो परिणमित होता है सो कर्ता है, (परिणमित होने वाले का) जो परिणाम है सो कर्म है और जो परिणति है सो क्रिया है—ये तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं ॥५१॥

अनेकत्वेऽपि एकत्वमिति स्फुटयति—

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥ ५२ ॥

टीका—एक आत्मा, सदा नित्यं, परिणमति परिणामयुक्तो भवति। सदा निरन्तरमेक-स्यात्मनः परिणाम शुभाशुभलक्षणो जायत उत्पद्यते। एकस्यात्मनः परिणतिः परिणमनलक्षणा

क्रिया स्याद्, यथा किल कुलालः कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः घटादिरूपं मृत्तिकया क्रियमाणं प्रति अभिन्नतामनुभवति तथा आत्मापि पुद्गलपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः पुद्गलक्रियया क्रियमाणं कर्म प्रत्यभिन्नतामनुभवति । यतोऽभिन्नत्वं तेषां त्रयाणां । अनेकमपि कर्तृकर्मक्रियारूपेणानेकमपि एकमेव वस्तुतस्तेषामभिन्नत्वेनैक्यं ॥ ५२ ॥

अर्थः—वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, एक के ही सदा परिणाम होते हैं (अर्थात् एक अवस्था से अन्य अवस्था एक की ही होती है) और एक की ही परिणति–क्रिया होती है क्योंकि अनेकरूप होने पर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं है ॥ ५२ ॥

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणतिः स्याद् यदनेकमनेकमेव सदा ॥ ५३ ॥

टीका—उभौ जीवपुद्गलौ, खलु इति निश्चितं, परिणमत परिणामं गच्छतो, न न हि, एक एव हि परिणमति, यथा कुलालो घटनिष्पादनाभिमान परिणामं प्रति परिणमति न तु घटभवनक्रियायां, तथा जीवः कर्मनिष्पादनाभिमान परिणामं प्रति परिणमति, न पुद्गलद्रव्यनिष्पादितकर्मक्रियां प्रति, उभयोर्जीवपुद्गलयोः परिणामः परिणतिर्न जायते नोत्पद्यते, परस्परं भिन्नस्वभावत्वादुभयोः परात्मनोः परिणतिः परिणमनलक्षणाक्रिया न स्यान्न भवेत् । परस्परं स्वस्वभावे भिन्नपरिणतिसद्भावाद् । यतः यस्मात् कारणादनेकं न एकमनेकं जीवपुद्गलौ सदा नित्यमनेकमेव भिन्नमेव ॥ ५३ ॥

अर्थः—दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की एक परिणति–क्रिया नहीं होती क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं सो सदा अनेक ही हैं वे बदलकर एक नहीं हो जाते ॥५३॥

नैकस्य हि कर्त्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ५४ ॥

टीका—एकस्य परिणामस्य चेतनालक्षणस्य कर्मलक्षणस्य वा । हीति निश्चितं, द्वौ जीवपुद्गलौ कर्त्तारौ कारकौ न स्तः, न भवतः । चेतनाया जीव एव कर्ता, कर्मणः पुद्गल एव कर्ता, चेति भिन्नप्रक्रमे । एकस्य जीवस्य पुद्गलस्य वा द्वे कर्मणी चेतना कर्मलक्षणे न स्तः । च पुनः, एकस्य कर्तुः–

जीवस्य पुद्गलस्य वा द्वे क्रिये परिणती द्वे न स्तः। जीवस्य चेतनाक्रियां प्रति परिणतत्वात्, पुद्गलस्य कर्मक्रियां प्रति परिणतत्वाद्, यथा कुलालः स्वपरिणतिक्रियां प्रति परिणतः। मृद्द्रव्यं तु कलश क्रियां प्रति परिणतं, अन्यत् मृद्द्रव्यं वस्त्रक्रियां प्रति हेतुर्न स्याद्। यतः पूर्वोक्तकारणादेकमखण्डं द्रव्यं जीवादि, अनेकं परपरिणामकर्तृक्रियाभावादनेकरूपं न स्यान्न भवेद्, अथवा एकं जीवादि, अनेकं स्वकर्तृकर्मक्रियारूपं, यतः कुतो न भवेदपि तु भवेदेव ॥ ५४ ॥

अर्थ :—एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होतीं क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्य रूप नहीं होता ॥ ५४ ॥

अथाज्ञानमाहात्म्यं निरूपयति—

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै—
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः।
तद् भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत् किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥५५॥

टीका—नन्विति वितर्के, इह जगति, इत्यमुना प्रकारेण, धावत्यत्यर्थं प्रसर्पति व्याप्नोतीति यावत्। किं ? महाहङ्काररूपं महान् सकलप्राण्यतिशायी स चासौ अहङ्कारश्च मयेदं कृतमित्यादिरूपो गर्वः स एव रूपं स्वरूपं यस्य तत्। तमोऽज्ञानं। केषां ? मोहिनां मोहग्राहग्रस्तानां देहिनां। किम्भूतं ? उच्चकैरत्यर्थं दुर्वारं वारयितुमशक्यं, कियत्पर्यन्तं धावति ? आसंसारत एव यावत्पर्यन्तं पञ्चपरिवर्तनरूपसंसारस्तावत्पर्यन्तं प्रसर्पत्येव। इति किं ? कुर्वे निष्पादयामि करिष्ये वा। "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवदिति" सूत्राद्भविष्यदर्थे वर्तमानात्। अहं कर्तृभूतः, किं ? परं परद्रव्यं गृहपुत्रविवाहशरीरकर्मादिरूपं। यदि यदा व्रजेद् गच्छेद् विलयं विनाशं, तत्, तमः कर्तृ, एक वारं सकृत्। केन ? भूतार्थपरिग्रहेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन। तत् किं ? तर्हि किं तावत् किं स्यादपितु न स्यादित्यर्थः। भूयः पुनः, अहो किं ? बन्धनं कर्मश्लेषणं, कस्य आत्मनश्चिद्रूपस्य। किं भूतस्य ? ज्ञानघनस्य बोधनिरतस्य। ॥ ५५ ॥

अर्थ :—इस जगत् में मोही (अज्ञानी) जीवोंका 'परद्रव्य को मैं करता हूं' ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्वका महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार जो अत्यन्त दुर्निवार है वह—अनादि संसार से चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि अहो ! परमार्थनयका अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनयका ग्रहण करने से यदि वह एक बार भी नाश को प्राप्त हो तो

ज्ञानघन आत्माको पुनः बन्धन कैसे हो सकता है ? (जीव ज्ञानघन है इसलिए यथार्थ ज्ञान होने के बाद ज्ञान कहाँ जा सकता है ? और जब ज्ञान नहीं जाता तब फिर अज्ञानसे बन्ध कैसे हो सकता है ?) ॥ ५५ ॥

अथात्मपरभावं बाभज्यते–

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥

टीका—आत्मा चेतनः करोति विदधाति वेदयते वा । कान् ? आत्मभावान् मतिश्रुतावधिप्रमुखविभावपर्यायान्, केवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यरूपशुद्धपर्यायांश्च । परः पुद्गलपदार्थः परभावान् ज्ञानादन्यान् स्वभावविभावपर्यायान्, करोतीति सम्बन्धः । कुतः? हीति यत, आत्मनो भावाः पर्यायाः । आत्मैव द्रव्यादेशात् पर्यायाणामात्मस्वभावत्वादतएव न ते परपर्यायाः । परस्य पुद्गलस्य ते भावाः पर एव पुद्गल एव ततोऽव्यतिरिक्तत्वात् । इति ये स्वभावास्ते तदीया न परकीया इति विभागः स्फुटः ॥ ५६ ॥

अर्थ :–आत्मा तो सदा अपने भावों को करता है और परद्रव्य पर के भावों को करता है क्योंकि जो अपने भाव हैं सो तो आप ही है और जो परके भाव हैं सो पर ही है (यह नियम है) ॥ ५६ ॥

अथ ज्ञानरागयोर्युगपद्दार्ष्टान्तयति—

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ।
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ॥
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसाऽतिगृद्धया ।
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालाम् ॥५७॥

टीका—तु पुनः, य आजन्माभ्यस्तसुतत्त्वशास्त्रः पुमान्, रज्यते बाह्यलाभादिकारणकलापाद्रागं गच्छति । कुतः ? अज्ञानतः भेदविज्ञानविलक्षणबोधाद्धेतोः । किं कुर्वन् ? स्वयं स्वतः ज्ञानं शुद्धात्मज्ञानं भवन्नपि चिन्तयन्नपि अनुभवन्नपि वा ।

किल इत्यागमोक्तौ । स पुमान्, सतृणाभ्यवहारकारी तृणेन सह वर्तमानः सतृणः, अभ्यवहार उत्तमाहारः पायसशर्कराज्यादिरूपः सतृणश्चासावभ्यवहारश्च तं करोतीत्येवं शीलः स तथोक्तस्तृणसहितोत्तमाहारभोजीत्यर्थः । यथा तृणादिकमनिष्टं पायसाहार इष्टस्तयोरेकत्रास्वादेन कस्यचित्पुंसः

शुभाशुभं । तथा रागस्य तृणस्थानीयत्वादशुभत्वं । ज्ञानानुभवस्य शुभाहारस्थानीयत्वाच्छुभत्वं । नूनं निश्चितं । असौ ज्ञानरागयोरेकत्वानुभावुकः पुमान्, गां धेनुं दुग्धं क्षीरं, इव यथा, दोग्धि प्रपूरयति । कया ? दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया–दधि दुग्धविकारमाम्लरसोपेतं, इक्षुर्मधुररसोपेत इक्षुदण्डो द्वन्द्वस्तयोर्मधुराम्लरसस्तयोरतिगृद्धिरत्यासक्तिस्तया । किं कृत्वा ? पीत्वा पानं कृत्वा । कां ? रसालां वस्त्रगालितदधिशर्करां मृष्ट्वा कमपि रसान्तरं प्राप्य रसालामिति देशभाषायां शिखरिणीं भणन्ति । के ? रसनाविषयासक्तजनाः । यथा कश्चिद् रसालामास्वाद्य तद्भेदमजानन् गोर्दोहनक्रियायां मधुराम्लरसातिगृद्धया प्रवर्तते । तथा परात्मभेदमजानन् क्रोधादौ कर्तृत्वेन प्रवर्तत इति तात्पर्यम् ॥ ५७ ॥

अर्थ :– निश्चयसे स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी अज्ञान के कारण जो जीव घासके साथ एकमेक हुए सुन्दर भोजन को खानेवाले हाथी आदि पशुओं की भाँति राग करता है (राग का और अपना मिश्र स्वाद लेता है) वह श्रीखण्ड के खट्टे मीठे स्वाद की अतिलोलुपता से श्रीखण्ड पीता हुआ भी स्वयं गायका दूध पी रहा है ऐसा मानने वाले पुरुष के समान है ॥ ५७ ॥

अथाज्ञानविलासं विजृम्भते—

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिव-
च्छुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ॥ ५८ ॥

टीका—अमी एते लोकाः, स्वयं स्वत एव, कर्त्रीभवन्ति मया कर्म कृतमिति कर्मणां कर्तारो भवन्ति । कीदृक्षा अपि ? शुद्धज्ञानमया अपि निर्मलभेदबोधप्राचुर्या अमन्दज्ञानिनः । कथं कर्मकर्तारो न स्युरित्यपि शब्दार्थः । आकुलाः सन्तः । कुतः ? अज्ञानाद् भेदज्ञानाभावात् । कथम्भूतादज्ञानात् ? विकल्पचक्रकरणात् विकल्पानां चक्रम् समूहस्तस्यकरणात् कृतात् हेतोः । अत्रैवार्थान्तरन्यासमाह–वातोत्तरङ्गाब्धिवत् वातेन वायुना उत्तरङ्ग उर्ध्वोर्मिमय स चासावब्धिश्च तद्वद् यथोत्तरङ्गरहितोऽब्धिर्वातेनोत्तरङ्गीयते तथा शुद्धज्ञानोऽपि अज्ञानात् कर्ता भवतीत्यर्थः । लौकिकनिदर्शनेनाज्ञानस्य माहात्म्यमाह–मृगा हरिणा, धावन्ति प्रसर्पन्ति । किमर्थं ? पातुं पानार्थं, कां ? मृगतृष्णिकां मरीचिकां, कया ? जलधिया पानीयाभावेऽपि पानीयबुद्धया, कुतः ? अज्ञानाज्ज्ञानाभावमाश्रित्य, ज्ञानिनश्चेत्तर्हि तत्र कथं धावन्ति । यथाऽज्ञानिनो भोगसुखे शरीरादौ च सुखधिया ममत्वधिया च वर्तत इति भावार्थः । पुनर्द्रवन्ति पलायनं कुर्वन्ति, क्व ? तमसि तमिस्रे, के ? जनाः पुरुषाः क्व ? रज्जौ

वराटके, "शुल्वो वराटकः स्त्री तु रज्जुः स्त्रीषु वटी गुण" इत्यमरः। केन ? भुजगाध्यासेन भुजगोऽयमित्यारोपबुद्धया। कुतः ? अज्ञानादज्ञानमाश्रित्य। यथा रज्जौ भुजग इति कृत्वा वर्तते तथा स्वपरशरीरादौ स्वमिति कृत्वा वर्तन्तेऽज्ञानिनः ॥ ५८ ॥

अर्थ :–अज्ञान के कारण मृगमरीचिका में जलकी बुद्धि होने से हिरण उसे पीने के लिए दौड़ते हैं; अज्ञान के कारण ही अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का भ्रम होने से लोग (भय से) भागते हैं, इसी प्रकार अज्ञान के कारण ये जीव पवन से तरंगित समुद्र की भांति विकल्पों के समूहको करने से स्वयं शुद्धज्ञानमय होने पर भी, आकुलित होते हुए अपने आप ही (परद्रव्यके) कर्ता बनते हैं ॥ ५८ ॥

अथ ज्ञानविलासमाविष्करोति—

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो।
जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषं ॥
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो।
जानीत एव हि करोति न किञ्चनाऽपि ॥५९॥

टीका—तु पुनः, अज्ञानविजृम्भणं विकचानन्तरं, जानाति वेत्ति, कं ? विशेषं भेदं, कयोः ? परात्मनोः पुद्गलकर्मजीवयोः, कुतः ? ज्ञानाद् भेदबोधमाश्रित्य, कया ? विवेचकतया ज्ञानात्मनोर्भेदकस्वरूपतया। इममर्थं निर्दर्शयति इव यथा हंसो मरालो वाःपयसोर्नीरक्षीरयोर्भेदं वेत्ति तथा ज्ञानी पुद्गलजीवयोः। स पुमान् जानीत एव वेत्त्येव। कं ? चैतन्यधातुं चेतनास्वरूपधातुमात्मानं वेत्यर्थः। कथम्भूतं ? अचलं स्वस्वभावान्न चलतीत्यचलं। सदा नित्यमधिरूढः सन् गुणसमूहमाश्रितः सन्। हीति निश्चितं। किञ्चनापि किमपि न करोति कर्तृकर्मक्रियां न विदधाति ॥ ५९ ॥

अर्थ :–जैसे हंस दूध और पानी के अन्तर को जानता है उसी प्रकार जो जीव ज्ञानके कारण विवेकवाला (भेदज्ञानवाला) होने से परके और अपने विशेषको (भेदको) जानता है वह (जैसे हंस मिश्रित हुए दूध और पानी को अलग करके दूध को ग्रहण करता है, उसी प्रकार) अचल चैतन्यधातु में सदा आरूढ़ होता हुआ (उसका आश्रय लेता हुआ) मात्र जानता ही है, किंचित् मात्र भी कर्त्ता नहीं होता (अर्थात् ज्ञाता ही रहता है, कर्त्ता नहीं होता) ॥ ५९ ॥

अथ ज्ञानादेव भेदमुज्जृम्भते—

ज्ञानादेवज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था ।
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ॥
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः ।
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावं ॥६०॥

टीका—प्रभवति जायते । भिदा भेदः । कस्य ? स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः स्वस्यात्मना रसोऽनुभवस्तेन विकसन् विकाशं गच्छन् स चासौ नित्यः शाश्वतश्चैतन्यधातुश्च चेतनालक्षणो धातुस्तस्य । क्रोधादेश्च कोपमानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनादेश्च परस्परं. कुतः ? ज्ञानादेव शुद्धात्मपरिज्ञानान्नान्यत एव । किम्भूता भिन्दती विदारयन्ती । कं ? कर्तृभावं । आत्मनः कर्मणां कर्तृत्वस्वभावं । लौकिकज्ञानादेव सर्वमिति प्रकाशयति । औष्ण्यशैत्यव्यवस्था शीतोष्णयोर्व्यवस्थितिर्भवति । कयोः ? ज्वलनपयसोर्वह्निनीरयोः । कुतः ? ज्ञानादेव बोधादेव । यथा कश्चिल्लौकिकव्यवहारज्ञ एकत्रीभूतयोः पावकपयसोर्भेदं निश्चिनोति । अभेदज्ञस्तयोरभेदमेव । तथा ज्ञानी एकत्रीभूतयोः परात्मनोर्भेदं निश्चिनोति नाज्ञानी । तथा उल्लसति उल्लासं गच्छति । कः ? लवणस्वादभेदव्युदासः लवणस्वादस्य क्षारलवणस्य कटुकाम्लव्यञ्जनस्वादाद भेदो विशेषस्तस्य व्युदासो ज्ञानं । कुतः? ज्ञानादेव यथा कश्चिद् भोजनभेदज्ञो व्यञ्जनलवणयोर्भेदं व्यक्तं वेत्ति । अभेदज्ञ इदं क्षारस्वादं व्यञ्जनमेव । तथा ज्ञानी क्रोधादिज्ञानयोरेकत्रीभूतयोः पृथक् स्वभावं परिच्छिनत्ति । अज्ञानी तु क्रोध्यमात्मैवेति वेत्तीति तात्पर्यं । प्रतिवस्तूपमालङ्कारोऽयं ॥

यदाह वाग्भट्टः—अनुपात्तविवादानां वस्तुनः प्रतिवस्तुना ।
यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ १ ॥ ॥६०॥

अर्थ :–(गर्म पानी में) अग्निकी उष्णता का और पानीकी शीतलताका भेद ज्ञानसे ही प्रकट होता है । व्यञ्जनके स्वादसे नमकके स्वादकी सर्वथा भिन्नता ज्ञानसे ही प्रकट होती है । निज रस से विकसित होती हुई नित्य चैतन्यधातुका और क्रोधादिभाव का भेद, कर्तृत्वको (कर्त्तापनके भावको) भेदता हुआ, ज्ञानसे ही प्रकट होता है ॥६०॥

अथात्मनः स्वपरभावयोः कर्तृत्वं निवेद्यते—

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा ।
स्यात्कर्ताऽऽत्माऽऽत्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥६१॥

टीका—आत्मा चिद्रूपः। आत्मभावस्य स्वस्वरूपस्य, कर्ता कारकः, स्याद् भवेत्। कुतः? अञ्जसा परमार्थतः। कं? आत्मानं स्वस्वरूपं। ज्ञानं बोधं। अपि पुनः। एव निश्चयेन। अज्ञानं बोधविपर्ययं, कुर्वन् निष्पादयन्। यत् किल क्रोधोऽहमित्यादिवत्। वा मोहोऽहमित्यादिवच्च। परद्रव्याण्यात्मीकरोति। आत्मानमपि परद्रव्यं करोत्येवमात्मा। तदायमज्ञानकर्ता। क्वचित् कदाचित् परभावस्य पुद्गलपर्यायस्य न कर्ता स्यात्॥ ६१॥

अर्थ :—इसप्रकार वास्तवमें स्वयं को अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ आत्मा अपने ही भावका कर्त्ता है, परभावका कर्त्ता तो कदापि नहीं है॥ ६१॥

अथात्मनो व्यवहारिणां कर्तृत्वमिति व्युपदिशति—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किं।
परभावस्य कर्ताऽऽत्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥६२॥

टीका - आत्मा चिद्रूपः, ज्ञानं बोधं, करोति विदधाति स्वयं ज्ञानमेवात्मा, आत्मज्ञानयोर्द्रव्यादेशादेकत्वाज्ज्ञानाद् बोधं विहायान्यद् घटपटमकुटलकुटशकटादि किं करोति अपि तु न विदधात्येव। नन्वात्मनोऽकर्तृत्वे गृहमिदमात्मना कृतमित्यादि व्यवहारः कथमिति चेत्? नात्मनः परभावस्याकर्तृत्वात् आत्मा जीवः परभावस्य परपर्यायस्य घटादेः कर्ता व्यवहारिणां व्यावहारिकपुरुषाणां। अयमात्मा कर्तेत्यादिलक्षणोमोहो विभ्रमः। ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लवत् पुद्गलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवन्तो ज्ञानावरणादीनि भवन्ति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी॥ ६२॥

अर्थ :—आत्मा ज्ञान स्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञानके अतिरिक्त अन्य क्या करे? आत्मा परभाव का कर्त्ता है ऐसा मानना सो व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है॥ ६२॥

अथ सांख्येपं जीवस्य पुद्गलकर्तृत्वं प्रतिबध्नाति—

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव।
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव॥
एतर्हि तीव्रयमोहनिवर्हणाय।
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ॥ ६३॥

टीका—यदि ननु, जैनं प्रत्याक्षिपति । कश्चिद् जीव आत्मा पुद्गलकर्म पुद्गलमय-ज्ञानावरणादि कर्म, नैव करोति न निर्मापयति । तर्हि तत् पुद्गलकर्म कः कर्ता कुरुते, पुद्गलानां स्वयमचेतनत्वात् कर्तृत्वानुपपत्तेः । अत एव आत्मैव कर्ता लक्ष्यते दक्षैः । इत्यमुना प्रकारेणाऽभि-शङ्कया पूर्वपक्षाशङ्कया, एव निश्चयेन । एतर्हि इदानीं संकीर्त्यते निरूप्यते । किमर्थं ? तीव्रवयमोह-निवर्हणाय तीव्रवयस्तीव्रतरानुभागः स चासौ मोहश्च विभ्रमस्तस्य निवर्हणं विनाशनं तस्मै । शृणुत आकर्णयत, पुद्गलकर्म पुद्गलात्मकं कर्म द्रव्यभावरूपं कर्तृ पुद्गलपर्यायाणां कर्तृ निष्पादकं । आत्मा तु नैमित्तिको हेतुरस्तु । आत्मना कृतमिति तु व्यवहारः । राज्ञा देशे गुणदोषौ कृतावित्या-दिवत् । योधैर्युद्धे कृते राज्ञा कृतमित्यादिवद्वा ॥ ६३ ॥

अर्थः—'यदि पुद्गलकर्मको जीव नहीं करता है तो फिर उसे कौन करता है ?' ऐसी आशङ्का करके अब तीव्रवेग वाले मोहका नाश करने के लिए, यह कहते हैं कि—'पुद्गलकर्मका कर्त्ता कौन है ?' इसलिए (हे ज्ञानके इच्छुक पुरुषों !) इसे सुनो ॥ ६३ ॥

अथ पुद्गलपरिणामित्वं पूर्वपक्षक्षेपेण साक्षेपमाक्षिपति—

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य,
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं,
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥ ६४ ॥

टीका—खल्विति वितर्के । इति पूर्वपक्षप्रकारेण । ननु पुद्गलद्रव्यं स्वयमबद्धं सज्जीवे कर्म-भावेन न परिणमते तस्य सर्वथैकस्वभावत्वादिति चेन्न अपरिणामिनो नित्यस्यार्थक्रियाकारित्वविरो-धात् । अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता ते च नित्यान्निवर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादायापि निवर्तेते । साऽपि स्वव्याप्यं सत्त्वमादाय निवर्तते । जीवस्याबन्धे च संसाराभावादिति युक्त्या सांख्या-दिना कूटस्थनित्यवादिना विघ्नं कर्तुं न शक्यते वस्तुस्वभावस्य निषेद्धुमशक्यत्वाद् ज्वलनौष्ण्यवत् । नन्वात्मा पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणामयति ततो न संसाराभाव इति चेत् तर्ह्यात्मा स्वयमपरिणम-मानं परिणममानं वा तत्परिणामयेत् न तावत् प्राक्तनः पक्षः कक्षीकर्तव्यः प्रेक्षादक्षैः । अपरिणम-मानस्य तस्य परेण परिणामयितुमशक्यत्वात् । न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । अथोत्तरः पक्षस्तदा तस्य स्वयमेव परिणमनात्, परापेक्षणायोगाच्च । तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां व्यवस्थितायां सोऽयं पुद्गल, आत्मनः स्वरूपस्य, भावं परिणामं, करोति निष्पादयति । तस्य भावस्य स एव पुद्गल एव कर्ता कारको नान्यः ॥ ६४ ॥

अर्थ—इस प्रकार पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई और उसके सिद्ध होने पर पुद्गल द्रव्य अपने जिस भाव को करता है उसका वह पुद्गल द्रव्य ही कर्त्ता है ॥ ६४ ॥

अथ सांख्यवादिनं प्रति जीवस्य नित्यत्वं निरस्यति—

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया ।
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ॥
तस्यां स्थितायां स करोति भावं ।
यं स्वस्य तस्यैव भवेत् स कर्ता ॥ ६५ ॥

टीका—नन्वपरिणामी जीवस्तदा कूटस्थत्वादकारकः स्याद् । यदि सोऽस्त्वकारको विक्रियश्चेति चेन्न प्रमाणादीनामकर्तृकत्वात्, तत्फलाभावप्रसङ्गात् । न ह्यकारकः कश्चित् प्रमाता, प्रमातृत्वाभावादात्मनोऽप्यभावः । गुणाभावे हि गुणिनोऽप्यभावात् । ननु स्वयमबद्धः सन् क्रोधादिभावेन न परिणमते इति कश्चित् सांख्यः । सोऽपि न विपश्चिद् दक्षः । तदपरिणामित्वे संसाराभावप्रसङ्गात् । यदि क्रोधादिसंयोगभावेन परिणमत्यसौ जपाजातरक्तसंयुक्तस्फटिकवदिति न संसाराभावः इति चेत्तर्हि क्रोधादिः स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत् ? न तावदाद्यः पक्षो लक्ष्यो विपक्षैः । स्वयमपरिणममानस्य परैः कारणान्तरसहस्रं वंध्यावगाहवत्परिणामयितुमशक्यत्वात् । अथोत्तरस्तर्हि सिद्धं नः समीहितं । इत्युक्तयुक्त्या जीवस्यात्मनो या परिणामशक्तिर्ज्ञानावरणादि परिणमनसामर्थ्यं सा स्थिता । किंभूता ? निरन्तरा विघ्नवर्जिता । पुनः कीदृक्षा ? स्वभावभूता पारमार्थिकी पराऽनपेक्षत्वात् । तथाचोक्तमष्टसहस्रयां-"कारणस्य कार्यात्मनो भवतः क्षेपायोगात् स्वभावान्तरानपेक्षणादिति" । तस्यां स्वभावभूतायां परिणामशक्तौ स्थितायां सत्यां । स जीवो यं ज्ञानादिलक्षणं स्वस्यात्मनोभावं स्वभावं करोति स्रजति स जीवस्तस्यैव ज्ञानादिलक्षणस्य भावस्य न पुनरन्यस्य कर्ता कारको भवेत् स्यात् ॥ ६५ ॥

अर्थ :–इस प्रकार जीवकी स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई । यह सिद्ध होने पर जीव अपने जिस भावको करता है उसका वह कर्त्ता होता है ॥६५॥

अथ ज्ञानाज्ञानयोर्ज्ञानाज्ञानत्वं कुतः ? इति पद्यद्वयेनाभिलपति—

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेज्ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥ ६६ ॥

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ ६७ ॥

टीका—ज्ञानिनः पुंसो ज्ञानमय एव बोधनिर्वृत्त एव, कुतः कस्माद्धेतोः भवेत् स्यात् । पुनरन्यो भावः कुतो न स्यात् । अज्ञानिनो ज्ञानत्यक्तस्य त्वयं प्रसिद्धो ममत्वादिलक्षणः सर्वः समस्तोऽज्ञानमयोऽज्ञाननिर्वृत्तो भावः कुतोहेतोर्भवेत् । न पुनरन्योज्ञानादिलक्षणः ॥ ६६ ॥

टीका—हीति यस्मात्कारणाज्ज्ञानिनः पुंसः सर्वे निखिला भावाः परिणामाः, ज्ञाननिर्वृत्ता ज्ञाननिष्पन्ना भवन्ति जायन्ते । ज्ञानाज्ज्ञाननिर्वृत्ता एव भावाः । यथा जाम्बूनदजातितो जाम्बूनदपात्रकुण्डलादयः । तु पुनरज्ञानिनः पुंसस्ते प्रसिद्धा अहङ्कारादयः सर्वेऽपि समस्ता अपि अज्ञाननिर्वृत्ता येऽज्ञानमया एव भवन्ति जायन्ते यथा कालायसमयाद् भावात् कालायसपात्रवलयादयस्ततोऽज्ञानतस्तु अज्ञाननिर्वृत्ता एव भावाः ।

तथा चोक्तं—ईदृतादृङ्तमङ्तादृङ्तं खलु जायते ।
लोहाल्लोहमयं पात्रं हेम्नो हेममयं यथा ॥ इति ॥ ६७ ॥

अर्थः—यहां प्रश्न यह है कि ज्ञानी के ज्ञानमय भाव ही क्यों होता है, अन्य (अज्ञानमय) भाव क्यों नहीं होता ? तथा अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही क्यों होते हैं, अन्य (ज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होते ? ॥ ६६ ॥

अर्थः—क्योंकि ज्ञानीके सभी भाव ज्ञानसे रचित होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानसे रचित होते हैं ॥ ६७ ॥

अथाज्ञानत एव कर्मणां बन्धमिति प्रतिजानीते—

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥ ६८ ॥

टीका—अज्ञानी ज्ञानच्युतः पुमान्, एति प्राप्नोति । कां ? हेतुतां कारणतां, केषां ? द्रव्यकर्मनिमित्तानां द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादीनां निमित्तानि कारणानि तेषां भावानां पर्यायाणां मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगप्रमादादिरूपाणां । किं कृत्वा ? व्याप्य प्राप्य । कां ? भूमिकां स्थानं । केषां ? अज्ञानमयभावानां मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणानाम् ॥ ६८ ॥

अर्थः—अज्ञानी अपने अज्ञानमय भावों की भूमिका में व्याप्त होकर (आगामी) द्रव्यकर्म के निमित्त (अज्ञानादि) भावों के हेतुत्वको प्राप्त होता है (अर्थात् द्रव्यकर्म के निमित्तरूप भावों का हेतु बनता है) ॥ ६८ ॥

अथानयपक्षपाते सुखमावेदयति—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं ।
स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं ।।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्ता–
स्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ।। ६९ ।।

टीका—य एव योगिनो निवसन्ति तिष्ठन्ति नित्यं निरन्तरमाजन्मपर्यन्तं । किम्भूताः सन्तः ? स्वरूपगुप्ताः स्वरूपे निजचिद्रूपे गुप्तिर्गोपनं येषां ते । "अश्राादिभ्यः" इति जैनेन्द्रसूत्रेणाऽस्त्यर्थे अः (प्रत्ययः) किं कृत्वा ? मुक्त्वा हित्वा, कं ? नयपक्षपातं नयानां कर्म बद्धमबद्धं चेत्यादिरूपाणां नयेषु-वा पक्षपातोममत्वाभिनिवेशस्तं । त एव पुरुषा नयं मुक्त्वा पिबन्ति पानं कुर्वन्ति आस्वादयन्तीत्यर्थः। साक्षात् प्रत्यक्षं किं ? अमृतं न म्रियते येन परात्मध्यानेन तदमृतं परमात्मध्यातुर्मुक्तिनिवासित्वेन मरणनिवर्हकत्वात् । किम्भूताः सन्तः ? विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः विकल्पानां जालं समूहस्तेन च्युतं रहितं, शान्तमुपशमं प्राप्तं, चित्तं मानसं येषां ते ।। ६९ ।।

अर्थ :–जो नयपक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त होकर सदा निवास करते हैं, विकल्पजाल से रहित शान्त चित्त वाले (ऐसे वे) ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं ।। ६९ ।।

अथ बद्धमूढरक्तदुष्टकर्त्रितरादिनयविभागं जेगीयते–

एकस्य बद्धो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७०।।

टीका—एकस्य व्यावहारिकनयस्य पर्यायार्थिकसंज्ञकस्य नयस्याभिप्रायेणाऽऽत्मा बद्धः कर्मभिर्निबद्धस्तथा तेनैव प्रकारेण, परस्य निश्चयनयस्य द्रव्यार्थिकसंज्ञकस्य नयस्याभिप्रायेणाऽऽत्मा न बद्धः कर्मभिरित्यमुना प्रकारेण चिति चिद्रूपे द्वयोरुभयोर्नययोर्द्व्यपर्यायार्थिकयोर्द्वावुभौ पक्षपातावभिनिवेशौ स्तः । यः कश्चित् तत्त्ववेदी परमार्थवेत्ता सन् च्युतपक्षपातो बद्धेतरयोर्नययोः पक्षपातरहितो-भवतीत्याध्याहार्यं । तस्य तत्त्ववेदिनः खल्विति नियमेन । नित्यं निरन्तरं, चिच्चैतन्यं चिदेव ज्ञानस्वरूप-मेवास्ति भवति साक्षात्केवलज्ञानो भवतीति यावत् ।। ७० ।।

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से बँधा हुआ है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से नहीं बँधा है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें

दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूपजीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभवमें आता है।) ॥ ७० ॥

एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७१॥
एकस्य रक्तो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७२॥
एकस्य दुष्टो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७३॥
एकस्य कर्त्ता न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७४॥
एकस्य भोक्ता न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७५॥
एकस्य जीवो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७६॥
एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७७॥
एकस्य हेतुर्न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७८॥
एकस्य कार्यं न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७९॥
एकस्य भावो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥
एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥

एकस्य सान्तो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥
एकस्य नित्यो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥
एकस्य नाना न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥
एकस्य देश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥
एकस्य भातो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥

टीका—पूर्ववद् व्याख्येयानि । मूढ रक्तेतरादि पदपरिवर्तनेन ॥ ७१-८९ ॥

अर्थ :—एक नय का पक्ष है कि जीव मूढ़ (मोही) है और दूसरे नय का पक्ष है कि वह मूढ़ नहीं है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है (अर्थात् चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभव में आता है।) ॥ ७१ ॥

अर्थ :—एक नय का पक्ष है कि जीव रागी है और दूसरे नय का पक्ष है कि वह रागी नहीं है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित हैं उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ७२ ॥

अर्थ:–एक नयका पक्ष है कि जीव द्वेषी है और दूसरे नय का पक्ष है कि वह द्वेषी नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ७३ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव कर्त्ता है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कर्त्ता नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ७४ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव भोक्ता है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भोक्ता नहीं है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ७५ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव जीव है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव जीव नहीं है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ७६ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव सूक्ष्म है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव सूक्ष्म नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ७७ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव हेतु (कारण) है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव हेतु नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ७८ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव कार्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कार्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ७९ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव भाव (भावरूप) है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भाव नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो

पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप-ही है ॥ ८० ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव एक है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव एक नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ८१ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव सान्त (अन्तसहित) है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव सान्त नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ८२ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव नित्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव नित्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ८३ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव वाच्य (वचन से कहे जा सकने योग्य) है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव वाच्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ८४ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव नाना रूप है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव नानारूप नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ८५ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव चेत्य (जानने योग्य) है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव चेत्य नहीं है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ८६ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव दृश्य (देखने योग्य) है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव दृश्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ८७ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव वेद्य (ज्ञान होने योग्य) है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव वेद्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ८८ ॥

अर्थ :–एक नय का पक्ष है कि जीव भात (प्रकाशमान अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष) है, दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भात नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ८९ ॥

अथ नयातिक्रमेण स्वानुभूतिमुपदर्शयति–

स्वेच्छासमुच्छलद-नल्पविकल्पजाला–
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षां ॥
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं ।
स्वं भावमेकमुपया-त्यनुभूतिमात्रम् ॥९०॥

टीका—एकं स्वमात्मीयं, भावं स्वभावमनुभूतिमात्रमनुभवमेव, उपयाति प्राप्नोति। किम्भूतं स्वं ? अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं अन्तोऽभ्यन्तरे, बहिर्बाह्ये यः समरसः साम्यरसः स एव एकोऽद्वितीय आस्वाद्यमानरसस्वभावः स्वरूपं यस्य तत्। किं कृत्वा ? एवमुक्तविंशतिपद्योक्तनयप्रकारेण। कां ? नयपक्षकक्षां नयपक्षाङ्गीकारं व्यतीत्य हित्वा। किम्भूतां ? स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालां स्वेच्छया समुच्छलन्तश्च तेऽनल्पविकल्पाश्च तेषां जालं समूहो यस्यां सा तां। पुनः कथम्भूतां ? महतीं महाप्रसरप्राप्तां ॥ ९० ॥

अर्थ :–इसप्रकार (पक्षपातरहित तत्त्ववेत्ता) स्वेच्छा से बहुत विकल्पों को जन्म देने वाली बड़ी नयपक्षकक्षा (भूमि) को छोड़ करके भीतर और बाहर समता रस रूपी एक रस स्वभाववाले अनुभूतिमात्र एक अपने भावको (स्वरूपको) प्राप्त करता है ॥ ९० ॥

अथ विकल्पजालं धिक् कृत्य स्वरूपं तंतन्यते–

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्।
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ॥
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणम्।
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥

टीका—यस्य चिन्महसो विस्फुरणमेव प्रकाशनमेव, इदं प्रसिद्धं, ममैतदस्याहमित्यादिरूपं, कृत्स्नं समस्तं, इन्द्रजालं महेन्द्रादिशास्त्रप्रणीतविद्यासाहश्यत्वादसद्रूपत्वाच्चेदं सर्वमिन्द्रजालं, तत्क्षणमुदयकालमस्यति निराकरोति। किम्भूतं ? उच्छलदधिकं प्रापयत्। काभिः ? पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ममत्वादिरूपाः विकल्पास्त एव वीचयः कल्लोलाः पुष्कलाः बहुलास्ताश्च ता उच्चलन्त्य ऊर्ध्वं प्राप्नुवन्त्यश्च ता विकल्पवीचयस्ताभिः। तत् प्रसिद्धं, चिन्महश्चित्स्वरूपं धाम अस्मि भवामि ॥ ९१ ॥

अर्थः—विपुल, महान्, चंचल, विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उड़ते हुए इस समस्त इन्द्रजालको जिसका स्फुरणमात्र ही तत्क्षण उड़ा देता है वह चिन्मात्र तेजःपुञ्ज मैं हूँ अर्थात् चैतन्य का अनुभव होने पर समस्त नयों का विकल्परूपी इन्द्र जाल उसी क्षण विलय को प्राप्त होता है-ऐसा चित्प्रकाश मैं हूँ ॥९१॥

अथ समयसारचेतनामाचिन्तयति—

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकं ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ॥९२॥

टीका—चेतये चिन्तयामि ध्यानविषयीकरोमीत्यर्थः। कं ? समयसारं सम्यगयन्ति गच्छन्ति निजगुणपर्यायानिति समयाः पदार्थाः। अथवा समयन्ति जानन्ति स्वरूपमित्यात्मनस्तेषां मध्ये सारः श्रेष्ठस्तं। कथम्भूतं ? अपारं गुणपाररहितं। पुनः कथम्भूतं ? एकमद्वितीयं, कया ? चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतया चिदेव स्वभावो यस्य स चित्स्वभाव आत्मा तस्य भरोऽतिशयः प्रतिक्षणं त्रिलक्षणोपादानलक्षणस्तेन भाविता निष्पादिता भावाभावभावा भूयत इति भाव उत्पादोऽभावः पूर्वपर्यायो भवनं भावो द्रव्यरूपेण ध्रौव्यता द्वन्द्वस्तेषां परमार्थता सत्यता एकार्थता तया। किं कृत्वा ? अपास्य छित्वा, कां ? बन्धपद्धतिं कर्मबन्धश्रेणीं समस्तां निखिलां प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपाम् ॥ ९२ ॥

अर्थः—चित्स्वभाव के पुञ्ज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य किए जाते हैं, ऐसा जिसका परमार्थ स्वरूप है इसलिए जो एक है ऐसे अपार समयसार को मैं समस्त बन्धपद्धति को दूर करके अर्थात् कर्मोदय से होनेवाले सर्व भावों को छोड़कर अनुभव करता हूँ ॥ ९२ ॥

अथ समयसारं पापठीति—

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना ।
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयं ॥
विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान् ।
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत् किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥९३॥

टीका—यः समयस्य पदार्थस्य मध्ये सार उत्कृष्ट आत्मेत्यर्थः । स्वयं परप्रकाशाद्यभावेन । भाति शोभते । नयानां बद्धमूढादीनां पक्षैरङ्गीकारैर्विनाऽन्तरेण, निभृतैर्निश्चलैरेकाग्रतागतैर्योगिभिरास्वाद्यमानो ध्यानविषयीक्रियमाणोऽचलं निश्चलं यथा भवति तथा । अथवाऽविकल्पभावस्य विशेषोऽविकल्पभावं विकल्परहितभावमाक्रामन् स्वीकुर्वन् । पुनः किम्भूतः ? विज्ञानैकरसो विज्ञानस्य विशिष्टबोधस्य, एकरसो यः स पुमान् आत्मा भगवान् ज्ञानी, पुनः किम्भूतः ? पुण्यः प्रशस्तः पवित्रो वा । पुनः कथम्भूतः ? पुराणश्चिरन्तनकालीनः पुरातन इत्यर्थः । अयमात्मा, ज्ञानं बोधोज्ञानव्यतिरेकेण तस्यानुपलभ्यमानत्वात् । अपि पुनरयं दर्शनं सत्तालोचनमात्रं, सम्यक्त्वं वा आत्मैव । अथवा किं बहुना ? विकल्पेन किं साध्यं न किमपि । यत् किञ्चन चारित्रं सौख्यं किञ्चिदेकोऽप्ययमद्वितीय आत्मैवात्मव्यतिरेकेण तेषामनुपलभ्यमानत्वादात्मस्वरूपत्वाच्च स्वरूपस्वरूपिणोरेकत्वात् ॥ ९३ ॥

अर्थः—नय-पक्षों से रहित, अचल निर्विकल्पभाव को प्राप्त होता हुआ जो समयका (आत्मा का) सार प्रकाशित करता है वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा) निभृत (निश्चल, आत्मलीन) पुरुषों के द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है । वह-विज्ञान ही जिसका एक रस है ऐसा भगवान है, पवित्रपुराणपुरुष है, चाहे ज्ञान कहो या दर्शन वह यही (समयसार) है; अधिक क्या कहें ? जो कुछ है सो यह एक ही है (मात्र भिन्न भिन्न नाम से कहा जाता है) ॥ ९३ ॥

अथात्मनो गतानुगततां साधयति—

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो,
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलाद् ।

विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्माहर–
न्नात्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥९४॥

टीका—तदेकरसिनां तस्मिन् आत्मन्येकोऽद्वितीया रसो येषां तेषां योगिनां । अयं प्रसिद्ध आत्मा चिद्रूप आत्मन्येव स्वस्वरूप एव गतानुगततां गमनागमनतामायाति प्राप्नोति । सदा निरन्तरं । आत्मानं स्वस्वरूपमाहरन् स्वीकुर्वन् । पुनः किम्भूतः ? विज्ञानैकरसो विशिष्टबोधैकरसास्वादकः । पुनः किम्भूतः ? च्युतः परिच्युतः सन् । कुतः ? निजौघाद् विज्ञानैकरससमूहात् । क्व ? भूरिविकल्पजालगहने भूरिविकल्पानां जालं समूहस्तदेवगहनं वनमवगाहयितुमशक्यत्वात्तस्मिन् । दूरमात्मस्वरूपादनिकटं यथा भवति तथा । भ्राम्यन् भ्रमणं कुर्वन् । दूरादेव स्वस्वरूपादसमीपत एव । बलाद्धठात् । बहिर्द्रव्यममत्वादिपरित्यागरूपात् । निजौघं विज्ञानैकरससमूहं । नीतः प्राप्तः । कुतः ? विवेकनिम्नगमनाद् विवेकः परात्मनोर्भेदेन विवेचकत्वं स एव निम्नं गभीरं गमनं गतिस्तस्मात् । बहिर्भ्रमन् विकल्पे विवेकवशात् स्वस्वरूपे आयाति । किमिव ? तोयवद् यथा पानीयं स्वस्थाने गतानुगततां करोति । निजौघाच्च्युतं वने भ्राम्यत्, निम्नगमनविशेषनिजस्थानं प्राप्नोतीत्युक्तिलेशः ॥ ९४ ॥

अर्थः—जैसे अपने समूह से च्युत हुए दूर गहन वन में बहने वाले पानी को दूर से ही ढालवाले मार्ग के द्वारा अपने समूह की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाए, तो फिर वह पानी अपने समूह में आ मिलता है, इसी प्रकार यह आत्मा अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत होकर प्रचुर विकल्पजालों के गहनवन में दूर परिभ्रमण कर रहा था उसे दूर से ही विवेकरूपी ढ़ालवाले मार्ग द्वारा अपने विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया; इसलिए केवल विज्ञानघन के ही रसिक पुरुषों को जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभव में आत्मा है ऐसा वह आत्मा, आत्मा को आत्मा में खींचता हुआ (अर्थात् ज्ञान ज्ञानको खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर) सदा विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है ॥ ९४ ॥

अथ विकल्पस्वरूपं विकल्पयति—

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलं ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥९५॥

टीका—परं केवलं विकल्पकः परद्रव्ये ममेदमित्यभिनिवेशो विकल्पः स्वार्थे क प्रत्ययविधानात् । कर्ता कर्मणां कर्तृत्वेन प्रतिभवति । केवलं परं विकल्पः कर्म, भावकर्मणां विकल्पस्वरूपत्वात्

कर्महेतुत्वाद्वा विकल्पस्य कर्मत्वं कारणे कार्योपचाराज्जातु कदाचित्, सविकल्पस्य देहिनः कर्तृकर्मत्वं न नश्यति न निरस्यति ॥ ९५ ॥

अर्थः—विकल्प करने वाला ही केवल कर्त्ता है और केवल विकल्प ही कर्म है (अन्य कोई कर्त्ता कर्म नहीं है।) जो जीव विकल्पसहित है उसका कर्त्ताकर्मपना कभी नष्ट नहीं होता ॥ ९५ ॥

अथ जीवपुद्गलयोः कर्तृवेतृत्वं भिनत्ति—

यः करोति स करोति केवलं, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलं ।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचिद्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥९६॥

टीका - यः पुद्गलः करोति द्रव्यभावनोकर्म विदधाति स पुद्गलः केवलं परं करोति कर्मादि त्वजत्येव । तु पुनः, य आत्मा वेत्ति स्वपरस्वरूपं परिच्छिनत्ति । स आत्मा, केवलं परं वेत्त्येव जानात्येव । तु शब्द एवार्थे । ननु यत्प्रधानं महदादि करोति तदेव वेत्ति न त्वात्मा ।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्ततश्च गणः षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ १ ॥ इति वचनात्

एकस्यैव कर्तृत्ववेतृत्वोपपत्तेः । नत्वात्मनः किञ्चिदुपपन्नं तस्य सकलजगत्साक्षिकत्वादिति चेतन्न तस्याचेतनत्वान्मृदादिवत् अन्यथा पुमान्निष्फलः स्याच्चेतनेतरस्वभावत्वे तस्य चेतनेतरत्व-विभागानुपपत्तिः । अत आत्मनश्चेतनत्वं तस्याचेतनत्वं । हीति यस्मात् कारणाद् । यः पुद्गलः करोति कर्मादिकं । सः पुद्गलः क्वचित् कदाचिन्न वेत्ति न जानाति । तस्य सर्वथाऽचेतनत्वात् । तु पुनः । य आत्मा वेत्ति स आत्मा क्वचिद् देशे कस्मिंश्चित्कालेन करोति कर्मादि, तस्य कर्माकर्तृकत्वात् ॥ ९६ ॥

अर्थः—जो करता है सो मात्र करता ही है और जो जानता है सो मात्र जानता ही है; जो करता है वह कभी जानता नहीं और जो जानता है वह कभी करता नहीं ॥ ९६ ॥

अथ ज्ञप्तिकरोत्योर्भिन्नत्वमुद्भासते—

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ॥

ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ।
ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥९७॥

टीका—हीति स्फुटं, करोतौ कर्तृक्रियायां सत्यां । अन्तोमध्ये ज्ञप्तिर्ज्ञातृता । न भासते न प्रतिभासते । च पुनः । ज्ञप्तौ ज्ञातृतायां प्रतिभासमानायामन्तोऽभ्यन्तरे, करोति आत्मनः कर्तृस्वभावो न भासते न चकास्ति । ततः कारणात् परस्परपरिहारेण व्यवस्थानात् । ज्ञप्तिर्ज्ञातृता । च पुनः । करोति कर्तृता च विभिन्ने पृथक्स्वभावे ततः परस्परं भिन्नस्वभावत्वादिति च स्थितमिति सुप्रतिष्ठं यो ज्ञाता चिद्रूपः स कर्ता न भवेदिति ।। ९७ ।।

अर्थः—करने रूप क्रिया के भीतर जानने रूप क्रिया भासित नहीं होती और जानने रूप क्रिया के भीतर करने रूप क्रिया भासित नहीं होती इसलिए ज्ञप्तिक्रिया और 'करोति' क्रिया दोनों भिन्न हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं है ॥ ९७ ॥

अथ कर्तृकर्मणोः परस्परमैक्यं निराचेक्रीयते—

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि ।
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ॥
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नैपथ्ये बत नानटीति रभसान्मोहस्तथाऽप्येष किम् ॥९८॥

टीका—कर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मरूपपरिणतपुद्गलपर्याये, कर्ता आत्मनः कर्तृत्वं नास्ति न विद्यते । तत् तस्मात् कर्मणि कर्तृत्वाव्यवस्थानात् । नियतं निश्चितं । यदि कर्मणि कर्ता न तर्हि कर्तरि कर्म भविष्यति ? तन्निषेधार्थमाह-कर्माऽपि ज्ञानावरणादिपरिणतपुद्गलपर्यायः । कर्तरि आत्मनि नास्ति न विद्यते । यदि चेत् ? विप्रतिषिध्यते निराक्रियते । किं ? द्वन्द्वं युग्मं कर्तृकर्मरूपं । तदा तर्हि कर्तृकर्मस्थितिः कर्तृकर्मणोरात्मा कर्ता पुद्गलपर्यायः कर्म इति व्यवस्था का नाम ? न काऽपि । इत्यमुना प्रकारेण वस्तुस्थितिर्वस्तुव्यवस्था व्यक्ता स्पष्टा । इति किं ? ज्ञातरि आत्मनि ज्ञाता ज्ञातृस्वभावो नान्यत्र न पुनः कर्तृस्वभावः । सदा निरन्तरं, कर्मणि कर्मपर्यायपरिणतपुद्गले, कर्म कर्मेति व्यपदेशो नान्यत्र ज्ञातरि । बतेति खेदे । परस्परं तयोर्भिन्नत्वे वेदयत्याचार्य एष मोहो ममत्वकारकमोहनीयं कर्म । तथाऽपि परस्परमात्मकर्मणोर्भिन्नत्वेऽपि रभसाच्छीघ्रं । नैपथ्ये निर्गतः पन्था मार्गो यत्र स्थाने तत् निष्पथं तस्य भावो नैष्पथ्यं तस्मिन्मार्गस्थानत्वे इत्यर्थः । किं कथं । नानटीति अतिशयेन नाटयति कर्मकर्तृविकल्पानवकाशे मोहः कथं कर्तृकर्मविकल्पान् कारयतीति यावत् ।। ९८ ।।

अर्थ:—निश्चय से न तो कर्त्ता कर्म में है और न कर्म कर्त्ता में ही है—यदि इस प्रकार परस्पर दोनों का निषेध किया जाए तो कर्त्ता–कर्म की क्या स्थिति होगी ? (अर्थात् जीव पुद्गलके कर्त्ताकर्मपन कदापि नहीं हो सकेगा) इस प्रकार ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है; ऐसी वस्तुस्थिति प्रकट है तथापि अरे ! नेपथ्य में यह मोह क्यों अत्यन्त वेगपूर्वक नाच रहा है ? (इसप्रकार आचार्य को खेद और आश्चर्य होता है ।) ॥ ९८ ॥

अथ ज्ञानज्योतिर्ज्वलीति—

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्माऽपि नैव ।
ज्ञान ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ॥
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै—
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥९९॥

टीका—एतत्प्रत्यक्षं ज्ञानज्योतिर्बोधमहः। तथा तेनैव प्रकारेण । उच्चैरतिशयेन, अन्तोभ्यन्तरे। उपलक्षणाद् बाह्येऽपि ज्वलितं देदीप्यमानं जातं । कुतः ? चिच्छक्तीनां ज्ञानाऽविभागप्रतिच्छेदानां निकरमात्रो निकरो द्विकवारानन्तभावस्तस्यभरोऽतिशयस्तस्मात् । किम्भूतं ? अचलं न चाल्यते यच्छक्तिः परैः पुद्गलादिभिरित्यचलं । पुनः कीदृक्षं ? व्यक्तं स्पष्टं समस्तवस्तुप्रकाशकत्वात् । पुनः कथम्भूतं ? अत्यन्तगम्भीरं अत्यर्थमतलस्पर्शं, ज्ञानशक्तेरनन्तत्वात् । तथेति कथं ? यथा कर्ता पुद्गलः कर्ता कर्मणां निष्पादकः । न भवति न जायतेऽशुद्धं ज्ञानं निमित्तीकृत्य पुद्गलः कर्मणां कर्ता अधुना ज्ञानज्वलनात्तच्छुद्धं जातं तथा । यथा पुद्गलस्य कर्मकर्तृत्वेन निमित्तत्वं । "निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावात्" अपि पुनः कर्म ज्ञानावरणादिकर्मस्वरूपेण नैव निश्चयेन न व्यवतिष्ठते समर्थं विनाशके विनाश्यस्याव्यवस्थानात् प्रकाशे सति तमोवत् । च पुनः, यथा येन प्रकारेण, ज्ञानं कर्मकलङ्ककलङ्कितं ज्ञानं ज्ञानं निर्मलज्ञानं । भवति जायते । अपि पुनः पुद्गलः पुद्गलपरमाणुः पुद्गल एव भवति न कर्मरूपेण परिणमति ॥ ९९ ॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्याध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां द्वितीयोऽङ्कः ॥ २ ॥

अर्थ:—अचल, व्यक्त और चित् शक्तियों के (ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदों के) समूह के भार से अत्यन्त गम्भीर यह ज्ञानज्योति अन्तरंग में उग्रतासे ऐसी जाज्वल्यमान हुई कि आत्मा अज्ञानमें कर्त्ता होता था सो अब वह कर्त्ता नहीं होता और अज्ञानके निमित्त से पुद्गल कर्मरूप होता था सो वह कर्मरूप नहीं होता; ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है तथा पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है ॥ ९९ ॥

अथ पुण्यपापाधिकारः

अथैकमेव द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति–

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो ।
द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ॥
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयम् ।
स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥१००॥

टीकाकारकस्य मङ्गलाचरणम्—

जीयादमृतहिमांशुप्रणीतमध्यात्मविशदपद्यमिदम् ।
शुभचन्द्रदेवविवृत्तं सुकृतचयं कुन्दकुन्दपरम् ॥ १ ॥

टीका—अथ जीवाजीवयोः कर्तृकर्मत्वनिराकरणादनन्तरम् । अयमवबोधसुधाप्लवो ज्ञानामृतपूरः । स्वयं स्वत एव कर्मनिरपेक्षत्वेन । उदयति उदयं प्राप्नोति । किम्भूतः ? ग्लपितनिर्भरमोहरजा ग्लपितं विनाशितं निर्भरं निर्विशेषं भुवनं बिभर्ति धारयतीति निर्भरं समस्तमोहाक्रान्तत्वान्मोह एव रजो धूलिर्येन सः । अन्योऽपि सुधाप्लवो रेणुं ग्लपयतीत्युपमोपमेययोः साम्यं । तत् प्रसिद्धं कर्म । ऐक्यमेकतामुपानयन् कुर्वन् । किम्भूतं ? तत् शुभाशुभभेदतः पुण्यप्रकृतिः शुभायुर्नामगोत्ररूपा । पापप्रकृतिर्घातिचतुष्काशुभायुर्नामगोत्ररूपा तयोर्भेदतः प्रभेदात् । द्वितयतां द्विरूपतां गतं प्राप्तं शुभाशुभभेदेन द्विधाऽपि ज्ञाने भवतः । संसारदायकत्वात् सर्वं कर्मसदृशमित्येकमिति भावः ॥ १०० ॥

अर्थः—कर्त्ताकर्म अधिकार के पश्चात् शुभ और अशुभ के भेद से द्वित्व को प्राप्त कर्म को एकरूप करता हुआ अतिशय मोहरज को दूर कर यह (प्रत्यक्ष-अनुभव गोचर) ज्ञानसुधांशु (सम्यक्ज्ञानरूपी चन्द्रमा) स्वयं उदय को प्राप्त होता है ॥ १०० ॥

अथ शुभाशुभकर्मणोर्दृष्टान्तेनैक्यमुररीकरोति पद्यद्वयेन—

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना–
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ॥

द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः ।
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण । १०१॥

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्नहि कर्मभेदः ।
तद् बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ॥१०२॥

टीका—दृष्टान्तं तावद् वक्ति यथा एकः कश्चित् सदाचरणो मदिरां सुरां । दूरादारात् त्यजति परिहरति । कुतः ? ब्राह्मणत्वाभिमानादेवं "वयं ब्राह्मणाः" ब्राह्मणैस्तु सुरा न पेया" इदृग्विधाभिप्रायस्तस्मात् । अन्यः कश्चिदसदाचरणोऽहं स्वयं शूद्र' इति कृत्वा तया मदिरया । एव निश्चयेन । नित्यं निरन्तरं स्नाति स्नानं करोति, पानस्य का वार्ता ? अतिशयालङ्कारोऽयं । द्वावपि सदसच्चारिणौ एतौ ब्राह्मणशूद्रौ । साक्षात् प्रत्यक्षं । शूद्रौ अवरवर्णौ । शूद्रत्वमेतयोः कथं ? यतो युगपत् सकृत् शूद्रिकायाः शूद्रभार्यायाः उदराज्जठराद् निर्गतौ निष्क्रान्तौ । अथ च अनु च पश्चादित्यर्थः । केन ? जातिभेदभ्रमेण जातेः सन्तानस्य भेदस्तस्य भ्रमो भ्रान्तिस्तेन । एको वेत्त्यहं द्विजः । एको वेत्त्यहं शूद्र इत्यभिप्रायतश्चरन्तौ भिन्नाचारमाचरतः । तथा एक पुद्गलनिष्पन्ने शुभाशुभकर्मणी एकं शुभं स्वर्गादिदायि । अशुभमपरं नरकगत्यादिदायि । पुन उभे बन्धनहेतुके ॥ १०१ ॥

टीका—हीति स्फुटं । कर्मभेदः शुभाशुभप्रकृत्योर्भेदो न । कुतः ? हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां हेतुः कारणं । स्वभावः स्वरूपमनुभवोऽनुभूतिराश्रयोद्वन्द्वस्तेषां । सदाप्यभेदात् शुभाशुभयोः केवलाज्ञानमयहेतुत्वादेकत्वं केवलपुद्गलमयहेतुत्वात् तयोः स्वभावाभेदः शुभोऽशुभो वा । फलपाकः केवलपुद्गलमय इत्यनुभवाभेदः केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वात् तयोरभेद इति चतुर्विधस्वभावाभेदादेक्यं । तत् तस्मात् । चतुर्भिः प्रकारैरेकत्वसंभवाद् । एकं कर्म । इष्टं पूर्वाचार्यैर्मतं कथितमित्यर्थः । स्वयं स्वतः । खल्विति निश्चितं । समस्तं शुभाशुभं कर्म बन्धहेतुश्चतुर्विधबन्धानां कारण हेतुर्गभितविशेषणमिदं । पुनः किम्भूतं ? बन्धमार्गाश्रितं मोक्षबन्धमार्गौ द्वौ तत्र बन्धनदशासमाश्रितम् ॥ १०२ ॥

अर्थः—(शूद्रा के पेट से एक ही साथ जन्मको प्राप्त दो पुत्रों में से एक ब्राह्मण के यहां और दूसरा उसी शूद्रा के यहां पला) उनमें से एक तो "मैं ब्राह्मण हूँ" इस प्रकार ब्राह्मणत्व के अभिमान से दूरसे ही मदिरा का त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता और दूसरा "मैं स्वयं शूद्र हूं" यह मानकर नित्य मदिरा से ही स्नान करता है अर्थात् उसे पवित्र मानता है । यद्यपि वे दोनों शूद्रा के पेट से एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं इसलिये (परमार्थतः) दोनों साक्षात् शूद्र हैं तथापि वे जातिभेद के भ्रमसहित प्रवृत्ति करते हैं । (इसीप्रकार पुण्य और पाप के सम्बन्ध में समझना चाहिये ।) ॥ १०१ ॥

अर्थः—हेतु-स्वभाव-अनुभव और आश्रय इन चारों का सदा ही अभेद होने से कर्म में निश्चय से भेद नहीं है; इसलिये समस्त कर्म स्वयं निश्चयसे बन्धमार्ग के आश्रित हैं और बन्धका कारण हैं अतः कर्म एक ही माना गया है—उसे एक ही मानना योग्य है ॥ १०२ ॥

अथ सर्वस्यापि कर्मणो बन्धहेतुत्वमुशन्ति—

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत् प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

टीका—यद यस्माद्धेतोः उशन्ति वदन्ति प्रतिपादयन्तीत्यर्थः । के ? सर्वविदः सर्वज्ञभट्टारका जिनेन्द्रा इत्यर्थः । किं ? सर्वमपि समस्तमपि, किं ? कर्म । कथम्भूतं ? शुभाशुभं कर्म बन्धसाधनं चतुर्विधकर्मबन्धनकारणं । कुतः ? अविशेषात् शुभाशुभयोः कर्मबन्धनकारणत्वाभेदात् । तेन कारणेन । तत् कर्म । सर्वमपि समस्तमपि शुभाशुभं । प्रतिषिद्धं निराकृतं । तर्हि किमादृतं ? ज्ञानमेव भेदबोध एव । शिवहेतुः शिवस्य मोक्षस्य हेतुः कारणं, विहितं कथितं, परमागमकोविदैः ॥ १०३ ॥

अर्थः—क्योंकि सर्वज्ञदेव समस्त (शुभाशुभ) कर्मको अविशेषतया बन्धका साधन (कारण) कहते हैं इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने) समस्त कर्मका निषेध किया है और ज्ञानको ही मोक्ष का कारण कहा है ॥ १०३ ॥

अथ कर्ममार्गनिराकरणे मोक्षावाप्तिं विचकयति—

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल ।
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ॥
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणम् ।
स्वयं विन्दन्त्येते परममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥

टीका—किलेत्यागमोक्तौ । खल्विति निश्चितं । मुनयो मननमात्रभावतया मुनयो यतीश्वराः । अशरणाः शरण्यपथवर्जिताः न सन्ति न जायन्ते । क्व सति ? सर्वस्मिन् समस्ते । सुकृत-दुरिते शुभाशुभे कर्मणि प्रकृतौ । निषिद्धे निवृत्ते सति । पुनः कथम्भूते ? नैष्कर्म्ये कर्मणो निष्क्रान्तं निष्कर्म तस्य भावो नैष्कर्म्यं तस्मिन् प्रवृत्ते कर्मातीते पथि विजृम्भिते सति । हीति व्यक्तं । तदा कर्मरोधादिसमये । एषां योगिनां । ज्ञानं भेदबोध एव शरणमाश्रयः । किम्भूतं ज्ञानं ? ज्ञाने चेतनास्वभावे । प्रतिचरितं प्रवृत्तं व्यापृतमित्यर्थः । एते योगिनः । स्वयं प्रयासमन्तरेण । विन्दन्ति

लभन्ते । किं ? परममुत्कृष्टं परा उत्कृष्टा मा ज्ञानाद्यतिशयलक्षणा लक्ष्मीर्यत्र तत्परममिति सा एव अमृतमपवर्गं । किम्भूताः सन्तः ? तत्र तस्मिन् ज्ञाते वेति ज्ञाने इति पदमत्र ग्राह्यं । निरता निःशेषमासक्ताः सन्तः ॥ १०४ ॥

अर्थः—शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म-ऐसे समस्त कर्मोंका निषेध कर देने पर निष्कर्म अवस्था में प्रवर्तमान मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं; क्योंकि जब निष्कर्म अवस्था (निवृत्ति अवस्था) प्रवर्तमान होती है तब ज्ञानमें आचरण करता हुआ—रमण करता हुआ-परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनियों को शरण है; वे उस ज्ञानमें लीन होते हुए परम अमृतका स्वयं अनुभव करते हैं—स्वाद लेते हैं ॥१०४॥

अथ ज्ञानस्य शिवहेतुत्वं विध्यापयति—

यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनम् ।
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ॥
अतोऽन्यद् बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत् ।
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितं ॥ १०५ ॥

टीका—ध्रुवं निश्चितं । यद् यस्मात्कारणाद् । एतत् प्रसिद्धं । शिवस्य सर्वकल्याणरूपस्य मोक्षस्य भवनं गृहं स्थानमिति यावत् । किम्भूतं ? अचलं निश्चलमनन्तकालस्थायित्वात् । स इत्यध्याहारः । ज्ञानात्मा ज्ञानमयात्मा । आभाति चकास्ति शोभते । अपि पुनः । यतः यस्माद्धेतोः । अयं ज्ञानात्मा । स्वयं स्वभावतः । हेतुः शिवस्य कारणं । तत् तस्मात् । स्वयं शिवात्मकत्वात् शिवहेतुत्वाच्च शिव इति कीर्तितः । तथाऽज्ञानमभिधत्ते । यतो यस्माद्धेतोः । अतो ज्ञानात्मनः अन्यद् भिन्नमज्ञानात्मा । बन्धस्य कर्मबन्धस्य भवनमाभाति । अपि पुनः । स्वयं स्वतः । बन्धस्य हेतुरपि भवतीदं तत् तस्माद् बन्धात्मकत्वाद् बन्धहेतुत्वाच्च बन्ध इत्यज्ञानात्मा बन्ध इति कीर्तितः । हीति स्फुटं । ततस्तस्मात्कारणात् । स्वं स्वकीयं भवनं प्रवर्तनं ज्ञानात्मज्ञानस्वरूपं । विहितं प्रतिपादितं । परमार्थपण्डितैः । किम्भूतं ? अनुभूतिः स्वस्यानुभवनमनुभूतिः । अजहल्लिङ्गवृत्तित्वात्पुल्लिङ्गे ॥ १०५ ॥

अर्थ :—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप से और अचलरूप से ज्ञानस्वरूप होता हुआ—परिणमता हुआ भासित होता है, वही मोक्षका हेतु है, क्योंकि वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है, उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है वह बन्ध का हेतु है क्योंकि वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है । इसलिए ज्ञानस्वरूप परिणमित होने का अर्थात् अनुभूति करने का ही विधान है ॥१०५॥

अथ ज्ञानस्य वृत्तत्वमनुवर्ण्यते—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान् मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥

टीका—सदा निरन्तरं । वृत्तं चारित्रं । ज्ञानस्वभावेन रागादिपरिहरणलक्षणबोधस्वरूपेण । ज्ञानस्य भेदबोधस्य । आत्मनो वा भवनं प्रवर्तनमवस्थानं वा । स्वात्मनि स्थितिः चारित्रमिति वचनात् ॥ ननु ज्ञानचारित्रयोरेकत्वं कथं तयोः परस्परं भिन्नत्वादिति चेत् ? सत्यमेकद्रव्यस्वभावत्वादेकद्रव्यमात्मद्रव्यं । ज्ञानचारित्रयोस्तस्य स्वभावत्वात् । ज्ञानभवनं तत्स्वभावेन भवनात् । ज्ञानपूर्वकत्वाच्च तस्य । तत् तस्माद्धेतोः । तदेव निश्चयचारित्रमेव । मोक्षहेतुर्मोक्षकारणं नान्यत् ॥ १०६ ॥

अर्थ :—ज्ञान एकद्रव्यस्वभावी (जीवस्वभावी) होने से ज्ञानके स्वभावसे सदा ज्ञान ही चारित्ररूप बनता है इसलिए ज्ञान ही मोक्षका कारण है ॥ १०६ ॥

अथान्याभिमतक्रियाकाण्डस्य वृत्तत्वं निरुणद्धि—

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान् मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

टीका—कर्मस्वभावेन व्रततप प्रभृति कर्म क्रियाकाण्डं । तत्स्वभावेन वृत्तं चारित्रं । ज्ञानस्य बोधस्य भवनं प्रवर्तनमनुचरणं न भवेत् । ज्ञानभवनस्याभवनात् । कुतो द्रव्यान्तरस्वभावत्वाद् द्रव्यान्तरस्यात्मद्रव्यादन्यद्रव्यस्य स्वभावः स्वरूपं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । तत् क्रियाकाण्डं कर्म आचरणं मोक्षहेतुर्मोक्षस्य हेतुः कारणं न भवेत् ॥ १०७ ॥

अर्थ :—कर्म अन्यद्रव्यस्वभावी होने से कर्म के स्वभावसे ज्ञान का चारित्ररूप नहीं बनता इसलिए कर्म मोक्षका कारण नहीं है ॥ १०७ ॥

अथ क्रियाकाण्डस्य मोक्षहेतुत्वं कुतो नेति जंजल्प्यते—

मोक्षहेतुतिरोधानाद् बन्धत्वात् स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात् तन्निषिध्यते ॥ १०८ ॥

टीका—तत् क्रियाकाण्डं । निषिध्यते निवार्यते । कुतः ? मोक्षहेतुतिरोधानात् मोक्षस्य मुक्तेर्हेतुः कारणं स्वात्मध्यानादि तस्य तिरोधानमपवारणं तस्मात् । क्रियाकाण्डपरिणतस्य ध्यानानवकाशात् । स्वयमेव स्वत एव बन्धत्वात् कर्मबन्धस्वभावत्वात् । च पुनः । मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात् मोक्षस्य

हेतुः कारणं शुद्धध्यानादिस्तस्यतिरोभावं दधातीत्येवं शीलो भावः स्वभावो यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । शुभकर्मकारकपरिणामाविर्भावात् ॥ १०८ ॥

अर्थ :–कर्म मोक्षके कारणों का तिरोधान करने वाला है और वह स्वयं ही बन्धस्वरूप है तथा मोक्षके कारणों का तिरोधायिभावस्वरूप (तिरोधानकर्त्ता) है इसलिए उसका निषेध किया गया है ॥ १०८ ॥

अथ समस्तामपि कर्मतितिक्षां संलक्षयति—

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना ।
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन् ।
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥

टीका—तदिदं प्रसिद्धं । समस्तमपि निखिलमपि कर्म ज्ञानावरणादिप्रकृतिः । संन्यस्तव्यं त्याज्यमेव निश्चयेन । केन ? मोक्षार्थिना कर्मणां मोचनं मोक्षः स एवार्थः प्रयोजनं पदार्थो वा यस्य स तेन । किलेत्यागमोक्तौ । पुण्यस्य शुभकर्मणः का कथा का वार्ता ? न काऽपि । वा अथवा पापस्य अशुभकर्मणः का वार्ता ? । क्व सति ? तत्र कर्मणि संन्यस्ते त्यक्ते सति । पुनस्तथा सति ज्ञानं भेदबोधः । स्वयं स्वतो धावति शुद्धचति शुद्धं भवति उल्लसति वा "धावु गतिशुद्धचोरेतस्य धातोः प्रयोगः ।" किम्भूतं ? उद्धतरसं उत्कटस्वभावं । पुनः किम्भूतं ? नैष्कर्म्यप्रतिबद्धं नैष्कर्म्येण कर्मातीतत्वेन प्रतिबद्धं संबद्धं । पुनः कथम्भूतं ? मोक्षस्य हेतुर्भवन् मोक्षस्य मुक्तेर्हेतुः कारणं भवन् जायमानम् । कुतः ? सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनात् सम्यक्त्वं तत्त्वश्रद्धानमादिशब्दाज्ज्ञानचारित्रादि स एव निज-स्वभाव आत्मस्वरूपं तेन भवनमात्मस्वरूपेण जायमानत्वमित्यर्थस्तस्मात् ॥ १०९ ॥

अर्थ :–मोक्षार्थी को समस्त कर्म ही त्याग करने योग्य है । जहाँ समस्त कर्मों का त्याग किया जाता है फिर वहाँ पुण्य या पापकी क्या बात है ? समस्त कर्म का त्याग होने पर सम्यक्त्वादि अपने स्वभावरूप होने से–परिणमन करने से मोक्ष का कारणभूत होता हुआ, निष्कर्म अवस्थाके साथ जिसका उद्धत (उत्कट) रस प्रतिबद्ध है ऐसा ज्ञान अपने आप दौड़ा चला आता है ॥ १०९ ॥

अथ कर्मणामभावे ज्ञानभाव इति प्ररूपयति—

यावत् पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा ।
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित् क्षतिः ॥

किं त्ववापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन् ।
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

टीका—यावत्पर्यन्तं सा प्रसिद्धा कर्मविरतिः कर्मणां विरतिर्विरमणं । सम्यग् यथोक्तं । पाकं परिपूर्णतां नोपैति न याति । तावत् पर्यन्तं कर्मज्ञानसमुच्चयः कर्म च ज्ञानं च कर्मज्ञाने तयोः समुच्चयः समुदायः । विहितः कथितः । अपि पुनः । तावज्ज्ञानकर्ममेलापकपर्यन्तं काचित् क्षतिः कर्मणां क्षयो न भवेत् । अपि पुनः । किमु विशेषोऽस्ति ? अत्र कर्मज्ञानसमुच्चयोर्मध्ये यत् कर्म तदवशतोऽवश्यंभावाद् बन्धाय कर्मबन्धनकृते समुल्लसति समुल्लासं गच्छति विजृम्भत इति यावत् । पुनरत्रापि यदा एकमेव कर्मनिरपेक्षं केवलं यज्ज्ञानं बोधस्तत् । मोक्षाय मुक्तये स्थितं प्रतिष्ठं । किम्भूतं ? परममुत्कृष्टं । स्वतः स्वभावेन । विमुक्तं कर्मभिरपोढं ॥ ११० ॥

अर्थ :—जब तक ज्ञानकी कर्मविरति भलीभांति परिपूर्णताको प्राप्त नहीं होती तब तक कर्म और ज्ञानका एकत्रपना शास्त्रमें कहा है, उसके एकत्र रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है । किन्तु यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मा में अवशपने जो कर्म प्रकट होता है, वह तो बन्ध का कारण है और जो एक परमज्ञान है वह एक ही मोक्ष का कारण है जो कि स्वतः विमुक्त है (अर्थात् तीनों काल परद्रव्य-भावों से भिन्न है ।) ॥ ११० ॥

अथ नयावलम्बित्वमुपशाम्यति—

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये ।
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि सततं स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ॥
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं ।
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१११॥

टीका—मग्ना भवार्णवे निमग्नाः । के ? कर्मनयावलम्बनपराः कर्म व्रततपश्चरणादिक्रियाकाण्डं तदेव नयः पक्षः कर्मणैव मोक्षसाध्यत्वादिति पक्षस्तस्यावलम्बनमङ्गीकारस्तत्र परास्तत्पराः सावधानाः क्रियावादिन इत्यर्थस्तथा चोक्तम् ।

क्रियाश्च शतघाशीतिश्चतस्रोऽशीतिरक्रियाः ।
अज्ञानाः सप्तषष्टिश्च द्वात्रिंशद्विनयाश्रिताः ॥ १ ॥ इति ।

कुतः ? यद् यस्माद्धेतोः । ते ज्ञानं भेदबोधं न जानन्ति न विदन्ति । अपि पुनः ? ज्ञाननयैषिणः ज्ञानं बोधस्तदेव नयो ज्ञानव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति । यथा इष्टं चरेत् तिष्ठेदित्यादिदर्शनाद्धेतवादिपक्षः । ज्ञाने सति साध्यसिद्धिर्न तु तत्र ध्यानमिति वा पक्षस्तमिच्छन्तीत्येवं शीलाः ज्ञाननयैषिणो मग्ना भवार्णवे । कुतः ? यद यस्माद्धेतोः । कथम्भूताः ? स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः स्वच्छन्देन स्वेच्छाचारेण प्रमादमान्द्यकरणे मन्द उद्यम उद्योगो येषां ते स्वं ज्ञात्वा ध्याने मन्दा इत्यर्थः । तर्हि के उन्मग्नाः ? ते पुरुषा विश्वस्य जगत उपरि तरन्ति जगदतिशायिनो भवन्तीति तात्पर्यं । ते के ? ये पुरुषाः । जातु कदाचित् । कर्मक्रियाकाण्डं न कुर्वन्ति न विदधति । किम्भूताः सन्तः ? स्वयं कालक्षेत्रादिनिरपेक्षत्वेन । कदा ? सततं प्रतिक्षणं । ज्ञानं भेदविज्ञानं । भवन्तोऽनुभवन्तो बोधमया जायमाना वा । च पुनः । वशमधीनत्वं न यान्ति न प्राप्नुवन्ति । कस्य प्रमादस्य सदा ज्ञानानुभवनं कर्मप्रमादपरिहरणं मोक्षार्थिन उक्तम् ॥ १११ ॥

अर्थ :—कर्मनय के आलम्बन में तत्पर पुरुष डूबे हुए हैं क्योंकि वे ज्ञानको नहीं जानते । ज्ञाननयके इच्छुक पुरुष भी डूबे हुए हैं क्योंकि वे स्वच्छन्दता से अत्यन्त मन्द उद्यमी हैं—(वे स्वरूपप्राप्तिका पुरुषार्थ नहीं करते, प्रमादी हैं और विषयकषाय में वर्तते हैं) । वे ही जीव विश्वके ऊपर तैरते हैं जो कि स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए-परिणमते हुए कर्म नहीं करते और कभी भी प्रमादके वशीभूत भी नहीं होते (स्वरूपमें उद्यमी रहते हैं) ॥ १११ ॥

अथ ज्ञानज्योतिषो विजृम्भणं वंभणीति—

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत् पीतमोहं ।
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ॥
हेलोन्मीलत् परमकलया सार्धमारब्धकेलि ।
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥११२॥

टीका—भरेण अतिशयेन । ज्ञानज्योतिः समस्ताखण्डज्ञानज्योतिः प्रोज्जजृम्भे रूपकाऽलङ्कारोऽयं । पुनः हेलोन्मीलत् हेलया लीलया उन्मीलदुत्प्रकटयत् । पुनः कथम्भूतं ? आरब्धकेलि आरब्धा प्रारम्भविषयीकृता केलि क्रीड़ा येन तत् । सार्धं सम । कया ? परमकलया परमा उत्कृष्टा चासौ कला च दर्शनाद्यंशः मुक्तिकला वा तया । किं कृत्वा ? बलेन हठात्कारेण । ध्यानलक्षणेन सकलमपि समस्तमपि प्रकृत्यादिचतुःस्वभावमपि । तत् प्रसिद्धं कर्म ज्ञानावरणादिप्रकृतिः । मूलोन्मूलनं मूलेन बुध्नेन उन्मूलं मूलतलनाशं कृत्वा । किम्भूतं ? भेदोन्मादं भेदेन पुण्यपापविशेषेण उन्मादमुन्मत्तं । पुनः

किम्भूतं ? पीतमोहं नाटयत् पीतः पानविषयीकृतो मोहो मोहनीयं कर्म येन पुरुषेण तं प्राणिनं नाटयत् भवरङ्गावनौ मनुष्यतिर्यगादिविशेषेण नृत्यं कारयत् । कुतः ? भ्रमरसभरात् ममेदमहमस्येत्यादि भ्रान्तिरसवेगात् । अन्योऽपि नटो भ्रमणादिरसादपरं नाटयतीत्युक्तिलेशः ॥ ११२ ॥

अर्थ :–मोहरूपी मदिरा के पीने से भ्रम रस के भार से शुभाशुभ कर्म के भेदरूपी उन्माद को जो नचाता है ऐसे समस्त कर्म को अपने बल द्वारा समूल उखाड़कर अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञानज्योति प्रकट हुई । वह ज्ञानज्योति ऐसी है कि जिसने अज्ञानरूपी अन्धकारका ग्रास कर लिया है अर्थात् जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर दिया है, जो लीलामात्रसे (सहजपुरुषार्थ से) विकसित होती जाती है और जिसने परमकला अर्थात् केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है (जब तक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है तब तक ज्ञानज्योति केवलज्ञान के साथ शुद्धनय के बलसे परोक्ष क्रीड़ा करती है, केवलज्ञान होने पर साक्षात् होती है–ऐसी वह ज्ञानज्योति है ॥ ११२ ॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिणीनामधेयस्य व्याख्यायां
पुण्यपापैकत्वनिरूपकस्तृतीयोङ्कः ॥ ३ ॥

अथास्रवाधिकारः

अथास्रवमाश्रयति–

अथ महामदनिर्भरमन्थरं समररङ्गपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥११३॥

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम्–

शुभचन्द्रामृतचन्द्रो[1] भिनत्ति यत्तामसं सुतत्त्वेषु ।
पुण्येतरेषु च तद्धि न भिद्यते दीपचन्द्रार्कैः ॥ १ ॥

टीका—अथ पुण्यपापतत्त्वकथनानन्तरमयं प्रसिद्धोदुर्जयबोधधनुर्धरः दुः दुःखेन जीयत इति दुर्जयः स चासौ बोधश्च ज्ञानं च स एव धनुर्धरो धानुष्कः । जयति सर्वोत्कृष्टं वर्तत इत्यर्थः । कं ?

१ शुभं– प्रशस्तं पुण्यादि चन्द्रयति–आह्लादयति इति शुभचन्द्रः स चासौ अमृतचन्द्रश्च इति व्याख्यानं विधेयं ।

आस्रवं आस्रवति कर्म येन स आस्रवस्तं निराकरोतीत्यर्थः। किम्भूतः? उदारगभीरमहोदयः उदार उत्कटः स चासौ गभीरश्च अलब्धमध्यो महानुदयो यस्य सः। कथम्भूतं तं? महामदनिर्भरमन्थरं महांश्चासौ मदश्चाहङ्कारस्तस्य निर्भरोऽतिशयस्तेन मन्थरो मेदुरस्तं। पुनः कीदृशं? समररङ्गपरागतम् समरः संग्रामस्तस्य रङ्गोऽङ्गणं तत्रागतः समुपस्थितस्तं ज्ञानपराभवार्थमुद्युक्तमित्यर्थः ॥११३॥

अर्थ :–अब समरांगण में आये हुए महामदसे भरे हुए मदोन्मत्त आस्रवको यह दुर्जयज्ञान धनुर्धर जीत लेता है, जिसका (ज्ञानरूपी बाणावली का) महान् उदय उदार है (अर्थात् आस्रवको जीतने के लिए जितना पुरुषार्थ चाहिये उतना वह पूरा करता है) और गम्भीर है (अर्थात् छद्मस्थ जीव जिसका पार नहीं पा सकते) ॥ ११३ ॥

अथ ज्ञाननिर्वृत्तं भावं समुत्साहयति–

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याज्ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघानेषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥११४॥

टीका—एष कथ्यमानोऽभावः स्याद् भवेत्। केषां? सर्वभावास्रवाणाम् सर्वे च ते भावास्रवाश्च रागद्वेषमोहाद्यास्तेषां। एष कः? य, एव निश्चयेन। जीवस्य प्राणिनो ज्ञाननिर्वृत्तः ज्ञानमयो भावश्चित्परिणामो रागद्वेषमोहै रागा रतिर्द्वेषोऽरतिर्मोहो ममत्वं द्वन्द्वस्तैः विना अन्तरेण। किं कुर्वन्? रुन्धन् निवारयन्। कान्? सर्वान् समस्तान्। द्रव्यकर्मास्रवौघान् द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामास्रवौघान् मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगसमूहान्। रागद्वेषमोहानामिह स्वपरिणामनिमित्तत्वादजड़त्वे सति चिदाभासत्वाद् भावास्रवत्वं। मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानां पुद्गलपरिणामानां ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वाद् द्रव्यास्रवत्वं ॥ ११४ ॥

अर्थ :–जीव का जो रागद्वेषमोहरहित ज्ञान से ही रचित भाव है और जो सर्व द्रव्यकर्मके आस्रव समूहको (अर्थात् थोकबंध द्रव्यकर्म के प्रवाहको) रोकनेवाला है, वह (ज्ञानमय) भाव सर्व भावास्रव के अभावस्वरूप है ॥ ११४ ॥

अथ ज्ञानिनो निरास्रवत्वं श्रद्दधीति–

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥

टीका—अयं ज्ञानी भेदज्ञो निरास्रव एव द्रव्यभावास्रवेभ्यो निवृत्त एव । एकोऽद्वितीयो ज्ञायकः । किम्भूतः ? सदा नित्यं ज्ञानमयैकभावो ज्ञानेन निर्वृत्तो ज्ञानमयः, स एव एको भावः स्वभावो यस्य सः । किम्भूतः भावास्रवाभावं भावास्रवाणां रागद्वेषादीनामभावं प्रपन्नः प्राप्तो यावत्पर्यन्तं रागद्वेषास्तावन्नज्ञायकत्वमतो ज्ञायकत्वे सति रागद्वेषलक्षणभावास्रवाभावः । पुनस्तत एव स्वभावत एव । द्रव्यास्रवेभ्यो मिथ्यात्वादिभ्यो भिन्नः पृथग्भूतः । ये पूर्वमज्ञानेन मिथ्यात्वादयो द्रव्यास्रवा बद्धास्ते ज्ञानिनो द्रव्यान्तरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् । पृथ्वीसमा अचेतनास्ते तु स्वतः कार्मणशरीरेणैव सम्बद्धा न त्वात्मना । अतः सिद्धः स्वभावतो ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावः । बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावान्निरास्रव एव ॥ ११५ ॥

अर्थ :—भावास्रवों के अभावको प्राप्त और स्वभाव से ही द्रव्यास्रवों से भिन्न ज्ञानी जो सदा एक ज्ञानमय भाववाला है, निरास्रव ही है—मात्र एक ज्ञायक ही है ॥ ११५ ॥

अथ ज्ञानिनो निरास्रवत्वं नियम्यते—

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयम् ।
बारम्बारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ॥
उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव—
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

टीका—हीति व्यक्तम् । आत्मा चिद्रूपः । यदा यस्मिन् काले । नित्यं निरास्रवोऽनिशं निरन्तरमास्रवभावातीतः । भवति जायते । तदा तस्मिन् समये । ज्ञानी सकलवस्तुपरिच्छेदकज्ञानयुक्तः । स्याद् भवेत् । ननु संसारदशायां कथं निरास्रवत्वमिति चेद् ? अनिशं नित्यं स्वयं कर्तृत्वेन । समग्रं समस्तं । रागद्वेषमोहग्रामं भावास्रवं । संन्यस्यन् त्यजन् परिहरन् । निजबुद्धिपूर्वं स्वबुद्धिपूर्वकं स्वाभिप्रायपूर्वकं रागं त्यजन्नित्यर्थः । अपि पुनस्तं द्रव्यरूपमिथ्यात्वाद्यास्रवमबुद्धिपूर्वं पूर्वनिबद्धाचेतनास्रवं स्वाभिप्रायातिरिक्तं । सूक्ष्ममज्ञानस्वरूपमकषायिणामास्रवसदृक्षं वा अबुद्धिपूर्वं बारम्बारं पुनः पुनो जेतुं जयार्थं नाशार्थमित्यर्थः स्वशक्तिं स्वस्यात्मनशक्तिं । सामर्थ्यं स्पृशन् स्वसात्कुर्वन् । पुनः किं कुर्वन् ? उच्छिन्दन् उद्भिन्दन् समूलं कर्षन्नित्यर्थः । कां ? परवृत्तिं परेषु आत्मव्यतिरिक्तपदार्थेषु वृत्तिः प्रवर्तना तां । तत्रानुचरणमिति भावः । सकलां समस्तां । एव निश्चयेन । पुनः पूर्णः परिपूर्णः समग्र इत्यर्थः । भवन् जायमानो भावः । कस्य ? ज्ञानस्य वस्तुविशेषग्राहकस्य ॥ ११६ ॥

अर्थ :—आत्मा जब ज्ञानी होता है तब स्वयं अपनी बुद्धिपूर्वक समस्त राग को निरन्तर छोड़ता हुआ अर्थात् न करता हुआ और जो अबुद्धिपूर्वक राग है उसे भी

जीतने के लिए बारम्बार ज्ञानानुभवनरूप स्वशक्तिको स्पर्श करता हुआ और (इस प्रकार) समस्त परवृत्तिको परपरिणति को उखाड़ता हुआ, ज्ञान के पूर्णभावरूप होता हुआ वास्तव में सदा निरास्रव है ॥ ११६ ॥

अथ ज्ञानिनो द्रव्यप्रत्यये सति न निरास्रवत्वमितिपूर्वपक्षपूर्वकं पद्यद्वयेन प्रत्युत्तरयति–

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥११७॥

टीका—ननु ज्ञानी भेदज्ञः । नित्यं निरास्रव आस्रवरहितः कुतः ? न कुतोऽपि । क्व सत्यां ? सर्वस्यां समस्तायामपि । द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ द्रव्यप्रत्ययानां पुद्गलरूपनिबद्धमिथ्यात्वादीनां, सन्ततिः सन्तानं तस्यां जीवन्त्यां विद्यमानायां सत्यामेव । अथ तदा तदुदयाभावान्निरास्रव इति भण्यते । तदप्यसत् । यतः सदवस्थायां पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत् विपाकावस्थायामुपभोग्यत्वादुपभोग्यप्रायोग्यं पुद्गलकर्म प्राप्तयौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवदिति न निरास्रवत्वमिति चेत् ते मतिर्मनीषा ॥ ११७ ॥

अर्थ :–'ज्ञानी के समस्त द्रव्यास्रव की संतति विद्यमान होने पर भी यह क्यों कहा गया है कि ज्ञानी सदा ही निरास्रव है ?' यदि तेरी ऐसी मति (आशंका) है तो अब उसका उत्तर कहा जाता है ॥ ११७ ॥

तत्रोत्तरयति–

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः,
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा–
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥११८॥

टीका—हि स्फुटं । यद्यपि ज्ञानिनः पुंसः । द्रव्यरूपाः पुद्गलकर्मरूपमिथ्यात्वादयः । पूर्वबद्धाः पूर्वरागद्वेषादिभिर्बद्धा निबद्धाः आत्मसात् कृता इत्यर्थः । प्रत्यया उत्तरकर्मबन्धकारणानि सत्तामस्तित्वं न विजहति न त्यजति । कं ? समयमुदयकालमनुसरन्त आश्रयन्तः उदयमागच्छन्त इत्यर्थः । तदपि तथापि । जातु कदाचित् । कर्मबन्धः कर्मणां बन्धो न अवतरत्यवतारं न प्राप्नोति न भवतीत्यर्थः । कस्य ? ज्ञानिनः । कुतः ? सकलरागद्वेषमोहव्युदासात् सकलाः समस्तास्ते च ते रागद्वेष-

मोहाश्च तेषां व्युदासः परित्यागस्तस्मात् । रागद्वेषमोहानामास्रवभावानामभावे द्रव्यप्रत्ययानामबन्ध-हेतुत्वात् । कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात् ॥ ११८ ॥

अर्थ :—यद्यपि अपने अपने समयका अनुसरण करने वाले (अपने अपने समयमें उदयमें आने वाले) पूर्वबद्ध (पहले अज्ञान अवस्था में बँधे हुए) द्रव्यरूप प्रत्यय अपनी सत्ता को नहीं छोड़ते (वे सत्ता में रहते हैं), तथापि सर्वरागद्वेषमोहका अभाव होने से ज्ञानीके कर्मबन्ध कदापि अवतार नहीं धरता—नहीं होते ॥ ११८ ॥

अथ पुनर्बन्धाभावो विभाव्यते—

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः ।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥११९॥

टीका—ततः तस्माद्धेतोः । एव निश्चयेन । अस्य ज्ञानिनो मुनेर्बन्धः कर्मणां बन्धो न । कुतः ? यद् यस्मात्कारणात् । ज्ञानिनो ज्ञानमात्मज्ञानं विद्यते यस्यासौ तस्य । असंभवो न संभवः । केषां ? रागद्वेषविमोहानां रागश्च द्वेषश्च विमोहश्च रागद्वेषविमोहास्तेषां । ननु तेषामभावे कथं बन्धाभावो, हीति यस्मात्, ते रागद्वेषादयः । बन्धस्य कर्मबन्धस्य । कारणं हेतुः । हेतुत्वाभावे हेतुमद-भावस्य सुप्रसिद्धत्वात् ॥ ११९ ॥

अर्थ :—क्योंकि ज्ञानियों के रागद्वेषमोह का (होना) असम्भव है इसलिए उनके बन्ध नहीं है; कारण कि वे (रागद्वेषमोह) ही बन्ध के कारण हैं ॥ ११९ ॥

अथ बन्धविधुरत्वं विधीयते—

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिन्ह-
मेकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते ॥
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः ।
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥१२०॥

टीका ते योगिनः । समयस्य पदार्थस्य सिद्धान्तस्य वा । सारमात्मानं । पश्यन्ति ईक्षन्ते । कथम्भूतं ? बन्धविधुरं बन्धैः प्रकृतिस्थित्यादिकर्मबन्धैर्विधुरं रहितं बन्धशून्यमित्यर्थः । किम्भूताः ? रागादिमुक्तमनसा रागद्वेषमोहैर्मुक्तानि रहितानि मनांसि चेतांसि येषां ते । भवन्तो जायमानाः सन्तः । सतत निरन्तरं । ते के ? ये पुरुषाः सदा नित्यं । एव निश्चयेन । कलयन्ति कलनां कुर्वन्ति धारयन्ती-त्यर्थः । किं ? एकाग्र्यमेकाग्रतामात्मना सह एकता तां । किं कृत्वा ? अध्यास्याऽऽश्रित्याङ्गीकृत्य

ध्यात्वेत्यर्थः । कं ? शुद्धनयं शुद्धं कर्मकलङ्करहितं स्वरूपं नयति प्राप्नोति शुद्धनय आत्मा तं । अथवा शुद्धद्रव्यार्थिकनयमाश्रित्य । किंभूतं ? उद्धतबोधचिन्हं उद्धतः । कर्मविनाशकत्वात् स चासौ बोधो ज्ञानं च स एव चिन्हं लक्षणं यस्य स तं ॥ १२० ॥

अर्थः—उद्धत ज्ञान (जो किसीके दबाए दब नहीं सकता ऐसा उन्नत ज्ञान) जिसका लक्षण है ऐसे शुद्धनयमें रहकर अर्थात् शुद्धनय का आश्रय लेकर जो सदैव एकाग्रता का अभ्यास करते हैं, वे निरन्तर रागादि से रहित चित्तवाले वर्तते हुए बन्धरहित समय के सार को (अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को) देखते हैं–अनुभव करते हैं ॥ १२० ॥

अथ बन्धत्वमनुबध्नाति–

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु ।
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः ॥
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध–
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥१२१॥

टीका—इह जगति । ते प्राणिनः । कर्मबन्धं बिभ्रति दधते । किम्भूताः ? विमुक्तबोधाः विमुक्तो बोधो ज्ञानं यैस्ते बोधाद्विमुक्ता इति वा । "कृति समासे क्वचित्पूर्वनिपातः" किम्भूतं तं ? कृतविचित्रविकल्पजालं विचित्राः शुभाशुभरूपास्ते च ते विकल्पाश्च तेषां जालं समूहः कृतं निष्पादितं विचित्रविकल्पजालं येन तं । कैः ? पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैरनादिनिबद्धपूर्वमिथ्यात्वादिद्रव्यास्रवैः । ते के ? ये त्विति विशेषः । ये पुरुषाः । रागादियोगं रागद्वेषादीनां योगं संयोगमुपयान्ति प्राप्नुवन्ति । पुनरेव पूर्वज्ञानावस्थानात् पश्चादेव, शुद्धनयतः शुद्धस्वरूपात्मनः प्रच्युत्य च्युत्वा ॥ १२१ ॥

अर्थ :–जगत में जो शुद्धनय से च्युत होकर पुनः रागादिके सम्बन्धको प्राप्त होते हैं ऐसे जीव जिन्होंने ज्ञान को छोड़ा है ऐसे होते हुए पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव के द्वारा कर्मबन्ध को धारण करते हैं । (कर्मों को बांधते हैं) यह कर्मबन्ध अनेक प्रकारके विकल्प जालको करता है ॥ १२१ ॥

अथ बन्धाबन्धयोस्तात्पर्यं पंफुल्यते–

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि ।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद् बन्ध एव हि ॥१२२॥

टीका—अत्र बन्धावन्धविचारणे। इदमेव वक्ष्यमाणलक्षणमेव। तात्पर्यं रहस्यं। इदं किं? हीति यस्मात्। शुद्धनयः शुद्धात्मा शुद्धद्रव्यार्थिको वा। न हेयो न त्याज्यो हितार्थिभिः। बन्धः कर्मबन्धो नास्ति न जायते। कुतः? तदत्यागात् तस्य शुद्धनयस्याऽत्यागोऽत्यजनं तस्मात्। हि पुनः बन्ध एव कर्मबन्धो भवत्येव। कुतः? तत्त्यागात् तस्य शुद्धनयस्य त्यागस्त्यजनं तस्मात्॥ १२२॥

अर्थः—यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागनेयोग्य नहीं है; क्योंकि उसके अत्याग से (कर्मका) बन्ध नहीं होता और उसके त्याग से बन्ध ही होता है॥ १२२॥

अथ शुद्धनयस्यात्यागमामनुते—

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिं।
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणां॥
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात् संहृत्य निर्यद्बहिः।
पूर्णज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः॥१२३॥

टीका—जातु कदाचित्। न त्याज्यो न हेयो ध्यानतः क्षणान्न मोक्तव्यः। कः? शुद्धनयः शुद्धपरमात्मा शुद्धद्रव्यार्थिकनयो वा। कैः? कृतिभिः संसारदशाचक्रं परिपूर्णं कृतं विद्यते येषां तैः। अथवा कृतं सुकृतं विद्यते येषां तैर्योगिभिः। किम्भूतः सः? सर्वंकषः सर्वं समस्तं कषति निहन्तीति सर्वंकषः। "सर्वंकूलाभ्रकरीषेषु कषः" इत्यनेन सूत्रेण सिद्धः। केषां? कर्मणां ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां। किं कुर्वन्? निबध्नन् कुर्वन्। कां? धृतिं सन्तोषं। क्व? बोधे ज्ञाने। किम्भूते? धीरोदारमहिम्नि धीरोऽक्षोभ्यत्वादुदार उत्कटः कर्मविनाशे बद्धकक्षत्वाद् धीरश्चासावुदारश्च वा द्वन्द्वो महिमा महिमानौ यस्य तस्मिन्। पुनः किम्भूते? अनादिनिधने आद्यन्तरहिते द्रव्यरूपेण नित्यत्वात्। तत्रस्थास्तत्र शुद्धनये, तिष्ठन्तीति तत्रस्था योगिनः। महो धाम। पश्यन्ति ईक्षन्ते। किं कृत्य? अचिराच्छीघ्रं संहृत्य हृत्वा विनाश्येत्यर्थः। किं? स्वमरीचिचक्रं स्वस्यात्मनः स्वस्मिन् वा मरीचिचक्रं मृगतृष्णासमूह। किम्भूतं महः? बहिः बाह्यं, निर्यत् प्रकटीभवत्। पूर्णं परिपूर्णं निरावरणत्वात्, पुनः कथम्भूतं? ज्ञानघनौघं ज्ञानेन घनो निरन्तरो ओघः समूहो यत्र तत्। पुनः किम्भूतं? एकमद्वितीयं ज्ञानसदृक्षस्यापरस्याभावात्। पुनः कथंभूतं? अचलमक्षोभ्यं। पुनः कीदृक्षं? शान्तं क्रोधादेरभावात्॥ १२३॥

अर्थ :—धीर और उदार (सर्व पदार्थों में विस्तारयुक्त) जिसकी महिमा है ऐसे अनादिनिधन ज्ञानमें स्थिरता को बाँधता हुआ (अर्थात् ज्ञानमें परिणति को स्थिर रखता हुआ) शुद्धनय-जो कर्मों का समूल नाश करनेवाला है—पवित्र धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) पुरुषों के द्वारा कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है। शुद्धनयमें स्थित वे पुरुष बाहर

निकलती हुई अपनी ज्ञानकिरणोंके समूहको, अल्पकालमें ही समेट कर पूर्ण ज्ञानघन के पुञ्जरूप, एक, अचल, शान्त तेजको–तेजःपुञ्ज को देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं॥ १२३ ॥

अथ रागादीनामभावे किं स्यादित्यध्येति—

रागादीनां झगिति विगमात् सर्वतोऽप्यास्रवाणाम् ।
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः ॥
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत् सर्वभावान् ।
आलोकान्तादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२४॥

टीका—एतज्ज्ञानं बोधः। उन्मग्नं प्रकटितं। किमप्यतिशायि अनिर्वाच्यं। वस्तु वसति गुणपर्याया-निति वस्तु। कस्य? अन्तः संपश्यतोऽन्तो मध्ये संपश्यतोऽवलोकयतो मुनेः। पुनः कथम्भूतं? नित्योद्योतं नित्यं प्रकाशमानं। यद्यपि लब्ध्यपर्याप्तकस्य निगोदस्य महानुभागज्ञानावरणावृतस्य नित्योद्योतत्वं न तथापि पर्यायाख्यस्य लब्ध्यक्षरापरनामधेयस्याक्षरानन्तभागशक्तेः निरावरणत्वं नित्योद्योतत्वमा-त्मनोऽस्त्येव। पुनः कथम्भूतं? परमं परा उत्कृष्टा इन्द्राद्यतिशायिनी मा ज्ञानादिलक्ष्मीर्यस्य तत्। कथं? झगिति शीघ्रं। कुतः? सर्वतोऽपि सर्वरूपेणापि। रागादीनां रागद्वेषमोहलक्षणभावा-स्रवाणां प्रत्ययानां। विगमादभावात्। किम्भूतं ज्ञानं? आलोकान्तात् श्रेणिघनमात्रत्रिलोकमभि-व्याप्य सर्वभावान् समस्तपदार्थान्। प्लावयत् पिच्चयत् परिच्छिन्ददित्यर्थः। कैः? स्वरसविसरैः स्वस्यात्मनः, रसस्तस्य, विसराः सन्दोहास्तैः। पुनः किम्भूतैः? स्फारस्फारैः स्फाराकाशात् स्फारै-र्विस्तीर्णैर्ज्ञानशक्त्यर्णवे व्योमादीनां बिन्दुवदल्पत्वात्। पुनः कथम्भूतं? अचलमक्षोभ्यं। पुनः कथ-म्भूतं? अतुलं न विद्यते तुला मानं यस्य तत्। तुलामतिक्रान्तमिति वा। एकस्मिन् पार्श्वे धर्माधर्मा-काशकालानुभागयोगकषायाध्यवसायादीनां शक्तिस्तथापि ज्ञानशक्तेरनन्तैकभागः॥ १२४॥

अर्थ :–जिसका उद्योत (प्रकाश) नित्य है ऐसी किसी परमवस्तुको अन्तरंग में देखनेवाले पुरुषको रागादि आस्रवोंका शीघ्रही सर्वप्रकार नाश होने से यह ज्ञान प्रकट हुआ कि जो ज्ञान अत्यन्तात्यन्त (अनन्तानन्त) विस्तार को प्राप्त निजरस के प्रसार से लोकके अन्त तक के सर्वभावों को व्याप्त कर देता है अर्थात् सर्वपदार्थों को जानता है, वह ज्ञान प्रकट हुआ तभी से सदाकाल अचल है अर्थात् प्रकट होनेके पश्चात् सदा ज्यों का त्यों ही बना रहता है, चलायमान नहीं होता, वह ज्ञान अतुल है अर्थात् उसके समान दूसरा कोई नहीं है॥ १२४॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां चतुर्थोऽङ्कः ॥४॥

अथ संवराधिकारः

❖

अथ संवरं सूचयति—

आसंसारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात् प्रतिलब्धनित्यविजयं, सम्पादयत् संवरम् ॥
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं, सम्यक्स्वरूपे स्फुरत् ।
ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम्—

स जयतु जनघनसिन्धुर्ज्ञानामृतचन्द्र एव संपुष्यत् ।
शुभचन्द्रचन्द्रिकाप्तः सुकुन्दकुन्दोज्ज्वलः श्रीमान् ॥१॥

टीका—उज्जृम्भते विलसते प्रकाशत इत्यर्थः । किं ? चिन्मयं ज्ञानमयं ज्योतिर्तेजः । पुनः किम्भूतं ज्योतिः ? संवरं सम्पादयत् संवरं कर्मणामागन्तुकानां निरोधं सम्पादयत् कुर्वत् । कथम्भूतं संवरं ? प्रतिलब्धनित्यविजयं प्रतिलब्धः संप्राप्तो नित्यं निरन्तरं विजयो येन तं । कुतः ? आसंसार-विरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रवन्यक्कारात् संसरणं संसारो द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपः संसारम-भिव्याप्य आसंसारं कर्म विरोधयति विनाशयतीत्येवं शीलः आसंसारविरोधी स चासौ संवरश्च कर्मनिरोधस्तस्य जय एवैकोऽद्वितीयोऽन्तःस्वभावस्तेनावलिप्तः संयुक्तः सचासावास्रवश्च तस्य न्यक्कारस्तिरस्कारो धिक्कार इत्यर्थस्तस्मात् ।

पुनः किम्भूतं संवरं ? पररूपतो व्यावृत्तं पररूपतः परद्रव्यादी रागादिर्वा तस्य रूपं स्वरूपं तत् ततो व्यावृत्तं निवृत्तं ।

तथा चोक्तमाप्तपरीक्षायाम्—

तेषामागमिनां नूनं विपक्षः संवरो मतः ॥११॥

पुनः कथम्भूतं ? नियमितं कर्मनिरोधे नियमो जातो यस्य तं । किम्भूतं ज्योतिः ? सम्यक् स्वरूपे यथोक्तस्वरूपे आत्मस्वरूपे इत्यर्थः । स्फुरद् देदीप्यमानं । पूर्वोक्तौ व्यावृत्तमित्यादिविशेषणौ द्वौ

ज्योतिषो वा। पुनः कथम्भूतं ? उज्ज्वलं सदावदातं। पुनः कीदृक्षं ? निजरसप्राग्भारं स्वात्मानुभवरसेन प्राक् पूर्णं भरणं भारो यस्य तत् ॥ १२५ ॥

अर्थ :–अनादिकाल से जो आस्रव का विरोधी है ऐसे संवर को जीतकर आस्रव मद से गर्वित हुआ है, उस आस्रव का तिरस्कार करके उसपर जिसने सदा के लिए विजय प्राप्त की है ऐसे संवर को उत्पन्न करता हुआ, समस्त पररूपसे भिन्न और अपने स्वरूपमें निश्चल यह चैतन्य प्रकाश निजरसकी अतिशयतापूर्वक निर्मलतासे उदय को प्राप्त हुआ है ॥। १२५ ॥

अथ ज्ञानरागयोः स्वरूपं वेभिद्यते—

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो—
रन्तर्दारुणदारुणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः ।
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥१२६॥

टीका—उदेत्युदयं गच्छति चकास्तीत्यर्थः। किं ? भेदविज्ञानं क्रकचवद् द्विधाकारकं ज्ञानं। कस्य ज्ञानस्य रागस्य च ज्ञानरागयोः परस्परमत्यन्तविलक्षणत्वाद् भिन्नत्वं। किम्भूतं ? निर्मलं मिथ्यात्वादिकर्मकालुष्यराहित्यात्। किम्भूतस्य ज्ञानस्य ? चैद्रूप्यं चिदेव ज्ञानमेव रूपं यस्य स तस्य भावश्चैद्रूप्यं चेतनत्वमित्यर्थः। दधतो धारयतः। च पुन। रागस्य किम्भूतस्य ? जडरूपता मचेतनतां दधतः। किं कृत्वा द्वयोर्जीवाऽजीवयोरविभागमभेदं। अकृत्वा अविधाय। भेदं कृत्वेत्यर्थः। केन ? अन्तर्दारुणदारणेन दारयति कर्मशत्रूनिति दारुणं ज्ञानमन्तोऽभ्यन्तरे दारुणं द्विधाकारकं तच्च तद् दारुणं च तेन कारणभूतेन। सन्तः ! अहो सत्पुरुषाः। मोदध्वं यूयं प्रमोदं कुरुध्वं। अधुना इदानीं भेदज्ञानोदये सति। किम्भूताः सन्तः ? इदमेकमद्वितीयं भेदज्ञानमध्याश्रिता आरूढाः प्राप्ताः सन्त इत्यर्थः। पुनः किम्भूताः ? द्वितीयच्युता ज्ञानरागयोर्मध्ये द्वितीयेन रागेण च्युता रहिताः। किम्भूतमिदं भेदज्ञानं ? शुद्धज्ञानघनौघं शुद्धं निर्मलं तच्च तज्ज्ञानं बोधश्च तस्य घनं निरन्तरमस्य ओघः समूहो यत्र तत् ॥ १२६ ॥

अर्थ :–चिद्रूपता को धारण करने वाला ज्ञान और जड़रूपता को धारण करने वाला राग दोनोंका अन्तरंगमें दारुण विदारण के द्वारा (भेद करने वाले उग्र अभ्यास के द्वारा) सभी ओर से विभाग करके (सम्पूर्णतया दोनों को अलग करके) यह निर्मल भेद ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ है; इसलिए अब एक शुद्धविज्ञानघन के पुञ्ज में स्थित और अन्य से अर्थात् राग से रहित हे सत्पुरुषो ! मुदित होओ ॥ १२६ ॥

अथ शुद्धात्मोपलम्भात् संवरं विवृणोति—

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन ।
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ॥
तदयमुदयदात्मारामामात्मानमात्मा ।
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

टीका—यदि यदाऽयं प्रसिद्ध आत्मा चिद्रूप आस्तेऽवतिष्ठते । पुनः किम्भूतः ? ध्रुवं निश्चितं । कथमपि महता कष्टेन । शुद्धं द्रव्यभावनोकर्मकलङ्कविकलमात्मानं स्वस्वरूपमुपलभमान आसादयन् स्वध्यानविषयीकुर्वाण इत्यर्थः । केन ? बोधनेन बोध्यते ज्ञायतेऽनेनेति बोधनं ज्ञानं तेन । किम्भूतेन ? धारावाहिना अनवच्छिन्नरूपत्वेन स्वर्धुनीधारा इव वहतीत्येवंशीलस्तेन । तत् तर्हि । तदा आत्मानं चिद्रूपं शुद्धमेव निष्कलङ्कमेव । अभ्युपैति प्राप्नोति । कुतः ? परपरिणतिरोधात् परेषु अचेतनादिपदार्थेषु परिणतिर्ममत्वादिलक्षणपरिणामः तस्य रोधो विरोधस्तस्मात् । किम्भूतं तं ? उदयदात्मारामम् आत्मन आरामं रमणीयं ज्ञानस्वरूपवन वा उदयदुदय गच्छत् आत्मारामं यत्राक्षौ तं । इत्येवं संवरप्रकारः ॥ १२७ ॥

अर्थ :—यदि यह आत्मा किसी भी प्रकार से (तीव्र पुरुषार्थ करके) धारावाही ज्ञानसे शुद्ध आत्माको निश्चलतया अनुभव किया करे तो जिसका आत्मानन्द प्रकट होता जाता है ऐसे आत्माको परपरिणति के निरोध से शुद्ध ही प्राप्त करता है ॥१२७॥

अथ कर्ममोक्षं कक्षीकरोति—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या ।
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः ॥
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां ।
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥१२८॥

टीका—नियतं निश्चितं । भवति जायते । कः ? शुद्धतत्त्वोपलम्भः शुद्धतत्त्वं परमात्मतत्त्वं तस्योपलम्भः प्राप्तिः । केषां ? एषां निजमहिमरतानां निजः स्वात्मा तस्य महिमा माहात्म्यं दर्शनज्ञानादिलक्षणं तत्र रतानामासक्तानां । कथं ? अचलं निश्चलं यथा भवति तथा । स्थितानां प्रविष्टानां । क्व ? अखिलान्यद्रव्यदूरे अखिलानि समस्तानि तानि च तानि अन्यद्रव्याणि चात्मव्यतिरिक्तधर्मादिपञ्चद्रव्याणि तेभ्यो दूराद् दविष्ठे । कया ? भेदविज्ञानशक्त्या भेदकारकविज्ञानस्य

शक्तिः सामर्थ्यं तया । चेति भिन्नप्रक्रमे, सति विद्यमाने, तस्मिन् शुद्धतत्त्वोपलम्भे । अक्षयः क्षयातीतोऽनन्तकालस्थायीत्यर्थः । कर्ममोक्षः कर्मणां प्रकृतिस्थित्यादिरूपतया विश्लेषणं मोक्षो भवति जायते ॥ १२८ ॥

अर्थ :—जो भेदविज्ञान की शक्ति से अपनी (स्वरूपकी) महिमा में लीन रहते हैं उन्हें नियम से शुद्धतत्त्वकी उपलब्धि होती है; शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धि होने पर अचलितरूपसे समस्त अन्यद्रव्यों से दूर वर्तते हुए ऐसे उनके अक्षय कर्ममोक्ष होता है अर्थात् उनका कर्मों से ऐसा छुटकारा हो जाता है कि पुनः कभी कर्मबन्ध नहीं होता ॥ १२८ ॥

अथ संवरं विवृणोति—

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ॥
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥

टीका—तस्मादात्मकर्मणोर्भेदविज्ञानाद आस्रवभावहेतूनामध्यवसानानां मिथ्यात्वादीनामभावस्तदभावे च रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्याभावः । तदभावे च कर्माभावः । तदभावे च नोकर्माभावः । तदभावे च संसाराभाव इति कारणात् । तत् प्रसिद्धमात्मकर्मणोर्भेदविज्ञानमतीवभाव्यमत्यन्तं भावनीयं । तत् कुतः ? यतः स आत्मोपलम्भो भेदविज्ञानत एव नान्यतः । किलेत्यागमे श्रूयते । शुद्धात्मतत्त्वस्यामलपरमात्मस्वरूपस्योपलम्भात् प्राप्तेः । एष प्रसिद्धः । साक्षात् प्रत्यक्षं । संवर आगन्तुककर्मनिरोधः सम्पद्यते जायते ॥ १२९ ॥

अर्थः—यह साक्षात् संवर वास्तवमें शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से होता है और वह शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है; इसलिए वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है ॥ १२९ ॥

अथ भेदविज्ञानमाज्ञापयति—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत् पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

टीका—यावत्पर्यन्तं । ज्ञानं परमात्मबोधः । ज्ञाने स्वस्वरूपप्रतिभासके बोधे । प्रतिष्ठते स्थितिं करोति स्वस्वरूपे, स्वस्वरूपावस्थानमित्यर्थः । किं कृत्वा? च्युत्वा त्यक्त्वा । कान्? परानचेतनादिपरपदार्थान् । तावत्कालपर्यन्तमिदं भेदविज्ञानमात्मकर्मणोर्भेदकारकभावनाज्ञानं । कया ? अच्छिन्नधारया अनवच्छि-

न्नरूपेण । भावयेद् ध्यायेत् । लब्धे स्वरूपे स्वरूपप्राप्तिनिमित्तकस्य भेदज्ञानस्यानुपयोगान्निष्पन्ने पटे तत्साधनस्य तुरीवेमाकुविन्दादेरनुपयोगित्ववत् ॥ १३० ॥

अर्थ :–यह भेदविज्ञान अच्छिन्नधारा से (अखण्ड प्रवाह रूपसे) तबतक भाना चाहिये जब तक परभावों से छूटकर ज्ञान ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) स्थिर हो जाए ॥ १३० ॥

अथ भेदज्ञानाज्ञानयोः सिद्धिं प्रति हेतुकत्वाहेतुकत्वे निर्णयति–

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवऽभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

टीका– किलेत्यागमोक्ते निश्चये वा । ये केचन पुरुषसिंहाः सिद्धाः सिद्धि स्वात्मोपलब्धिलक्षणां प्राप्ता उपलक्षणात् सिद्धयन्ति सेत्स्यन्ते । ते सर्वे भेदविज्ञानत आत्मकर्मणोर्भेदज्ञानान्नान्यतस्तपश्चरणादेः सिद्धपदं प्राप्ताः प्राप्नुवन्ति प्रापयिष्यन्ति । किलेति निश्चितं । ये केचन संसारिणः पुरुषा बद्धाः कर्मबन्धनबद्धाः त एवास्य भेदविज्ञानस्याभावतो बद्धाः बन्धनं प्राप्ताः । नात्र विचारणा ॥ १३१ ॥

अर्थ :–जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञानसे सिद्ध हुए हैं और जो कोई बँधे हैं वे उसी के (भेदविज्ञान) अभाव से बँधे हैं ॥ १३१ ॥

अथ ज्ञाने ज्ञानव्यवस्थाकारणं कलयति—

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भाद् ।
रागग्रामप्रलयकरणात् कर्मणां संवरेण ॥
बिभ्रत्तोषं परममलालोकमम्लानमेकम् ।
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥

टीका–नियतं निश्चितं । एतज्ज्ञानं परमात्मज्ञानं । ज्ञाने स्वरूपप्रतिभासे । उदितमुदयं प्राप्तं । किम्भूतं ? तोषं बिभ्रत् परमानन्दं धारयत् । पुनः किम्भूतं ? परमं परा उत्कृष्टा मा सर्ववस्तुपरिच्छेदिका ज्ञानशक्तिरूपा लक्ष्मीर्विद्यते यस्य तत् । कुतः ? भेदज्ञानोच्छलनकलनाद भेदज्ञानस्योच्छलनं प्राकट्यं प्रकाशनमित्यर्थः तस्य कलनमभ्यसनं तस्मात् । पुनः किम्भूतं ? अपलालोकममलो निर्मल आलोको जगत्प्रकाशकप्रकाशो यस्य तत् । कुतः ? शुद्धतत्त्वोपलम्भात् शुद्धतत्त्वस्य परमात्मन उपलम्भः प्राप्तिस्तस्मात् । पुनः कथम्भूतं ? अम्लानं कश्मलताच्युतं । कुतः ? रागग्रामप्रलयकरणात्

रागस्य । रतेर्रामः समूहस्तस्य प्रलयकरणं विनाशकरणं तस्मात् । पुनः किम्भूतं ? एकं कर्मादिव्यतिरिक्तत्वेनाद्वितीयं । केन ? कर्मणां संवरेण आगन्तुककर्मनिरोधेन अत एव शाश्वतोद्योतं नित्यप्रकाशम् ॥ १३१ ॥

अर्थ :—भेदज्ञान प्रकट करने के अभ्यास से शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि हुई, शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि से रागसमूह का विलय हुआ, रागसमूह के विलय से कर्मों का संवर हुआ और कर्मों का संवर होने से ज्ञानमें ही निश्चल हुआ ऐसा यह ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ । यह ज्ञान परम संतोष को (परम अतीन्द्रिय आनन्द को) धारण करता है, इसका प्रकाश निर्मल है, यह अम्लान है (अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञानकी भाँति कुम्हलाया हुआ निर्बल नहीं है, सर्वलोकालोकको जानने वाला है ।) एक है (अर्थात् क्षयोपशम से जो भेद था वह अब नहीं है) और इसका उद्योग शाश्वत है (अर्थात् इसका प्रकाश अविनश्वर है ।) ॥ १३२ ॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां पञ्चमोऽङ्कः ॥५ ।

अथ निर्जराऽधिकारः

अथ निर्जरानिरूपणमुज्जृम्भते—

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः ।
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः ॥
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा ।
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥१३३॥

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम्—

संवरनिकरविचारोऽमृतचन्द्रो भुवनभानुरनवद्यः ।
श्रीकुन्दकुन्दशाली शुभचन्द्रकरः प्रशस्तेद्धः ॥ १ ॥

टीका—संवरः संवरनाम तत्त्वं । स्थितो व्यवस्थितः । किं कृत्वा ? धृत्वा उद्धृत्य । कां ? निजधुरां स्वयोग्यधुर्यं । किम्भूतः ? पर उत्कृष्टः कर्मागमनिरोधकत्वात् । किं कुर्वन् ? निरुन्धन्

निवारयन् । कथं? दूरादारात्, भरतः अतिशयेन । कियत् ? समस्तमेव निखिलमेव । आगामि आगन्तुकं कर्म ज्ञानावरणादिप्रकृति । कुतः ? रागाद्यास्रवरोधतः रागाद्या रागद्वेषमोहास्ते च ते आस्रवाः प्रत्ययास्तेषां रोधो निरोधस्तस्मात् । तु पुनर्भिन्नप्रक्रमे । अधुना संवराऽनन्तरम् । निर्जरा निर्जीर्यते पूर्वंनिबद्धं कर्म यया सा भावनिर्जरा । पूर्वंनिबद्धकर्मणां निर्जरणं निर्जरा इति द्रव्यनिर्जरा सूचिता । विजृम्भते विलसति । किं कर्तुं ? दग्धुं भस्मीकर्तुं विनाशयितुमित्यर्थः । किम्भूतं ? प्राग्बद्धं पूर्वमास्रवार्द्यनिबद्धं । तदेव द्रव्यभावकर्मैव । सम्यग्दृष्ट्याद्येकादशनिर्जरया कर्मणो निर्जीर्यमाणत्वात्। तथा चोक्तं गोम्मटसारे जीवकाण्डे—

सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणंतकम्मंसे ।
दंसणमोहक्खवगे कसाय उवसामगे य उवसंते ।।
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा ।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति ।। इति ।।

यतो निर्जरादिभिः कर्मविनाशकरणात् । हीति स्फुटं । न मूर्च्छति न मोहं प्राप्नोति । कैः ? रागादिभी रागद्वेषमोहैः । किं ? ज्ञानज्योतिः बोधतेजः । किम्भूतं ? अपावृतं निर्जरासंवरैर्निरावरणं ।। १३३ ।।

अर्थ :—परम संवर रागादि आस्रवों को रोकने से अपनी कार्यधुरा को धारण करके (अपने कार्यको यथार्थतया संभालकर), समस्त आगामी कर्म को अत्यन्ततया दूर से ही रोकता हुआ खड़ा है; और पूर्वबद्ध (संवर होने के पहले बँधे हुए) कर्म को जलाने के लिए अब निर्जरा (निर्जरारूपी अग्नि) फैल रही है जिससे ज्ञानज्योति निरावरण होती हुई पुनः रागादिभावों के द्वारा मूर्च्छित नहीं होती-सदा अमूर्च्छित रहती है ।। १३३ ।।

अथ ज्ञानसामर्थ्यं समुत्थापयति—

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।
यत् कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बद्धचते ।।१३४।।

टीका—किलेत्यागमोक्तौ । यत् कोऽपि ज्ञानी न बद्धचते बन्धनं न प्राप्नोति । कैः ? कर्मभिः । किम्भूतोऽपि ? भुञ्जानोऽपि वेदयमानोऽपि । किं ? कर्म पूर्वोपात्तं कर्म । सुखदुःखरूपेण उदीर्णं वेदयन्नपि तत् सामर्थ्यं समर्थता । कस्य ? ज्ञानस्यैव वा अथवा विरागस्यैव । यथा विषं भुञ्जानोऽपि विषवैद्यो न याति मरणं । तथा कर्मोदीर्यमाणमपि भुञ्जानो न बद्धचते ज्ञानी ।। १३४ ।।

अर्थ :–वास्तवमें वह (आश्चर्यकारक) सामर्थ्य ज्ञानकी ही है अथवा विराग की ही है कि कोई (सम्यग्दृष्टि जीव) कर्मों को भोगता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता ॥ १३४ ॥

अथ ज्ञानिनो विषयसेवकत्वेऽप्यसेवकत्वं सिध्यति–

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् । स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ॥
ज्ञानवैभवविरागताबलात् । सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥१३५॥

टीका–तत् तस्माद्धेतोः । असौ ज्ञानी । सेवकोऽपि विषयं सेवयन्नपि असेवको विषयसेवको न भवेत् । कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वाभावादप्राकरणिकवत् । यद्यस्माद्धेतोर्नाश्नुते न भुञ्जते । किं ? स्वं स्वकीयं फलं कर्मबन्धरूपं । कः ? ना आत्मा । कस्य ? विषयसेवनस्य सुखदुःखाद्यनुभवस्य । क्व सति ? विषयसेवनेऽपि । कुतः ? ज्ञानवैभवविरागताबलात् ज्ञानस्य वैभवं सामर्थ्यं तेनोपलक्षितं विरागताया बलं शक्तिस्तस्मात् ॥ १३५ ॥

अर्थ :–क्योंकि यह (ज्ञानी) पुरुष विषयसेवन करता हुआ भी ज्ञानवैभव और विरागता के बलसे विषयसेवनके निजफलको (रंजित परिणाम को) नहीं भोगता-प्राप्त नहीं होता, इसलिए यह (पुरुष) सेवक होने पर भी असेवक है (अर्थात् विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता) ॥ १३५ ॥

अथ सम्यग्दृष्टेः शक्तिः संयुज्यते–

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः ।
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ॥
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च ।
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

टीका–नियतं निश्चितं । ज्ञानवैराग्यशक्तिर्ज्ञानवैराग्ययोः सामर्थ्यं । भवति अस्ति । कस्य? सम्यग्दृष्टेः स्वतत्त्वश्रद्धायकस्य । किं कर्तुं ? कलयितुमनुभवितुं ध्यातुमित्यर्थः । कम् ? स्वमात्मानं वस्तुत्वं वस्तु-स्वरूपं, तत्कुतः ? यस्माद्धेतोः । अयं सम्यग्दृष्टिः, स्वस्मिन्नात्मनि । आस्तेऽवतिष्ठते विरमते च विरक्तिं भजति । कुतः ? सर्वतः समस्तात् । परादात्मनः परस्वरूपाद् रागयोगाद् रागद्वेषमोहसंयोगात् । कया ? स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या स्व आत्मा अन्यः परद्रव्यादिस्तयोः रूपे स्वरूपे तयोर्यथाक्रमं आप्तिः प्राप्ति-र्मुक्तिर्मोचनं स्वरूपप्राप्तिः परस्वरूपमुक्तिरित्यर्थस्तया । किं कृत्वा ? ज्ञात्वा अवबुध्य । कथं ? तत्त्वतः

परमार्थतः । किमिदं स्वमात्मीयं स्वात्मलक्षणं, च पुनः परं परद्रव्यं । व्यतिकरमन्योऽन्यस्य भिन्नं ॥ १३६ ॥

अर्थ :–सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है; क्योंकि वह (सम्यग्दृष्टि जीव) स्वरूपका ग्रहण और पर का त्याग करने की विधि के द्वारा अपने वस्तुत्व का (यथार्थस्वरूपका) अभ्यास करने के लिए 'यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है' इस भेद को परमार्थ से जानकर स्वमें स्थिर होता है और परसे-रागके योगसे—सर्वतः विरमता (रुकता) है । (यह रीति ज्ञानवैराग्यकी शक्ति के बिना नहीं हो सकती) ॥ १३६ ॥

अथ रागिणः सम्यक्त्वराहित्यमुच्यते–

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापाः
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥ १३७ ॥

टीका—रागिणोऽपि पुरुषाः । न केवलं तत्त्वविद इत्यपिशब्दार्थः । आचरन्तु पञ्चमहाव्रत-शास्त्राध्ययनादौ प्रवर्तन्तां । पुनः समितिपरतां समितयः ईर्याभाषैषणादय. समितिस्वभावाः तत्र परतां तत्परतामुत्कृष्टतां वा । आलम्बन्तामालम्बनं कुर्वतां । किंभूतास्त इत्युक्तप्रकारेण उत्तानोत्पुलकवदना उत्तानमूर्ध्वावलोकित्वं महाहङ्कारत्वात् उत् ऊर्ध्वाः पुलका रोमाञ्चा यस्य तदुत्तानमुत्पुलकं वदनं वक्त्रं येषां ते । इति किं ? स्वयं स्वत एवाऽयं प्रत्यक्षोऽहं सम्यग्दृष्टिस्तत्त्वदर्शी । मे मम । जातु कदाचिद् । बन्धः कर्मणां बन्धो न स्यात् न भवेदित्यहङ्काररूपवाक्यमिति ये दधति, तेऽद्यापि इदानीमपि न तु पूर्वमित्यपि शब्दार्थः । सम्यक्त्वरिक्तास्तत्त्वश्रद्धानमुक्ताः । सन्ति वर्तन्ते । कुतः? आत्मानात्मावगम-विरहात् आत्मा च अनात्मा च आत्मानात्मानौ स्वपरद्रव्ये तयोरवगमः परिज्ञानं तस्य विरहोऽभावस्त-स्मात् । ते पापाः पापकर्मयुक्ताः । कुतः ? यतः कारणादहङ्काराद्यशुभकर्ममयत्वात् ॥ १३७ ॥

अर्थ :–"यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता (क्योंकि शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं कहा है)" ऐसा मानकर जिनका मुख गर्वसे ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसे रागी जीव (परद्रव्य के प्रति रागद्वेषमोहभाववाले जीव) भले ही महाव्रतादि का आचरण करें तथा समितियों की उत्कृष्टताका आलम्बन करें

तथापि वे पापी ही हैं क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्व से रहित हैं ॥ १३७ ॥

अथ रागिणो भ्रान्तिं बीभास्यते—

आसंसारात् प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः ।
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः ॥
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥

टीका—भो अन्धाः ! हे रागिणः ! ज्ञानदृष्टिपराङ्मुखत्वाद । विबुध्यध्वं यूयं जानीध्वं। अमी रागिणः परद्रव्येषु रागो रतिर्विद्यते येषां ते । यस्मिन् चिद्रूपे परद्रव्ये वा सुप्ता निद्रायमाणास्तत्स्वरूपानभिज्ञत्वान्निद्रात्वं स्थिता वा । तत् अपदं चिद्रूपे शयनमयुक्तं परद्रव्ये स्थितिः स्थानं । पुनः किम्भूतं ? अपदं न विद्यते पदं रक्षणं स्थानं लक्षणं वा यतो यत्र यस्य वा तदपदं । किम्भूतास्ते आसंसारात्प्रतिपदं नित्यमत्ताःआसंसारात् पञ्चप्रकारसंसारमभिव्याप्य, प्रतिपदं पदं पदं प्रतीति प्रतिपदमेकेन्द्रियादिस्थाने परद्रव्यलक्षणे पदे वा नित्यमत्ताः नित्यं हृष्टा हर्षं गता वा स्वस्वरूपानभिज्ञत्वात् । इतः परस्थानाद् । एत एत पुनः पुनरागच्छत यूयं । इदं शुद्धचिद्रूपलक्षणमिदमेव नान्यदिति निर्धारणार्थं वीप्सा । पदं स्थानं ज्ञानिनां स्थितियोग्यत्वाद् अथवा इदमिदमेकपदमस्य चिद्रूपस्य इदमिदमिदं पदं । इत आगच्छत यत्र पदे चैतन्यधातुश्चेतनालक्षणो धातुः स्थायिभावत्वं स्थर्यमेति प्राप्नोति । कुतः ? स्वरसभरतः स्वानुभवातिशयात् । किम्भूतः ? शुद्धो निर्मलः । पुनः किम्भूतः? शुद्धः परद्रव्यादतीवनिर्मलः । प्रथमशुद्धपदेन इतरद्रव्येभ्यः शुद्धत्वमावेदितं, द्वितीयशुद्धपदेन स्वसंसारिद्रव्याच्छुद्धत्वं चावेदितम् ॥ १३८ ॥

अर्थ :—(श्रीगुरु संसारी भव्य जीवों को सम्बोधन करते हैं कि—) हे अन्ध प्राणियों ! अनादि संसारसे लेकर पर्याय पर्याय में यह रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं वह पद अर्थात् स्थान अपद है—अपद है (तुम्हारा स्थान नहीं है ।) ऐसा तुम समझो । इस ओर आओ, इस ओर आओ (यहां निवास करो) तुम्हारा पद यह है यह है जहाँ शुद्ध—शुद्ध चैतन्यधातु निजरस की अतिशयता के कारण स्थायीभावत्व को प्राप्त है अर्थात् स्थिर है—अविनाशी है ॥ १३८ ॥

अथ तत्पदास्वादनं स्वदते—

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदं ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥१३९॥

टीका– हीति व्यक्तं । एकमेव तत् प्रसिद्धं । पदं चैतन्यस्थानं पद्यते गम्यते ज्ञायतेऽनेनेति पदं ज्ञानं वा । स्वाद्यमास्वाद्यं ध्यानविषयीकर्तव्यमिति भावः । विपदां ससाराशर्मणामपदमस्थानं दुःख-रहितत्वाद् । यत्पुरश्चंतन्यधातुलक्षणस्थानाग्रेऽन्यानि पराणि अनात्मस्वभावानि पदानि व्रतादीनि अपदान्येव अस्थानानि अज्ञानस्वरूपाणि निश्चयेन भासन्तं चकासति ।। १३९ ।।

अर्थ :–वह एक ही पद आस्वादन के योग्य है जो कि विपत्तियों का अपद है (अर्थात् जिसमें आपदायें स्थान नहीं पा सकतीं) और जिसके आगे अन्य सब पद अपद ही भासित होते हैं ।। १३९ ।।

अथात्मज्ञानयोरेकत्वं नेनीयते–

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन् ।
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं ।
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ।।१४०।।

टीका—किलेत्यागमोक्तौ । एष आत्मात्मानुभवानुभावविवशः आत्मनश्चिदरूपस्य आत्मन स्वरूपेण सहानुभवोऽनुभवनं तस्यानुभावः प्रभावस्तेनोपलक्षितो विशिष्टो वशो ज्ञातृता । "वशा स्त्री करिणी च स्याद्दृग्ज्ञाने ज्ञातरि त्रिषु" इत्यनेकार्थे । सकलं ज्ञानमाभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्यय-केवलं ज्ञानं । एकतामेकत्वं । नयति प्राप्नोति । ज्ञानमात्मा चैक एव पदार्थ इत्येकतां प्राप्नोति । पुनः किम्भूतः ? समासादयन् प्राप्नुवन् । कं ? एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं एकोऽद्वितीयः ज्ञायकभावो ज्ञातृस्वभावस्तस्य निर्भरोऽतिशयः स एव महास्वादः तं । पुनः किम्भूतः ? असहोऽक्षमः । किं कर्तुं ? द्वन्द्वमयं विधातुम् द्वन्द्वमयमात्मक्रोधयोर्युग्मनिर्वृत्तं स्वादं विधातुमास्वादयितुं । किं कुर्वन् ? स्वावस्तुवृत्तिं स्वे आत्मनि अवस्तुनः क्रोधादेर्वृत्तिं वर्तनां विदन् जानन् । स्वां वस्तुवृत्तिमिति च क्वचित्पाठः स्वकीयां वस्तुवृत्तिं यथाख्यातचारित्रवृत्तिं जानन् । पुनः किं कुर्वन् ? सामान्यं पूर्वोत्तर-विवर्तवर्त्येकत्वलक्षणं ज्ञानत्वरूपमूर्ध्वतासामान्यं कलयन् कलनां कुर्वन् । किम्भूतं तत् ? भ्रश्यद्वि-शेषोदयं भ्रश्यन् गलन् विशेषाणां मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलरूपाणां उदयः प्राकट्यं यत्र तत् । सामान्ये विवक्षिते विशेषाणां विवक्षाभावः ।। १४० ।।

अर्थ :–एक ज्ञायकभाव से हुए महास्वाद को लेता हुआ, द्वन्दमय स्वाद लेने में असमर्थ (वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ) आत्मानुभवके, स्वादके–प्रभाव के आधीन होने से निज वस्तुवृत्ति को (आत्मा

की शुद्ध परिणति को) जानता–आस्वाद लेता हुआ, यह आत्मा ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ, सामान्यमात्र ज्ञान का अभ्यास करता हुआ सकलज्ञान को एकत्व में लाता है–एकरूप में प्राप्त करता है ॥ १४० ॥

अथ संवेदनव्यक्तिमवनीस्वद्यते–

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो ।
निष्पीताऽखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ॥
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकी भवन् ।
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥१४१॥

टीका—वल्गति उल्लसति । कः ? स एष चैतन्यरत्नाकरः चैतन्यमेव रत्नं मणिस्तस्याकरः स्थानमात्मा पक्षे समुद्रः । काभिः ? उत्कलिकाभिरूर्ध्वांशैर्ज्ञानलक्षणैः पानीयलक्षणैर्वा संवेदनशक्तिभिरन्यत्र ऊर्मिभिरित्यर्थः । पुनः किम्भूतः ? अद्भुतनिधिरद्भुताः आश्चर्यदा निधय ज्ञानादिरूपा वा यत्र सः । पुनः किम्भूतः ? अभिन्नरसोऽभिन्नो भेत्तुमशक्या रसो यत्रोभयत्र स भगवान् भगं ज्ञानं पक्षे लक्ष्मीर्विद्यते यस्य स भगवान् । "भगं श्रीज्ञानमाहात्म्यवीर्यप्रयत्नकीर्तिषु" इत्यनेकार्थे । एकोऽपि आत्मत्वसामान्येन समुद्रत्वेन चाद्वितीयोऽपि अनेकीभवन् मतिश्रुतादिज्ञानेन मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी पक्षे पूर्वापरादिभागेन पूर्वसमुद्रः पश्चिमसमुद्र इत्यादिरूपेणानेकतां भजन् । कुतः ? यत् यस्मात् कारणाद् । यस्यात्मनः सम्बधिन्य इमाः संवेदनव्यक्तयः ज्ञानविशेषाः मतिज्ञानादयः । कथं ? स्वयं स्वत, उच्छलन्ति उत्कर्षं गच्छन्ति । अन्या अपि जलव्यक्तयः उच्छलन्ति । किम्भूताः ? अच्छाच्छाः निर्मलपदार्था नैर्मल्याद्निर्मलाः। उत्प्रेक्षां दर्शयति अत उत्प्रेक्षते । निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता निष्पीतं क्रोडीकृतं ज्ञायकस्वभावेनाखिलभावानां समस्तज्ञानज्ञेयपदार्थानां मण्डलं समूहः स एव रसोऽनुभवस्वभावः पानीयं वा स चासौ रसश्चेति वा मदिरारूपो रसः मदहेतुत्वात् तस्य प्राग्भारः पूर्वातिशयस्तेन मत्ता मदं नीताः । इव यथा केचिन् मैरेयमत्ता उच्छलन्ति । तथा एता अपि ॥ १४१ ॥

अर्थ :–समस्त पदार्थों के समूहरूपी रस को पी लेने की अतिशयता से मानों मत्त हुई सी, जिनकी यह निर्मल से भी निर्मल संवेदन व्यक्ति (ज्ञानपर्याय, अनुभव में आने वाले ज्ञान के भेद) अपने आप उछलती है, वह यह भगवान अद्भुत निधिवाला चैतन्यरत्नाकर, ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों के साथ जिसका रस अभिन्न है ऐसा, एक होने पर भी अनेक होता हुआ ज्ञान पर्याय रूपी तरंगों के द्वारा दौलायमान होता है-उछलता है ॥ १४१ ॥

अथ ज्ञानान्येषां कर्मणां क्लेशत्वमाकर्षति—

क्लिश्यतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः ।
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ॥
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयम् ।
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

टीका –केचित् स्वयमेव गुरूपदेशादिना विना क्लिश्यन्तां क्लेशं कुर्वंतां । कैः ? दुष्करतरैर्दुःसाध्यैः कर्मभिः शीतातापनवर्षायोगप्रतिक्रमणादिक्रियाभिः । कथम्भूतैः ? मोक्षोन्मुखः कर्ममोचनं प्रति सन्मुखैर्निर्जराहेतुत्वात् । च पुनः, परे पुरुषाः । चिरं दीर्घकाल । क्लिश्यन्तां कायादिक्लेशं कुर्वंतां । किम्भूताः सन्तः ? भग्नाः सन्तः । केन ? महाव्रततपोभारेण महाव्रतान्यहिंसादीनि तपांसि अनशनादीनि तेषां भारस्तेन । महाव्रतादिभिः कर्मणां निर्जरासद्भावेऽपि ततो बहुतरकर्मास्रवो ज्ञानाभावात् । हीति यस्मात् । कथमपि केनाऽपि प्रकारेण । ज्ञानगुणं ज्ञानमाहात्म्यं विना । प्राप्तुं मोक्षमवाप्तुं न क्षमन्ते न समर्था भवन्ति । ततः साक्षात् प्रत्यक्षं । इदं ज्ञानमात्मपरिज्ञानं मोक्षस्तदन्यतमस्य तदनुपलभ्यमानत्वात् । किम्भूतं ? निरामयपदं निर्गत आमया रोगः उपलक्षणात् क्षुत्तृष्णाजन्मजरामरणाधिदुःशर्मास्वास्थ्योद्वेगादिगृह्यते । यस्मात् तत्पद स्थानं । स्वयं स्वेन आत्मना संवेद्यमानं स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण ज्ञायमानं ॥ १४२ ॥

अर्थ :–कोई जीव तो दुष्करतर और मोक्ष से पराङ्मुख कर्मों के द्वारा स्वयमेव क्लेश पाते हैं तो पाएँ और कोई अन्य जीव महाव्रत और तपके भार से बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करें तो करें (किन्तु) जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामय पद (भावरोगादि समस्त क्लेशों से रहित) है और स्वयं संवेद्यमान है, ऐसे इस ज्ञानको ज्ञानगुणके बिना किसी भी प्रकार से वे प्राप्त नहीं कर सकते ॥ १४२ ॥

अथ मुक्तेर्दुष्प्राप्यत्वं प्रथयति –

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं । सहजबोधकलासुलभं किल ॥
तत इदं निजबोधकलाबलात् । कलयितुं यततां सततं जगत् ॥१४३॥

टीका—नन्विति वितर्के, किलेति निश्चितं । इदं पदं मोक्षलक्षणं कर्मदुरासदं कर्मणा क्रियाकाण्डतपश्चरणादिना दुरासदं दुष्प्राप्यं । ततस्तस्मात् कारणात् । जगत् त्रिभुवनं । इदं पदं कलयितुमवगाहयितुं । यततां यत्नं कुरुतां । कुतः ? निजबोधकलाबलात् निजबोधः स्वात्मज्ञानं तस्य कला

कलनं तस्य बलं सामर्थ्यं तस्मात् । कुतस्तत्र यत्नं ? यद् इदं पद सहजबोधकलासुलभं । सहजबोधः स्वस्वरूपज्ञानं तस्य कला कलनमभ्यसनं तया, सुलभं सुप्रापं ॥ १४३ ॥

अर्थ :—यह (ज्ञानस्वरूप) पद कर्मों से वास्तव में दुरासद (दुष्प्राप्य) है और सहज ज्ञानकी कलाके द्वारा वास्तव में सुलभ है; इसलिए निजज्ञानकी कलाके बलसे इस पदको अभ्यास करने के लिए (अनुभव करने के लिए) जगत सतत प्रयत्न करो ॥ १४३ ॥

अथ ज्ञानिनोऽपरस्याकिञ्चित्करत्वं युनक्ति—

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात् ।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥१४४॥

टीका—अन्यस्य परद्रव्यस्य । परिग्रहेण ममत्वरूपाङ्गीकारेण । ज्ञानी सुज्ञः । किं विधत्ते ? न किमपि तत्र ममत्वाभावात् । कुतः ? यस्मात् कारणाद । एष ज्ञानी आत्मा । सर्वार्थसिद्धात्मतया सर्वार्थैः सिद्धो निष्पन्न आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य भावस्तत्ता तया । विधत्ते स्वकार्यं करोतीत्यर्थः । किम्भूतः ? अचिन्त्यशक्तिरचिन्त्या चिन्तितुमशक्या शक्तिः सामर्थ्यं यस्य सः । कथं ? स्वयमेव स्वरूपेणैव । देवो दीव्यति क्रीड़ति स्वस्वरूपेणेति देवः । पुनः किम्भूतः? चिन्मात्रचिन्तामणिः चैतन्यनिर्वृत्तचिन्तामणिः ॥ १४४ ॥

अर्थ :—क्योंकि यह स्वयम् ही अचिन्त्यशक्ति वाला देव है और चिन्मात्रचिन्तामणि है इसलिये जिसके सर्व अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध हैं ऐसा स्वरूप होने से ज्ञानी दूसरे के परिग्रह से क्या करेगा ? ॥ १४४ ॥

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव ।
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम् ॥
अज्ञानजिमुज्झतुमना अधुना विशेषाद् ।
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥१४५॥

टीका—भूयः पुनः । अधुना इदानीं सम्प्रति । अयं ज्ञानी, तमेव परिग्रहमेव, परिहर्तुंत्यक्तुं प्रवृत्तः सोद्युक्तो बभूव । विशेषात् पूर्वं ज्ञानभावेन विमुक्तोपधिरपि । इदानींपुन विशेषतः । किम्भूत ? उज्झितुमनाः उज्झितुं त्यक्तुंमनश्चित्तं यस्य सः । किं ? अज्ञानमहमस्य ममेदं रूपमज्ञानं । किम्भूतं ? स्वपरयोरविवेकहेतुम् स्वपरयोर्जीवपुद्गलयोः अविवेकहेतुं अविवेकस्य अविवेचनस्य हेतुं कारणं । किं कृत्वा?

इत्थं नाहमस्य नेदं मम । अहमेव मम स्वं, अहमेव मम स्वामीत्यादि पूर्वोक्तप्रकारेण सामान्यतः स्वपर-परिग्रहस्य भेदविवक्षामन्तरेण समस्तमेव चेतनाचेतनादिकमुपधिमपास्य परिग्रहं त्यक्त्वा ।। १४५ ।।

अर्थ :–इसप्रकार समस्त परिग्रहको सामान्यतः छोड़कर अब स्वपरके अविवेक के कारणरूप अज्ञानको छोड़नेका जिनका मन है ऐसा वह पुनः उसीको (परिग्रहको) विशेषतः छोड़ने को प्रवृत्त हुआ है ।। १४५ ।।

अथ ज्ञानिनामपरिग्रहत्वमुल्लिखति—

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।
तद्भवत्वथ च रागवियोगान्, नूनमेति न परिग्रहभावम् ।।१४६।।

टीका—यदि यदा, ज्ञानिनः पुंसः । उपभोगः कर्मोदयजनितसुखदुःखादिनोकर्माद्युपभोगः । भवत्यस्ति । कुतः ? पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् पूर्वं ज्ञानावस्थातः प्राग्बद्धानि योगकषायवशादात्मसात्कृतानि तानि च तानि कर्माणि च तेषां विपाक उदयस्तस्मात् । तत् तर्हि । भवत्वस्तु उपभोगः । अथ च उपभोगकथनानन्तरं । नूनं निश्चितं, ज्ञानिन उपभोग इत्याद्याहार्यं । परिग्रहभावं कर्मबन्धनाद्युपधिस्वभावं । नैति न प्राप्नोति । कुतः ? रागवियोगाद् रागस्य ममत्वादिपरिणामस्य वियोगाराहित्यं तस्मात् । कर्मोदयोपभोगस्तावज्ज्ञानिनोऽस्तीतो न स्यात् प्रनष्टत्वात्, प्रत्युत्पन्नानागतौ न स्तः । तत्र ममत्वाभावादिति तात्पर्यं ।। १४६ ।।

अर्थ :–पूर्वबद्ध अपने कर्म के विपाक के कारण ज्ञानी के यदि उपभोग हो तो हो परन्तु राग के वियोग (अभाव) के कारण वास्तवमें वह उपभोग परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता ।। १४६ ।।

अथ विरक्तिं गृह्णाति—

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद् । वेद्यते न खलु कांक्षितमेव ।।
तेन काङ्क्षति न किञ्चन विद्वान् । सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ।।१४७।।

टीका–तेन कारणेन । विद्वान् धीमान् । किञ्चन किमपि शुभाशुभं । न काङ्क्षति आकाङ्क्षाविषयं न करोति । अपि पुनः । विद्वान् सर्वतः संसारदेहभोगतः । अतिविरक्तिमतिवैराग्यं । उपैति भजते प्राप्नोतीति यावत् । खल्विति वाक्यालङ्कारे, काङ्क्षितं वाञ्छितं भावं । न वेद्यते नानुभूयते । कुतः? वेद्यवेदकविभावचलत्वात् वेदनयोग्यो वेद्यः । वेद्यते अनेनेति वेदकस्तौ च तौ विभावौ च तयोश्चलत्वं क्षणिकत्वं तस्मात् । तथाहि यौ वेद्यवेदकभावौ तौ क्षणिकौ स्तः । विभावभावानामुत्पन्नप्रध्वंसित्वात् ।

अथ च यो भावो वेद्यं भावं वेदयते स वेदको यावद् भवति तावत् काङ्क्ष्यो वेद्यो भावो नश्यति । तद्विनाशे वेदकभावः किं वेदयते ? अथ काङ्क्ष्यवेद्यभावानन्तरभाविनमपरं भावं वेदयते तदा तद्भवनात्पूर्वं स वेदको नश्यति तं को वेदयते । अथ वेदकभावानन्तर भावीभावोऽपरस्तं वेदयते तद्भवनात् पूर्वं स वेद्यो नश्यति स किं वेदयत इति चलत्वान्न काङ्क्षति ॥ १४७ ॥

अर्थ :–वेद्य-वेदकरूप विभावभावों की चलता (अस्थिरता) होने से वास्तव में वांछितका वेदन नहीं होता इसलिए ज्ञानी कुछभी वाञ्छा नहीं करता, सबके प्रति अत्यन्त विरक्तता को (वैराग्यभावको) प्राप्त होता है ॥ १४७ ॥

अथ ज्ञानिनोऽपरिग्रहित्वं चेतति—

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं । कर्मरागरसरिक्ततयैति ॥
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे । स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीव ॥१४८॥

टीका—हि निश्चितं । ज्ञानिनः पुंसः । कर्म परिग्रहभावमुपधिस्वभाव । नैति । न प्राप्नोति । कया ? रागरसरिक्ततया रागा । रसिकत्वं तेन रिक्तस्तस्य भावस्तया । हीत्यत्रार्थान्तरोपन्यासे । इह लौकिकयुक्तौ । रङ्गयुक्तिर्लोहितादिरागयोगः । अकषायितवस्त्रे विभीतकादिकषायद्रव्यैरकषायीकृते चीवरे स्वीकृता गृहीता आरोपिता रङ्गयुक्तिर्लोहितरागयोगः । बहिर्लुठति अन्तर्भेत्तुमशक्यत्वात् कषायरागादिकारणाभावात् ॥ १४८ ॥

अर्थ :–जैसे लोध और फिटकरी इत्यादि से जिसे कसायला नहीं किया गया है ऐसे वस्त्रमें रंग का संयोग वस्त्र के द्वारा अंगीकार न किया जाने से ऊपर ही लौटता है (रह जाता है)–वस्त्र के भीतर प्रवेश नहीं करता, इसीप्रकार ज्ञानी रागरूपी रससे रहित है, इसलिए उसे कर्म परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता ॥ १४८ ॥

अथ ज्ञानिनः कर्म न लिम्पति—

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् ।
सर्वरागरसवर्जनशीलः ॥
लिप्यते सकलकर्मभिरेष–
कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥ १४९॥

टीका—तत् तस्मात् कारणात् । एष ज्ञानी । सकलकर्मभिः समस्तद्रव्यभावनोकर्मभिः । न लिप्यते नोपदह्यते नाश्रयत इत्यर्थः । कोदृक्षोऽपि कर्ममध्यपतितोऽपि कर्मणामुदयादिरूपाणां मध्ये

अन्तः पतितोऽपि । अपि शब्दात् तत्रापतितस्य कथं बन्धः । यथा कनकस्य कर्दममध्यगतस्य न लेपः । कुतः ? यतो यस्मात् कारणात् । स्वरसतोऽपि स्वभावत एव ज्ञानवान् पुमान् । सर्वरागरसवर्जनशीलः सर्वे च ते रागाश्च रागद्वेषमोहास्तेषां रसस्तस्य वर्जने शीलं स्वभावो यस्य सः । ईदृग्विधः । स्याद्-भवेत् ॥ १४९ ॥

अर्थ :—क्योंकि ज्ञानी निज रस से ही सर्व रागरसके त्यागरूप स्वभाव-वाला है इसलिए वह कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी सर्व कर्मों से लिप्त नहीं होता ॥ १४९ ॥

अथ वस्तुस्वभावं निर्णेनेक्ति—

यादृक् तादृगिहाऽस्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः ।
कर्तुं नैष कथञ्चनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते ॥
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत् सन्ततम् ।
ज्ञानिन् ! भुङ्क्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥१५०॥

टीका—इह जगति । यस्य वस्तुनः । यादृक् यादृशः स्वभावः स्वरूपमस्ति वर्तते । हीति स्फुटं । तस्य वस्तुनः वशतः । ज्ञानस्य नियमवशाद्वा । तादृक् तादृक्ष एव स्वभावो भवेन्नान्यथा । हीति यस्मात् । य एषः स्वभावः स परैरन्यपदार्थैः। कथञ्चनापि केनापि प्रकारेण देशान्तरे कालान्तरे द्रव्यांत-रसंयोगे अन्यादृशोऽन्यस्वभावसदृशः । कर्तुं न शक्यते । हीति यस्मात् । सन्ततं निरन्तरं । कदाचनापि कस्मिन्नपि काले । भवद् विद्यमानं । ज्ञानं बोधोऽज्ञानं न भवेन्न जायेत । हे ज्ञानिन् ! भुङ्क्ष्व परद्रव्य-मनुभव । कुतः ? यत, इह जगति । परापराधजनितः परेषां पुद्गलद्रव्याणामपराध आगस्तेन जनित उत्पादितः । तव ज्ञानिनः । बन्धः कर्मबन्धो नास्ति न भवत्येव ॥ १५० ॥

अर्थ :—इस लोकमें जिस वस्तुका जैसा स्वभाव होता है उसका वैसा स्वभाव उस वस्तु के अपने वश से ही (अपने आधीन नहीं) होता है । ऐसा वस्तुका स्वभाव वह परवस्तुओं के द्वारा किसी भी प्रकार से अन्य जैसा नहीं किया जा सकता । इसलिए जो निरन्तर ज्ञानरूप परिणमित होता है वह कभी भी अज्ञान नहीं होता; इसलिये हे ज्ञानी ! तू (कर्मोदयजनित) उपभोग को भोग, इस जगतमें परके अपराध से उत्पन्न होनेवाला बन्ध तुझे नहीं है (अर्थात् परके अपराध से तुझे बन्ध नहीं होता) । ॥ १५० ॥

अथ ज्ञानिनः कर्मक्रियां प्रतिरुणद्धि—

ज्ञानिन् ! कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते ।
भुङ्क्ष्ये हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवाऽसि भोः ! ॥
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत् किं कामचारो ऽस्ति ते ।
ज्ञानं सन् वस बन्धमेष्यपरथा, स्वस्यापराधाद् ध्रुवम् ॥१५१॥

टीका—हे ज्ञानिन् ! जातु कदाचिद । तव ते । किञ्चित् किमपि कर्म शुभाशुभलक्षणं कार्यं कर्तुं विधातुमुचितं युक्तं न तथापि कर्माकर्तृत्वेऽपि उच्यतेऽस्माभिः किञ्चित् प्रतिपाद्यते । यदि चेत् । जातु कदाचित् । मम कर्म न । हन्त इति निश्चयेन । भुङ्क्ष्ये कर्मफलं । भुङ्क्ष्यामि । तर्हि भो ज्ञानिन् ! परं केवलं । दुर्भुक्त एव । बन्धनमन्तरेण तत्फलानुभवनाद् दुर्भोजकोऽसि भवसि न तु अस्माकं तत्फलानुभवनात् कर्मबन्ध इति । यदि उपभोगतः कर्मफलानुभवनाद् बन्धः कर्मसंश्लेषः । ते न स्यान्न भवेत् । तत् तर्हि । ते तव कामचारः कामं चरतीति कामचारः स्वेच्छाचारः किमस्ति ? अपि तु नास्ति । हे ज्ञानिन् ! ज्ञानं सन् ज्ञानस्वरूपेण भवन् सन् । वस तिष्ठ । अपरथा अन्यथा ज्ञानस्वरूपेण न स्थास्यसि चेत् । तदा ध्रुवं निश्चितं । बन्धं कर्मसंश्लेषमेषि प्राप्नोषि । कुतः ? स्वस्य आत्मनोऽपराधाज्ज्ञानाभावलक्षणदोषतः ॥ १५१ ॥

अर्थ :—हे ज्ञानी ! तुझे कभी कोई भी कर्म करना उचित नहीं है तथापि यदि तू यह कहे कि "परद्रव्य मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूं ।" तो तुझसे कहा जाता है कि हे भाई, तू खराब प्रकारसे भोगनेवाला है, जो तेरा नहीं है, उसे तू भोगता है यह महाखेद की बात है ! यदि तू कहे कि 'सिद्धान्त में यह कहा है कि परद्रव्य के उपयोग से बन्ध नहीं होता इसलिए भोगता हूँ ।' तो क्या तुझे भोगने की इच्छा है ? तू ज्ञानरूप होकर निवास कर, अन्यथा (यदि भोगने की इच्छा करेगा— अज्ञानरूप परिणमित होगा तो) तू निश्चयतः अपने अपराधसे बंध को प्राप्त होगा ॥ १५१ ॥

अथ कर्मयोजनं वियोजयति—

कर्त्तारं स्वफलेन यत् किल बलात् कर्मैव नो योजयेत् ।
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत् कर्मणः ॥
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बद्धचते कर्मणा ।
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥१५२ ।

टीका—किलेत्यागमोक्तौ । यत् प्रसिद्धं कर्म । बलात् हठात् । एव निश्चयेन । स्वफलेन स्वस्य स्वकीयस्य फलेन सुखदुःखरूपेण । कर्त्तारं पुरुषं । न योजयेन्न संयोजयेत् स्वफलभाजिनं न कुर्यादित्यर्थः । तर्हि कथं फलं प्राप्नोति । हीति स्फुटं । यत् कर्म कुर्वाणश्चेक्रीयमाणः सन् पुरुषः । कर्मणः शुभाशुभप्रकृतेः फलं सुखदुःखरूपं प्राप्नोति लभते । हेतुर्गर्भितविशेषणमाह फललिप्सुरेव फलं कर्मणः सुखदुःखरूपं फलं । लिप्सुर्लब्धुं प्राप्तुमिच्छुरेव नान्यः । तत् तस्माद्धेतोः । ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं सन् भवन् कर्मणा न बध्यते । किम्भूतः सन् । अपास्तरागरचनः अपास्ता निराकृता रागस्य रचना येन सः । हीति स्फुटं । कर्म क्रियाकाण्डं ज्ञानावरणादि वा कुर्वाणोऽपि वा निर्मापयन्नपि अकुर्वाणस्य का कथा मुनिर्ज्ञानवान् यतिः । पुनः किम्भूतः ? तत्फलपरित्यागैकशीलः तेषां कर्मणां फलमनुभवस्तस्य परित्यागे एकमद्वितीयं शीलं स्वभावो यस्य स रागद्वेषाभावात् ।। १५२ ।।

अर्थ :—कर्म ही उसके कर्त्ता को अपने फल के साथ बलात् नहीं जोड़ता (कि तू मेरे फल को भोग), फल की इच्छावाला ही कर्मको करता हुआ कर्म के फल को पाता है; इसलिए ज्ञानरूप रहता हुआ और जिसने कर्म के प्रति राग की रचना दूर की है ऐसा मुनि, कर्मफल के परित्यागरूप ही एक स्वभाववाला होने से, कर्म करता हुआ भी कर्मसे नहीं बँधता ।। १५२ ।।

अथ ज्ञानी न कर्म कुरुते—

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं ।
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो ।
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ।।१५३।।

टीका—इत्येवं । वयं ज्ञानार्थिनः । प्रतीमः प्रतीति कुर्म इति किं । येन ज्ञानिना पुंसा । फलं कर्मानुभागः । त्यक्तं ज्ञानभावाद्विमुक्तं, सः ज्ञानी । कर्म क्रियाकाण्डं ज्ञानावरणादि वा । न कुरुते न विधत्ते किन्तु विशेषोऽस्ति । अस्यापि ज्ञानिनोऽपि । कुतोऽपि बहिरभ्यन्तरकारणकलापात् । अवशेन अनीहितवृत्त्या । तत्प्रसिद्धं किञ्चिदपि अनिर्दिष्टं शुभाशुभं कर्म । आपतेत् आगच्छेत् । तु पुनः तस्मिन् कर्मणि । आपतिते उदयागते सति । ज्ञानी पुमान् तत्परिहारार्थं किं कर्म क्रियाकाण्डं कुरुते विधत्ते अथवा किं न कुरुते किं न विधत्ते । इत्येवं । कर्तव्याकर्तव्यं । कोऽपरः पुरुषो जानाति वेत्ति तत्स्वरूपस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् । किम्भूतो ज्ञानी ? अकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितः अकम्पं केनापि

चालयितुमशक्यत्वादचलं परममुत्कृष्टं । तच्च तज्ज्ञानं च तस्य स्वभावे स्वरूपे स्थितो लयं प्राप्तः ॥ १५३ ॥

अर्थ :–जिसने कर्मका फल छोड़ दिया है वह कर्म करता है ऐसी प्रतीति तो हम नहीं कर सकते किन्तु वहां इतना विशेष है कि–उसे (ज्ञानी को भी) किसी कारण से कोई ऐसा कर्म अवशतासे (उसके वश बिना) आ पड़ता है । उसके आ पड़ने पर भी जो अकम्प परमज्ञानस्वभावमें स्थित है ऐसा ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है ? ॥ १५३ ॥

अथ सम्यग्दृष्टेः साहसं कलयति—

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परम् ।
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत् त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ॥
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयम् ।
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच् च्यवन्ते न हि ॥१५४॥

टीका—क्षमन्ते सहन्ते समर्था भवन्तीत्यर्थः । किं कर्तुं ? इदं वक्ष्यमाणलक्षणं साहसं लक्षणया धैर्यं । के ? सम्यग्दृष्टयः निश्चयसम्यक्त्वं प्राप्ताः । एव निश्चयेन । किम्भूतं साहसं ? परमुत्कृष्टम् । परं केवलमिति व्याख्येयं वा, यद् यस्मात् कारणात् । अमी सम्यग्दृष्टयः । हि निश्चितं । न च्यवन्ते न क्षरन्ते । कुतः ? बोधाज्ज्ञानादुपलक्षणात् ध्यानतपोऽनुष्ठानादेः ज्ञानं मुक्त्वा नान्यत्र वर्तन्ते । क्व सति ? वज्रेऽशनौ पतति मूर्ध्नि पातं कुर्वति सत्यपि । कथम्भूते ? भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि भयेन तद्घोषपाताद्युत्थभीत्या चलत् स्वस्थानादितस्ततः परिलुठत् च तत् त्रैलोक्यं च भुवनत्रयवासी जनस्तेन मुक्तस्त्यक्तोऽध्वा मार्गः स्थानं च यस्मिन् तस्मिन् । जानन्तो निश्चिन्वन्तः । कं ? स्वमात्मानं । कथं ? स्वयं स्वेन आत्मना । किम्भूता अमी कीदृशं स्वं ? अवध्यबोधवपुषं अवध्या न केनापि हन्तुं शक्यते । शाश्वत इत्यर्थः स चासौबोधश्च स एव वपुः शरीरं यस्य तं । पूर्वं किं कृत्वा ? विहाय त्यक्त्वा । कां ? शङ्कां पराशङ्कां सर्वां समस्तां इहलोकादिभवाम् । एव निश्चितं । कया ? निसर्गनिर्भयतया निसर्गेण स्वभावेन निर्भयतया साध्वसाभावतया ॥१५४॥

अर्थ :–जिसके भय से चलायमान होते हुए तीनों लोक अपने मार्ग को छोड़ देते हैं ऐसा वज्रपात होने पर भी ये सम्यग्दृष्टि जीव स्वभावतः निर्भय होने से समस्त शंकाको छोड़कर स्वयं अपने को (आत्माको) जिसका ज्ञानरूपी शरीर अवध्य है ऐसा

जानते हुए ज्ञानसे च्युत नहीं होते। ऐसा परम साहस करने के लिए मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ हैं ॥ १५४ ॥

अथ भयसप्तकनिवारणार्थं ज्ञानिनः इहपरलोकभयमुत्त्रस्यति–

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यं लोकयत्येककः ॥
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो ।
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति । १५५॥

टीका—एष शास्त्रादिना प्रसिद्धो लोकः श्रेणिघनप्रचयरूपस्त्रिलोकः । शाश्वतो नित्य इतीश्वरकर्तृत्व निरस्तमविनाशित्वं च सूचितं । एकोऽद्वितीय इत्यनेन ब्रह्मणः प्रतिलोमानेकब्रह्माण्ड-प्रतिपादनं प्रत्याख्यात । विविक्तात्मनः सर्वज्ञस्य सकलव्यक्तः समस्तो विशदः इत्यनेन तस्य गहनत्व-मपास्तं । अयं चिज्ज्ञानं स्वयमेव स्वभावादेव यं प्रसिद्धं लोकं भुवनत्रयं केवलं परं लोकयति पश्यति । कीदृक्षः ? एककः शरीरदारदरकागाराहारादिनिरपेक्षः । एक एवायं प्रत्यक्षः चराचररूपो लोको लोक-निवासी जनः त्रिलोको वा इहलोक इत्यर्थः । अपरस्त्वत्तो भिन्नः । तव ते न भवेत् । तदपरस्तस्मादिह-लोकादपरः परलोकस्तस्यात्मनो नास्ति । तद्भीस्ताभ्यामिहपरलोकाभ्यां भीर्भयं । कुतः कस्मात् न कुतोऽपि तयोरात्मनो भिन्नत्वव्यापनात् । स ज्ञानी । सदा नित्यं । स्वयं स्वरूपेण । सहजं स्वाभाविकं । ज्ञानं बोधं । विन्दति जानाति । सततं निरन्तरं । निश्शङ्क इहपरलोकभयशंकारहित इति भयद्वयस्य ज्ञानिनो निरासः ॥१५५॥

अर्थ :–यह चित्स्वरूप लोक ही भिन्न आत्मा का (परसे भिन्नरूप परिणमित होते हुए आत्माका) शाश्वत, एक और सकलव्यक्त (सर्वकाल में प्रकट) लोक है; क्योंकि मात्रचित्स्वरूप लोक को यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है–अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोकही तेरा है, उससे भिन्न दूसरा कोई लोक-यह लोक-या परलोक-तेरा नहीं है ऐसा ज्ञानी विचार करता है, जानता है, इसलिये ज्ञानीको इस लोक का तथा परलोक का भय कहाँ से हो ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का (अपने ज्ञान स्वभावका) सदा अनुभव करता है ॥ १५५ ॥

अथ वेदनाभयं बध्नाति —

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते ।
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदाऽनाकुलैः ॥

नैवाऽन्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५६॥

टीका—यत् प्रसिद्धं, ज्ञानं स्वयं वेद्यते ज्ञायते । कैः ? अनाकुलैराकुलतारहितैर्ज्ञानिभिः । एषा प्रसिद्धा । एका अद्वितीया वेदना, वेद्यते ज्ञायते आत्मा अनया इति वेदना आत्मानुभवं एव नान्या । किम्भूतं ? अचलं निश्चलं । पुनः कीदृक्षं ? एकं द्रव्यार्पणात् । तत्कुतः ? निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलाद् वेद्यते ज्ञायत इति वेद्यं स्वरूपं वेदयतीति वेदक आत्मा द्वन्द्वः । निर्भेदेन यो वेद्य स एव वेदक इत्येकत्वेन उदितौ उदयं प्राप्तौ वेद्यवेदकौ तयोर्बलं तस्मात् । हि स्फुटं । अन्य आत्मनः सकाशात् । एव निश्चयेन, आगतवेदना पुद्गलादागतवेदना रोगो न भवेदात्मनो भिन्नत्वादेव, ज्ञानिनः पुंसः । तद्भीर्वेदनाभयं । कुतः ? न कुतोऽपि । तुर्यं चरणं पूर्ववत् ॥१५६॥

अर्थ :–अभेदस्वरूप वर्तते हुए वेद्यवेदक के बलसे एक अचलज्ञान ही स्वयं निराकुल पुरुषोंके द्वारा सदा वेदन में आता है, यह एक ही वेदना (ज्ञानवेदन) ज्ञानियों के है। (आत्मा वेदक है और ज्ञान वेद्य है ।) ज्ञानी के दूसरी कोई आगत (पुद्गल से उत्पन्न) वेदना होती ही नहीं इसलिये उसे वेदना का भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है ॥ १५६ ॥

अथात्राणभयं निरस्यति—

यत् सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति–
र्ज्ञानं सत् स्वयमेव तत् किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत् तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५७॥

टीका–इत्यमुना प्रकारेण, वस्तुस्थितिर्वस्तुव्यवस्था । व्यक्ता स्पष्टा । इति किं ? यद् वस्तु सत् द्रव्यरूपेण सत्ताप्रतिबद्धं । तत् वस्तु नियतं निश्चितं । नाशं विनाशं । नोपैति न प्राप्नोति । द्रव्यार्पणया वस्तुनो नित्यत्वाभ्युपगमात् । तत् प्रसिद्धं ज्ञानं । स्वयमेव स्वरूपत एव स्वस्वरूपचतुष्टयापेक्षयैव न परचतुष्टयापेक्षया । सत् सत्स्वरूपं विद्यमानं । किल अहो. ततः स्वरूपेणास्तित्वात् । अपरैः कौक्षेयककुन्तमुद्गराश्वगजपदातिस्वजनादिभिः पुद्गलपर्यायैः । अस्य ज्ञानस्य किं त्रातं त्राणं किं रक्षणं न किमपीत्यर्थः । अतः कारणात् । अस्य ज्ञानस्य । किञ्चन किमपि अत्राणं । कुतोऽपि रक्षणं न भवेत् । ज्ञानिनस्तद्भीरत्राणभयं कुतो न कुतोऽपि शेषं पूर्ववत् ॥१५७॥

अर्थ :–जो सत् है वह नष्ट नहीं होता ऐसी वस्तुस्थिति नियमरूप से प्रकट है। यह ज्ञान भी स्वयमेव सत् (सत्स्वरूप वस्तु) है (इसलिये नाश को प्राप्त नहीं होता), फिर पर के द्वारा उसका रक्षण कैसा ? इस प्रकार (ज्ञान निजसे ही रक्षित है अतः) उसका किंचित् मात्र भी अरक्षण नहीं हो सकता, इसप्रकार जानने वाले ज्ञानी को अरक्षा का भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निश्शंक वर्तता हुआ सहजज्ञानका सदा अनुभव करता है ॥ १५७ ॥

अथास्यागुप्तिभयं गोपयति—

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपेण यच्-
छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः ॥
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत् तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ।
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५८॥

टीका—किल इत्यागमोक्तौ । वस्तुन आत्मादिद्रव्यस्य । यत् स्वमात्मीयं रूपं स्वरूपं । अस्ति विद्यते । सा परमा निस्सीमा गुप्तिर्गोपनं स्वरूपान्तरेण गोपनाभावात् । कोऽपि कश्चिदपि । परः पुद्गलादिः प्रवेष्टुं ज्ञानस्वरूपे प्रवेशं कर्तुं शक्तः समर्थः किं ? अपि तु न समर्थः । स्वरूपे स्वरूपान्तरस्य प्रवेशाभावात् । च पुनः । ज्ञानं नुरात्मनोऽकृतं स्वाभाविकं स्वरूपं स्वभावः स्वरूपं द्वेधा कृतमकृतं च । कृतं तावन्मतिर्ज्ञानादिस्वरूपमात्मनः । दण्डी देवदत्त इत्यादिवत् पुद्गलादिभिः क्रियमाणत्वादकृतं ज्ञानसामान्यं । अग्नेरौष्ण्यं च अतः कारणादस्यात्मनः । काचन काऽपि निर्दिष्टा वा अगुप्तिरगोपनं न भवेत् । तद्गोपकस्य चिद्भावात् तद्भीस्तस्या अगुप्तेर्भी भयं कुतः ? न कुतोऽपि, शेषं पूर्ववत् ॥ १५८ ॥

अर्थ :–वास्तव में वस्तु का स्वरूप ही (निजरूप ही) वस्तु की परम गुप्ति है क्योंकि स्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता और अकृतज्ञान (जो किसी के द्वारा नहीं किया गया है ऐसा स्वाभाविकज्ञान–) पुरुषका अर्थात् आत्मा का स्वरूप है; (इसलिये ज्ञान आत्मा की परम गुप्ति है।) इसलिए आत्मा की किंचित् मात्र भी अगुप्तता न होने से ज्ञानी को अगुप्ति का भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का सदा अनुभव करता है ॥ १५८ ॥

अथ ज्ञानिनो मरणभयं हरति—

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो ।
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ॥
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत् तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ।
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५६॥

टीका—प्राणोच्छेदं पञ्चेन्द्रियमनोवचनकायोच्छ्वासायुर्लक्षणानामुच्छेदं विनाशं मरणं पञ्चत्वं, उदाहरन्ति प्रतिपादयन्ति पूर्ववृद्धा आबालगोपालादयश्च । अस्यात्मनश्चिद्रूपस्य । किल निश्चितं सत्तादिप्राणत्रयाहारकः किलशब्दः । ज्ञानं बोधः । प्राणाः असवस्तत् ज्ञानं स्वयमेव स्वरूपेणैव, जातुचित् कदाचिदपि कालत्रयेऽपि । नोच्छिद्यते नोच्छेदं याति द्रव्यार्पणया न विनश्यतीत्यर्थः । कया ? शाश्वततया नित्यत्वादतः कारणात् । तस्यात्मनः । किञ्चन किमपि । मरणं प्राणोच्छेदं न भवेत् । ज्ञानलक्षणानां प्राणानामुच्छेदाभावाज्ज्ञानिनः पुंसस्तद्भीर्मरणभयं कुतो न कुतोऽपि । शेषं पूर्ववत् ॥ १५६ ॥

अर्थ :—प्राणों के नाश को (लोग) मरण कहते हैं । निश्चय से आत्मा के प्राण तो ज्ञान है । वह शाश्वत है उसका कदापि नाश नहीं होता अतः आत्मा का मरण किंचित् मात्र भी नहीं होता । ऐसा जानने वाले ज्ञानी को मरण का भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निश्शंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का सदा अनुभव करता है ॥ १५६ ॥

अथाकस्मिकभयं कुन्थति—

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत् स्वतो ।
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ॥
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ।
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१६०॥

टीका—किलेत्यागमोक्तौ । यावत्पर्यन्तं । तत् प्रसिद्धं । एकं कर्मादिद्वितीयरहितं । ज्ञानं बोधः । स्वतः स्वभावेन । सिद्धं निष्पन्नं । कृतकृत्यं च । किम्भूतं ? अनाद्यनन्तं उत्पत्तिविनाशरहितं पुनः किम्भूतं ? अचलं अक्षोभ्यं । हि स्फुटं । तावत्पर्यन्तमिदं ज्ञानं सदैवाविच्छिन्नं भवेत् । अत्र ज्ञाने । द्वितीयोदयो द्वितीयस्य द्रव्यभवनायतनाहिदर्शनादिपौद्गलिकस्योदयो न भवेत् । तत् तस्मात्

कारणात् । अत्र आत्मनि । किञ्चन किमपि आकस्मिकमकस्मात् सहसा भवमाकस्मिकं भयं न भवेत् । कस्य ? ज्ञानिनः पुंसः । तद्भीः तस्याकस्मिकस्य भीर्भयं कुतो न कुतोऽपि । सः ज्ञानी । निश्शङ्कः सप्तभयशङ्कारहितः सन् । सततं नित्यं । सहजं स्वाभाविकं ज्ञानं । सदा नित्य । विन्दति जानाति । इति ज्ञानिन इहपरलोकवेदनाऽत्राणागुप्तिमरणाकस्मिकभयसप्तकाभावात् सदा निर्जरैव ।। १६० ।।

अर्थ :—यह स्वतः सिद्ध ज्ञान एक है, अनादि है, अनन्त है, अचल है । वह जब तक है तब तक सदा ही वही है, उसमें दूसरे का उदय नहीं है । इसलिये इस ज्ञान में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता । ऐसा जाननेवाले ज्ञानीको अकस्मात् का भय कहां से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है ।। १६० ।।

अथ सम्यग्दृष्टे र्निर्जराप्रकारं प्रणीते—

टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः ।
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।।
तत्तस्यास्मिन् पुनरपि मनाक् कर्मणो नास्ति बन्धः ।
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ।।१६१।।

टीका – यत् यस्मात्कारणात् । इह जगति । घ्नन्ति विनाशयन्ति । किं ? समस्तं सकलं कर्म मिथ्यात्वादि । कानि ? लक्ष्माणि चिन्हानि संवेगनिर्वेदनिन्दागर्होपशमभक्तिवात्सल्यानुकम्पालक्षणानि निश्शङ्कितादीनि वा । कस्य ? सम्यग्दृष्टेः निश्चयसम्यक्त्वधारिणः । किम्भूतस्य ? टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः टङ्कोत्कीर्णश्चासौ स्वश्च आत्मा तस्य रसोऽनुभवस्तेन निचितं युक्तं तच्च तज्ज्ञानं च तस्य सर्वस्वं साकल्यं भजति सेवते इति टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाक् तस्य । तत् तस्मात्कारणात् । कर्मघातनादनन्तरं तस्य ज्ञानिनः । पुनर्भूयः । अस्मिन् पूर्वोक्तस्वरूपे । मनागपि एकांशेनापि । कर्मणो बन्धः संश्लेषो नास्ति न विद्यते । तत् कर्म पूर्वोपात्तं पूर्वं सम्यग्दृष्टेः प्रागुपात्तं बद्धं चानुभवतः सुखदुःखादिरूपेणानुभुञ्जतः । निश्चितं नियमेन निर्जरैव । खलु निर्जरा भवत्येव कर्मणां ।। १६१ ।।

अर्थ :—टंकोत्कीर्ण निजरस से परिपूर्ण ज्ञानके सर्वस्वको भोगनेवाले सम्यग्दृष्टि के जो निःशंकित आदि चिह्न हैं वे समस्त कर्मों को नष्ट करते हैं इसलिये कर्मका उदय वर्तता होने पर भी सम्यग्दृष्टि को पुनः कर्म का बन्ध किंचित् मात्र भी नहीं होता, परन्तु जो कर्म पहले कर्म था उसके उदय को भोगने पर उसको नियम से उस कर्म की निर्जरा ही होती है ।। १६१ ।।

अथ सम्यग्दृष्टेरङ्गानि लक्षयति—

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः ।
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन ॥
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तम् ।
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य ॥१६२॥

टीका—सम्यग्दृष्टिरात्मश्रद्धानलक्षणसम्यक्त्वपरिणतो मुनिः । स्वयं ज्ञानरूपेण । ज्ञानं भूत्वा ज्ञानमयो भूत्वा । नटति नृत्यं करोति । ज्ञानेन सह तन्मयत्वं प्राप्नोतीति यावत् । किं कृत्वा ? गगनाभोगरङ्गं गगनं व्योम तस्याऽऽभोगः परिपूर्णता स एव रङ्गो नाट्यावताररङ्गभूमिस्तं । विगाह्य गाहयित्वा ज्ञानेन सर्वं गगनमण्डलमभिव्याप्य हर्षतो नृत्याविरोधात् । कुतः ? अतिरसात् स्वानुभवनोत्थरसोद्रेकेण । अन्योऽपि यो नटति स रङ्गमवगाह्य शृङ्गारादिनवरसोद्रेकत एव इत्युक्तिलेशः । तु पुनः । प्राग्बद्धं प्राक् सम्यक्त्वोत्पत्तेः पूर्वं बद्धं कर्मरूपेणात्मसात्कृतं । क्षयं विनाशमुपनयन् प्रापयन् सन् । केन ? निर्जरोज्जृम्भणेन असंख्यातगुणनिर्जराया उज्जृम्भणं उत्सर्पणं प्राकट्यं तेन । अष्टाभिर्वसुसंख्यैरङ्गैर्निश्शङ्कितादिसम्यक्त्वावयवैः सङ्गतो युक्तः । किम्भूतैः ? निर्जैर्निश्चयसम्यक्त्वसम्बन्धीयैः । इति पूर्वोक्तप्रकारेण । नवं नवीनम् । बन्धं कर्मबन्धं, रुन्धन् निवारयन् । प्रत्यधिकारं नटतीत्यादिशब्दो नाटकत्वमुद्योतयति ॥ १६२ ॥

अर्थ :—इसप्रकार नवीन बन्ध को रोकता हुआ और (स्वयं) अपने आठ अंगों से युक्त होने के कारण निर्जरा प्रकट होने से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं अतिरससे (निजरस में मस्त हुआ) आदि-मध्य-अन्त रहित (सर्वव्यापक, एकप्रवाहरूप धारावाही) ज्ञानरूप होकर आकाश के विस्ताररूपी रंगभूमि में अवगाहन करके (ज्ञान द्वारा समस्त गगनमण्डल में व्याप्त होकर) नृत्य करता है ॥ १६२ ॥

इति श्रीसमयसारस्थपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां षष्ठोऽङ्कः ॥ ६ ॥

❖

अथ बन्धाधिकारः

ननु संवरनिर्जरे निरन्तरं ज्ञानिनो निरूपिते पुनः कस्य तु ते द्वे ? प्रतिषेधस्य विधिपूर्वकत्वादिति विचिन्त्य बन्धतत्त्वं निबध्यते—

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत् ।
क्रीडन्तं रसभारनिर्भरमहानाट्येन बन्धं धुनत् ॥
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद् ।
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥१६३॥

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम्—

वारयति निर्जराख्यं तामस्यं भव्यजीवनिचयस्तु ।
अमृतेन्दुवाङ्मयूखैः श्रीकुन्दसमैः परैः सारैः ॥ १ ॥

टीका—समुन्मज्जति समुच्छलति चकास्तीत्यर्थः । किं ? ज्ञानमात्मबोधः । किम्भूतं ? निरुपधि निर्गत उपाधिर्ममत्वादिविकृतिर्यस्मात्तत् । पुनः कीदृक्षं ? अनाकुलं उपाधिविजृम्भितचिन्ताच्युतं । पुनः किम्भूतं ? धीरोदारम् धीरं धैर्यगुणयुक्तं तच्च तदुदारमुत्कटं च । पुनः कथम्भूतं ? सहजावस्थां स्फुटं नाटयत् सहजावस्थां स्वाभाविकदशां स्फुटं व्यक्तं यथा भवति तथा नाटयत् प्रकाशयत् धातूनामनेकार्थत्ववचनाद् द्योतकत्वमत्र । पुनः कथम्भूतं ? आनन्दामृतनित्यभोजि आनन्दं स्वात्मोत्थं सुखं तदेवामृतं सुधां नित्यमनवच्छिन्नतया भुनक्तीत्येवं शीलं । पुनः कथम्भूतं ? बन्धं धुनत् बन्धं कर्माश्लेषं धुनत् स्फोटयत् । किम्भूतं बन्धं ? क्रीडन्तं स्वेच्छया सर्वत्र क्रीडया परिणतं । केन ? रसभारनिर्भरमहानाट्येन रसस्य कर्मानुभागस्य भारोऽतिशयः स एव निर्भरमतिमात्रं महानाट्यं महानटनं तेन । किं कृत्वा ? सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा सकलं समस्तं जगल्लोकनिवासिजनवृन्दं प्रमत्तं मदाक्रान्तं कृत्वा विधाय । केन ? रागोद्गारमहारसेन रागस्य उद्गार उद्गिरण स एव महारसः मैरेयादिरूपस्तेन । अन्योऽपि यः पर मदिरया प्रमाद्य नाट्ये नाटयतीत्युक्तिश्लेषः ॥ १६३ ॥

अर्थ :—जो (बन्ध) राग के उदयरूपी महारस (मदिरा) के द्वारा समस्त जगत को प्रमत्त (मतवाला) करके, रसभावसे (रागरूपी मतवालेपनसे) भरे हुए महानृत्य के द्वारा खेल (नाच) रहा है ऐसे बन्ध को उड़ाता-दूर करता हुआ, ज्ञान उदय को प्राप्त होता है । वह ज्ञान आनन्दरूपी अमृत का नित्य भोजन करने वाला है,

अपनी ज्ञातृक्रियारूप सहज अवस्था को प्रकट नचा रहा है, धीर है, उदार (अर्थात् महान् विस्तारवाला, निश्चल है) है, अनाकुल है, उपाधि रहित (अर्थात् परिग्रह रहित या जिसमें कोई परद्रव्य सम्बन्धी ग्रहण-त्याग नहीं है, ऐसा) है ॥ १६३ ॥

अथ कथं मुच्यते जगतः कर्मात्मकत्वादिति वदन्तं प्रत्याचष्टे –

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा ।
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत् ॥
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः ।
स एव किल केवल भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥१६४॥

टीका—ननु जगत् त्रिभुवनं । कर्मबहुलं कर्मयोग्यपुद्गलैर्बहुलं प्रचुरं तन्न बन्धकृत् बन्धं करोतीति बन्धकृद् बन्धकारणं न भवेदन्यथा सिद्धानामपि तत्प्रसङ्गात् तत्र कर्मपुद्गलानामवस्थानाविशेषात् । अथ कायवाङ्मनसां कर्म बन्धकृन्न चलनात्मकानां कर्मणां बन्धहेतुत्वाभावात् । अपरथा यथाख्यातसंयतानामपि कर्मबन्धप्रसङ्गात् । ननु वा अथवा तत्कारणं मा भवतु नैककरणानि अनेक—स्पर्शनादीन्द्रियाणां बन्धहेतुत्वं । तन्नान्यथा केवलिनामपि तत्प्रसङ्गात् तस्य तत्सद्भावात् । ननु चिदचिद्वधश्चिदचितां सचित्ताचित्तानां वस्तूनां वधो घातो बन्धकृत् तन्न तस्य तन्निमित्तत्वाघटनादन्यथा समितितत्पराणामपि तत्प्रसङ्गात् । ननु सर्वस्य बन्धनिमित्तत्वनिषेधे जगतो निर्बन्धत्वमेवेतिचेन्न तत्सद्भावात् तथाहि किल इत्यागमोक्तौ । एव निश्चयेन । नृणां प्राणिनां । केवलं परं । स रागयोगोऽनिर्दिष्टो बन्धहेतुर्बन्धस्य कारणं भवत्यस्ति । स को य उपयोगभूरूपयोगस्य ज्ञानदर्शनलक्षणस्य भूः स्थानं आत्मेत्यर्थः । रागादिभी रागद्वेषमोहैः सह ऐक्यमेकतामुपयाति प्राप्नोति । स एव बन्धकारणं ॥१६४॥

अर्थः—कर्मबन्ध को करनेवाला कारण न तो बहुकर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है, न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् मन वचन काय की क्रियारूप योग) है, न अनेक प्रकार के करण हैं और न चेतन अचेतन का घात है । किन्तु 'उपयोगभू' अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐक्य को प्राप्त होता है वही एकमात्र (मात्र रागादिक के साथ एकत्व प्राप्त करना वही–) वास्तव में पुरुषों के बन्धकारण हैं ॥ १६४ ॥

अथ कर्मबहुलादीनां कर्महेतुत्वं मीमांसते—

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत् ।
तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादन चास्तु तत् ॥

रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन् केवलं ।
बन्धं नैव कुतोऽप्यु-पैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥१६५॥

टीका—स. प्रसिद्धो लोकः श्रेणीघनप्रदेशमात्रं त्रिभुवनं । कर्म ततः कर्मयोग्यपुद्गलैस्ततो व्याप्तोऽस्तु भवतु । तथाप्यात्मनः कर्मबन्धो न । च पुनः । तत् प्रसिद्धं कर्म कायवाङ्मनोयोगः परिस्पन्दात्मकं आत्मप्रदेशपरिस्पन्दस्वरूपमस्तु भवतु तथाप्यात्मनो न बन्धः । अस्मिन्नात्मनि, तानि प्रसिद्धानि करणानि इन्द्रियाणि, सन्तु भवन्तु । च पुनः । तत् प्रसिद्धं चिदचिद्व्यापादनं चित् सचित्तोऽचित् प्रासुकः चिच्चाचिच्च तयोर्व्यापादनं पीडनं विनाशनमस्तु । अहो इति आश्चर्ये । तथाऽपि अयं सम्यग्दृगात्मा सम्यग्दर्शनपरिणतश्चिद्रूपः । कुतोऽपि जगत्कर्मकरणचिदचिद्घातादेरन्यतरादपि, ध्रुवं निश्चितं । बन्धं कर्मबन्धं, नैव उपैति न प्राप्नोति । किम्भूतः सन् ? केवलं रागादिनिरपेक्षं ज्ञानं बोधमयो भवन् जायमानः । पुनः उपयोगभूमिं उपयोगस्य ज्ञानदर्शनस्य भूमिरात्मा तं "उपयोगो लक्षणमिति सूत्रकार-वचनात्" । रागादीन् रागद्वेषमोहाननयनप्रापयन् । रागमयमात्मानमकुर्वन्, न कुतोऽपि बध्नाति अयमात्मेति तात्पर्यं ॥ १६५ ॥

अर्थः—इसलिए वह (पूर्वोक्त) बहु कर्मों से (कर्मयोग्य पुद्गलों से) भरा हुआ लोक है सो भले रहो वह मन-वचन-काय का चलनस्वरूप कर्म (योग) है सो भी भले रहो, वे (पूर्वोक्त) करण भी उसके भले रहें और वह चेतन-अचेतन का घात भी भले हो, परन्तु अहो ! यह सम्यग्दृष्टि आत्मा, रागादिको उपयोगभूमि में न लाता हुआ केवल (एक) ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ किसी भी कारण से निश्चयतः बन्धको प्राप्त नहीं होता ॥ १६५ ॥

अथ तथापि ज्ञानिनां निरर्गलत्वं विद्वेषयति–

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां ।
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः ॥
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां ।
द्वयं नहि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥१६६॥

टीका—तथापि कर्मबहुलकर्मकरणादीनामबन्धकत्वे । रागादीनां बन्धहेतुकत्वे च सत्यपि । केषां ? ज्ञानिनां पुंसां । निरर्गलं निरंकुश । चरितुं प्रवर्तयितुं । न इष्यते न वांछ्यते । किलेति कस्मात् । सा प्रसिद्धा निरर्गला निरंकुशा । व्यापृतिः सर्वत्र कायादिव्यापारे प्रवृत्तिः । तदायतन तस्य बन्धस्य

आयतनं स्थानं। एव निश्चयेन। केषां? ज्ञानिनां पुंसां। तत् प्रसिद्धं। अकामकृतकर्म अकामेन अवांछया कृतं निष्पादितं कर्म क्रिया कायवाङ्मनसां कर्म। अकारणं बन्धाहेतुकं। मतं कथितं पूर्वाचार्यैः। हीति यस्मात्। करोति क्रिया जानाति लक्षणा क्रिया एतद्द्वयं च किमु कथं न विरुध्यते विरोधं प्राप्नोतीत्यर्थः॥ १६६॥

अर्थः—तथापि (लोक आदि कारणों से बन्ध नहीं कहा और रागादिक से ही बन्ध कहा है तथापि) ज्ञानियों को निरर्गल प्रवर्तना योग्य नहीं है, क्योंकि वह निरर्गल प्रवर्तन वास्तव में बन्धका ही स्थान है। ज्ञानियों के वाञ्छा रहित कर्म (कार्य) होता है, वह बन्धका कारण नहीं कहा है क्योंकि जानता भी है और (कर्मको) करता भी है—ये दोनों क्रियाएँ क्या विरोधरूप नहीं हैं? ॥ १६६ ॥

अथ कर्तृज्ञात्रोः पृथक्त्वं विधीयते—

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु।
जानात्ययं न खलु तत् किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमय-मध्यवसायमाहु—
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः॥१६७॥

टीका—खल्विति निश्चयार्थे। यश्चिद्रूपो जानाति स्वपरस्वरूपं वेत्ति स चिद्रूपो न करोति कर्मादि न विधत्ते। यस्तु कश्चिज्ज्ञानादन्यः करोति कर्म निर्मापयति। तु विशेषे। अयं कर्मकर्ता न जानाति न परिच्छिनत्ति। तस्याज्ञानरूपत्वात्। किलेति निश्चितं। तत् करोति क्रियावच्छिन्नं कर्मरागा राग एव करोतीत्यर्थः। तु पुनः। रागमध्यवसायं आहुः। रागस्य कषायानुभागाध्यवसायेति संज्ञां प्रतिपादयन्ति जिनाः। इति स्वरूपविरचित्वं संज्ञाया निरस्तं। कीदृक्षं रागं? अबोधमयमज्ञान-स्वरूपं। हन्मि हन्ये जीवामि जीव्येऽहमनेनेत्यादीनामज्ञानरूपत्वात्। स रागो नियतं निश्चितं। कस्य भवति? मिथ्यादृशो मिथ्यादृष्टेर्नत्वन्यस्य सम्यग्दृष्टेः। च पुनः। स रागो बन्धहेतुः कर्मबन्धकारणं॥ १६७॥

अर्थः—जो जानता है सो करता नहीं और करता है सो जानता नहीं। करना तो वास्तवमें कर्मका राग है और राग को (मुनियों ने) अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है; जो कि वह (अज्ञानमय-अध्यवसाय) नियम से मिथ्यादृष्टि के होता है और वह बन्धका कारण है॥ १६७॥

अथाहं मरणादीनां कारक इत्यभिप्रेतस्य मिथ्यादृष्टित्वं दरीदृश्यते पद्यद्वयेन-

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यं ॥
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य ।
कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यं ॥१६८॥
अज्ञानमेतदधिगम्य परात् परस्य ।
पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यं ॥
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते ।
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥१६९॥

टीका—इह जगति । एतद् वक्ष्यमाणमज्ञानं ज्ञानभावव्यतिरिक्तं । एतत् किं ? यत्तु परोऽन्यः पुमान् । परस्य ततोऽन्यस्य कस्यचिदिष्टानिष्टस्य पुंसः । मरणजीवितदुःखसौख्यं मरणं प्राणवियोजनं मरणं च जीवितं च दुःखं च सौख्यं च तेषां समाहारो मरणजीवितदुःखसौख्यं कुर्याद् यो मन्यते । हिनस्मि जीवयामि दुःखिनं करोमि सुखिनं करोमि इति क्रियां निर्मापयेत् । एतदज्ञानं । कुतः ? नियतं निश्चितं । सर्वं समस्तं । मरणजीवितदुःखसौख्यं सदैव संसारदशायां । भवति जायते । कुतः ? स्वकीयकर्मोदयात् स्वकीयस्यात्मोपार्जितस्य कर्मण उदयादायुःक्षयेण जीवानाम् मरणं सत्यायुषि जीवितव्यं । आयुर्हरणाभावात् कथं तत्परेण कृतं । शुभाशुभकर्मोदयात् सुखितदुःखिता जीवा भवन्ति । तत्कर्मदानाभावात् कथं ते तादृशाः कृताः परेणेति भावः ॥ १६८ ॥

टीका—ते पुरुषाः । नियतं निश्चितं । मिथ्यादृशो मिथ्यादृष्टयो भवन्ति जायन्ते । किम्भूताः? आत्महन आत्मानं घ्नन्तीति आत्महनः स्वरूपघातकाः स्वस्वरूपाद्विपर्यस्तत्वात् । पुनः कथम्भूताः ? कर्माणि चिकीर्षवः । कर्माणि शुभाशुभानि चिकीर्षवः स्वसात्कर्तुमिच्छवः । केन ? अहंकृतिरसेन मयाऽयं हतो जीवितश्चेत्यादिरूपेणाहंकाररसेन । ते के ? ये नराः । पराद् भिन्नात् परस्य ततोऽन्यस्य । पश्यन्ति ईक्षन्ते । किं ? मरणजीवितदुःखसौख्यं । किं कृत्वा ? एतत् पूर्वोक्तं मयाऽयं हत इत्यादिरूपमज्ञानमधिगम्य प्राप्य ॥ १६९ ॥

अर्थः—इस जगतमें जीवों का मरण, जन्म, दुःख सुख सब सदैव नियम से अपने कर्मोदय से होता है अतः यह मानना तो अज्ञान है कि—'दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दुःख सुखको करता है ।' ॥१६८॥

अर्थः—इस (पूर्वकथित मान्यतारूप) अज्ञानको प्राप्त करके जो पुरुष परसे परके मरण, जीवन, दुःख सुखको देखते हैं अर्थात् मानते हैं, वे पुरुष—जो इसप्रकार अहंकाररससे कर्म करनेके इच्छुक हैं—अर्थात् 'मैं इन कर्मोंको करता हूं।' ऐसे अहंकाररूपी रस से जो कर्म करने की—मारने जिलानेकी, सुखी दुःखी करने की वांछा करनेवाले हैं) वे नियम से मिथ्यादृष्टि हैं—अपने आत्माका घात करनेवाले हैं ॥१६९॥

अथाध्यवसायस्य बन्धहेतुत्वं पापठ्यते—

मिथ्यादृष्टेः स एवाऽस्य बन्धहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥१७०॥

टीका—अस्य मिथ्यादृष्टेः । य एव प्रसिद्धोऽध्यवसायः । अहं परान् हन्मीत्यादिरूपः परिणामः स एव अध्यवसाय एव बन्धहेतुः कर्मबन्धकारणं । कुतः ? विपर्ययाज्ज्ञानाद् विपर्ययस्वभावत्वादस्य मिथ्यादृशोऽध्यवसायो बन्धहेतुः । कथं ? यतोऽयं अध्यवसायः । अज्ञानात्मा अज्ञानमेव आत्मा स्वरूपं यस्य स दृश्यते अवलोक्यते ॥ १७० ॥

अर्थः—मिथ्यादृष्टिके जो यह अज्ञानस्वरूप अध्यवसाय दिखाई देता है वह अध्यवसाय ही विपर्ययस्वरूप (मिथ्या) होनेसे उस मिथ्यादृष्टि के बन्धका कारण है ॥ १७० ॥

अथाध्यवसायमाहात्म्यमारभते—

अनेनाध्यवसानेन निष्फलेन विमोहितः ।
तत् किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥१७१॥

टीका—एव निश्चयेन । तद् वस्तु । किञ्चनापि किमपि । महदल्पं वा नास्ति न विद्यते । यदात्मा जीव आत्मानं स्वकीयमध्यवसायेनैव न करोति न विधत्ते । किम्भूतः ? अनेन हन्मीत्यादिरूपेण पूर्वोक्तेन अध्यवसानेन कषायाध्यवसायेन विमोहितो मोहं प्राप्तः । किम्भूतेन ? निष्फलेन बन्धमोक्षलक्षणफलरहितेन । जीवस्य सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः सद्भावे बन्धमोक्षसद्भावात् तदभावे तयोरभावाद् अतस्तयोरेव स्वार्थक्रियाकारित्वं अनध्यवसायस्याकिञ्चित्करत्वात् ॥ १७१ ॥

अर्थः—इस निष्फल (निरर्थक) अध्यवसाय से मोहित हुआ आत्मा अपनेको सर्वरूप करता है ऐसा कुछ भी नहीं है जिसरूप अपने को न करता हो ॥ १७१ ॥

अथ तथाप्यध्यवसायं बीभत्सते–

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत् प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वं ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष, नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १७२ ॥

टीका—इह जगति । त एव प्रसिद्धा यतयो यतन्ते कर्मादीनीति यतयो मुनयः । येषां यतीनाम् । एष इदानीमुक्तोऽध्यवसायो नास्ति । किम्भूतः मोहैककन्दो मोहस्य रागद्वेषस्य एकोऽद्वितीयः कन्दो मूलकारण यः सः मोहनीयकर्मोत्पादकत्वात् । हीति स्फुटं । यत्प्रभावाद् यस्य अध्यवसायस्य प्रभावो माहात्म्यं तस्मात् । विश्वं चेतनाचेतनं लोकालोकं शुभाशुभं चराचरं आत्मानं स्वकीयं करोति विधत्ते यथा हिंसाध्यवसायाद् हिंसकस्तथा विपच्यमाननारकतिर्यग्मनुष्यदेवपुण्यपापाध्यवसायान्नरकं तिर्यञ्चं मनुष्यं देवं पुण्यं पापं चात्मानं करोति । किम्भूतः ? विश्वाद्विभक्तोऽपि विश्वाच्चेतनाचेतनादिपदार्थाद् विभक्तोऽपि भिन्नोऽपि । तदध्यवसायवशात् तन्मयो भवति । विश्वशब्दस्य त्रिलोकार्थवाचकत्वाभावाच्चेतनादिपदार्थवाचकत्वाच्च न सर्वादिगणत्वं ॥ १७२ ॥

अर्थः—विश्वसे (समस्त द्रव्योंसे) भिन्न होने पर भी आत्मा जिसके प्रभावसे अपने को विश्वरूप करता है, ऐसा यह अध्यवसाय (कि जिसका मोह ही एक मूल है वह) जिनके नहीं है वे ही मुनि हैं ॥ १७२ ॥

अथाध्यवसायस्य व्यावहारिकत्वं व्यवहरति–

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोप्यन्याश्रयस्त्याजितः ॥
सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं ।
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥१७३॥

टीका—जिनैः केवलज्ञानिभिरुक्तं प्रतिपादितं । किं सर्वत्र निखिलपरवस्तुनि । यदखिलं समस्तमेव अध्यवसानं व्यवसायस्त्याज्यं त्यजनीयं । तद् व्यवसायहापनं । मन्येऽहं जानेऽहं । निखिलोऽपि समस्तोऽपि । व्यवहार एव व्यवहारनय एव त्याजितः हापितः । हेतुगर्भितविशेषणमाह–अन्याश्रयः पराश्रितः निश्चयनयेन पराश्रितमध्यवसायं बन्धहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव प्रतिषिद्धस्तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात् । तत् तर्हि । किं कर्तव्यं ? अमी एते । सन्तः सत्पुरुषाः । निजे आत्मीये । महिम्नि माहात्म्ये । धृतिं सन्तोषं स्थिरतां वा । किं किमु न बध्नन्ति अपि तु कुर्वन्तीत्यर्थः । किम्भूते ? शुद्धज्ञानघने कर्ममलकलङ्करहितबोधनिरन्तरे । किं कृत्वा ? आक्रम्य संप्राप्य । किं

एकमन्यनिरपेक्षं । एव निश्चयेन सम्यग्निश्चयं शुद्धनिश्चयनयं । किम्भूतं ? निष्कम्पमचलं स्वरूपे स्थिरत्वात् ॥ १७३ ॥

अर्थः—आचार्यदेव कहते हैं कि सर्ववस्तुओंमें जो अध्यवसान होते हैं वे सब (अध्यवसान) जिनेन्द्र भगवान् ने पूर्वोक्त रीति से त्यागने योग्य कहे हैं इसलिये हम यह मानते हैं कि 'पर जिसका आश्रय है ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है ।' तब फिर ये सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चय को ही निश्चलतया अंगीकार करके शुद्धज्ञानघन-स्वरूप निज महिमा में (आत्मस्वरूपमें) स्थिरता क्यों धारण नहीं करते ? ॥१७३॥

अथ रागादीनां किं कारणमिति साक्षेपं प्रश्नोत्तरं पद्यद्वयेन निर्मिमीते—

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्ना पुनरेवमाहुः ॥१७४॥

टीका—इति साक्षेपं प्रणुन्नाः शुद्धनयावलम्बिनः पृष्टाः सन्तः । पुनर्भूयः । एवमग्रे वक्ष्यमाणं परमुत्तरमाहुः कथयन्ति । इति किं ? ते प्रसिद्धा रागादया रागद्वेषमोहाः । बन्धनिदानं कर्मबन्धकारणं, उक्ताः प्रतिपादिताः । किम्भूतास्ते ? शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः शुद्धचिदेव मात्रा प्रमाणं यस्य तत् तच्च तन्महः परंज्योतिस्तेन तस्माद्वा अतिरिक्ता भिन्नाः । तन्निमित्तं रागादीनां निमित्तमुत्पादकारणं । किमु अहो आत्मा चेतना रागादीनामुत्पादकः । वा परः पुद्गलः । तद्धेतुरित्युक्ते आहुः ॥ १७४ ॥

अर्थः—"रागादिको बन्ध का कारण कहा और उन्हें शुद्धचैतन्यमात्र ज्योति से (अर्थात् आत्मासे) भिन्न कहा तब फिर उस रागादिका निमित्त आत्मा है या कोई अन्य ?" इस प्रकार (शिष्यके) प्रश्नसे प्रेरित होते हुए आचार्य भगवान् पुनः इसप्रकार (निम्न प्रकार से) कहते हैं ॥ १७४ ॥

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव, वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५ ।

टीका—जातु कदाचित् । आत्मा चिद्रूपः । आत्मनः स्वस्य, रागादिनिमित्तभावं रागादीनां रागद्वेषमोहानां निमित्तभावं उपादानकारणत्वं । न याति न प्राप्नोति । तर्हि तन्निमित्तं किं ? तस्मिन्नात्मनि परसङ्गः परेषाम् पुद्गलादीनां सङ्गः संयोगः । एव निश्चयेन तन्निमित्तं तेषां रागादीनां निमित्तं कारणं । इममेवार्थमुपमीयतेऽर्ककान्तः स्फटिकोपलो, यथा इव । तथाहि यथा स्फटिकोपलः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् स्वयं न परिणमते

परद्रव्येणैव रागादिनिमित्तभूतेन स्वस्वरूपात् प्रच्याव्य रागादिभिः परिणम्यते, तथा केवल आत्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि रागादिनिमित्तत्वाभावात् स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव तन्निमित्तभूतेन स्वस्वरूपात् प्रच्याव्य तैः परिणम्यते इति तावत् प्रथममयं पूर्वोक्त एव वस्तुस्वभावः समस्तं वस्तुस्वरूपं उदेति उदयं गच्छति ।। १७५ ।।

अर्थः—सूर्यकान्तमणि की भाँति (जैसे सूर्यकान्तमणि अपने आपसे अग्निरूप परिणमित नहीं होता, उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्यबिम्ब निमित्त है, उसीप्रकार) आत्मा अपनेको रागादिका निमित्त कभी भी नहीं होता, उसमें निमित्त परसंग ही (परद्रव्य का संग ही) है। ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है। (सदा वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है, इसे किसी ने बनाया नहीं है।) ।।१७५ ।।

अथ ज्ञानिनस्तदकर्तृत्वमुद्भावति—

इति वस्तुस्वभावंस्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ।।१७६।।

टीका—इति पूर्वोक्तप्रकारेण । ज्ञानी पुमान् । स्वं आत्मीयं वस्तुस्वभावं रागादिव्यतिरिक्तं स्ववस्तुस्वरूपं जानाति वेत्ति । येन कारणेन वेत्ति तेनैव कारणेन सः ज्ञानी । रागादीन् आत्मनः स्वस्य न कुर्यात् स्वसात्र करोति । यतोऽतः कारकः कर्मणां कर्त्ता न भवति ।। १७६ ।।

अर्थः—ज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभावको जानता है इसलिये वह रागादिको निजरूप नहीं करता अतः वह (रागादिका) कर्त्ता नहीं है ।। १७६ ।।

अथाज्ञानं स्फूर्जति—

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ।।१७७।।

टीका—इदं पद्यं पूर्वतो विपर्यस्तं व्याख्येयं । सुगमं च ।। १७७ ।।

अर्थः—अज्ञानी अपने ऐसे वस्तुस्वभावको नहीं जानता इसलिये वह रागादिको (रागादिभावोंको) निजरूप करता है अतः वह उनका कर्त्ता होता है ।।१७७।।

अथ परद्रव्यमुद्भर्तुकामं समभिष्टौति—

इत्यालोच्य विवेच्य तत् किल परद्रव्यं समग्रं बलात् ।
तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमामुद्भर्तुकामः समम् ।।

आत्मानं समुपैति निर्भरवहत् पूर्णैकसंविद्युतम् ।
येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१७८॥

टीका—एष स आत्मा चिद्रूपः कर्ता । आत्मनि स्वस्वरूपेऽधिकरणभूते । स्फूर्जति गर्जति प्रकटी भवति वा । किम्भूतः ? उन्मूलितबन्धः उन्मूलितो निराकृतो बन्धो येन सः । पुनः किम्भूतः ? भगवान् ज्ञानवान् । कुतः ? बलाद् ध्यानादिलक्षणाद् हठात् । कां ? इमां प्रसिद्धां । कथम्भूतां ? बहुभावसन्ततिम् बहूनां भावानां विभावपरिणामानां सन्ततिः परम्परा तां रागद्वेषमोहपरम्परामित्यर्थः । कथं? समं युगपत् उद्धर्तुकामः उद्धर्तुं निराकर्तुं कामो वांछा यस्य सः । कुतः ? स्वस्मादित्यनुक्तमप्यपादानं ज्ञेयं । पुनः किम्भूतां ? तन्मूलां तदेव परद्रव्यमेव तस्यैव वा मूलं कारणं या तां । केन ? येन ज्ञानरूपेण करणभूतेन । कं ? आत्मानं कर्मतापन्नं । समुपैति प्राप्नोति । कथम्भूतं तं ? निर्भरवहत्पूर्णैकसविद्युतं निर्भरेण अतिशयेन वहन्ती समस्तवस्तुग्रहणाय प्रवर्तमाना सा चासौ पूर्णा अखण्डा सा चासावेका संविज्ज्ञानं तया युतं संयुतं । किंकृत्वा ? किलेति निश्चितं । किं ? तत् प्रसिद्धं । कथम्भूतं ? समग्रं निखिलं परद्रव्यं । कस्येत्याकाङ्क्षायां स्वस्येति सम्बन्धोऽनुक्तोऽप्यूह्यः । किं कृत्वा ? विवेच्य पृथक्कृत्य । पुनः किं कृत्वा ? इति पूर्वोक्तप्रकारेण आलोच्य सम्यग्विचार्य । किमर्थं ? स्वस्मै इत्यप्यत्र ज्ञेयम् ॥ १७८ ॥

अर्थः—इसप्रकार (परद्रव्य और अपने भावकी निमित्त नैमित्तिकताको) विचार करके, परद्रव्यमूलक बहुभावोंकी संततिको एक ही साथ उखाड़ फेंकनेका इच्छुक पुरुष उस समस्त परद्रव्यको बलपूर्वक (उद्यमपूर्वक, पराक्रमपूर्वक,) भिन्न करके (त्याग करके) अतिशयता से बहते हुए (धारावाही) पूर्ण एक संवेदन से युक्त अपने आत्माको प्राप्त करता है कि जिससे जिसने कर्मबन्धको मूलसे ही उखाड़ फेंका है ऐसा वह भगवान आत्मा अपने में ही (आत्मा में ही) स्फुरायमान होता है ॥ १७८ ॥

अथ रागादीनां दारकत्वं दिशति—

रागादीनामुदयमदयं दारयत् कारणानां,
कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ॥
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्,
तद्वद् यद्वत् प्रसरमपरः कोऽपि नास्या वृणोति ॥१७९॥

टीका— तद्वत् तथा । एतज्ज्ञानज्योतिर्बोधतेजः । अपरं न विद्यते परमन्यद् यस्य तत् । प्रसरं प्रस्तारं विस्तारं यातीत्याध्याहार्यं । यद्वद् यथा । अस्य ज्ञानज्योतिषो विस्तरं कोऽप्यपरः कर्मादि

नावृणोति नाच्छादयति। कीदृक्षं तत्? क्षपिततिमिरं क्षपितं निराकृतं तिमिरमज्ञानं येन तत्। अपरमपि ज्योतिर्नाशिताऽन्धकारं। पुनः कीदृक्षं? साधुसन्नद्धं साधुभिर्योगीश्वरैः पक्षे साधुपुरुषैः सन्नद्ध-मारूढं स्तुतं च साधुभिः स्तूयमानत्वाज्ज्योतिषः। पुनः कीदृक्षं? रागादीनामुदयमदयं सद्य एव दारयत् रागादीनां रागद्वेषमोहानां उदयं प्राकट्यं। अदयं निर्दयं। यथा भवति तथा। सद्य एव तत्कालमेव दारयद् विदारणं कुर्वत्। अन्यदपि ज्योतिः प्रादुर्भूतानां रागादीनां दारकमित्युक्तिलेशः। किं कृत्वा? प्रगुह्य निराकृत्य। कदा? अधुना इदानीं। कं? बन्धं। कथम्भूतं? विविधं प्रकृतिस्थित्यनुभागादि-भेदेनानेकविधं। पुनः कथम्भूतं? कारणानां कार्यं कारणानामुपादानरूपपुद्गलानां कार्यं फलं कर्मरूपं॥ १७९॥

अर्थः—बन्धके कारणरूप रागादिकके उदयको निर्दयतापूर्वक उग्रपुरुषार्थ से विदारण करती हुई उस रागादिके कार्यरूप (ज्ञानावरणादि) अनेक प्रकार के बन्धको अब तत्काल ही दूर करके यह ज्ञानज्योति कि जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश किया है वह भली भाँति सज्ज हुई, ऐसी सज्ज हुई कि उसके विस्तारको अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता॥ १७९॥

इति श्रीसमयसारस्थपद्यस्यपरमाध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयस्य
व्याख्यायां सप्तमोऽङ्कः॥ ७॥

❖

मोक्षाधिकारः

अथ मोक्षतत्त्वं क्रमप्राप्तमाक्रामति—

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद् बन्धपुरुषौ।
नयन्मोक्षं साक्षात् पुरुषमुपलम्भैकनियतम्॥
इदानीमुन्मज्जत् सहजपरमानन्दसरसं।
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते॥ १८०॥

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम्—

नानाबन्धध्वंसन, कृतकेलिः कुन्दकुन्दविधुवर्यः।
विधिविविधामृतचन्द्रेद्धो भाति गुरुर्ज्ञानिभूषाढ्यः॥ १॥

टीका—इदानीमधुना । मोक्षतत्त्वकथनावसरे । ज्ञानं विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते । कथम्भूतं ? कृतसकलकृत्यं कृतं निष्पादितं सकलं कृत्यं संसारावस्था कर्तव्यं येन तत् । पुनः कथम्भूतं ? पूर्णं सम्पूर्णं प्रकर्षप्राप्तत्वात् । पुनः किम्भूतं ? परमुत्कृष्टं सर्वप्रकाशकत्वात् । पुनः कथम्भूतं ? सहजपरमानन्दसरसं सहजोऽकृत्रिमः परमानन्दः परमसुखं तेन सरसं रसाढ्यं । पुनः कथम्भूतं ? उन्मज्जदुदयं गच्छत् । पुनः कथम्भूतं ? पुरुषं साक्षान्मोक्षं नयत् पुरुषमात्मानं साक्षादक्रमेण मोक्षं मुक्तिसम्पदं नयत् प्रापयत् । पुनः किंभूतं ? उपलम्भैकनियतं उपलम्भः स्वस्वरूपप्राप्तिस्तत्र एकेन स्वभावेन नियतं स्थितं तत्र लीनमित्यर्थः । किंकृत्वा ? द्विधाकृत्य पृथक्कृत्वा । कौ ? बन्धपुरुषौ बन्धः कर्मश्लेषः पुरुष आत्मा द्वन्द्वः तौ परस्परं मिलितौ पृथग्विधायेत्यर्थः । कुतः ? प्रज्ञाक्रकचदलनात् । प्रज्ञा भेदविज्ञानं सैव क्रकचः करपत्रं तेन दलनं तस्मात् ॥ १८० ॥

अर्थः—अब (बन्ध पदार्थ के पश्चात्) प्रज्ञारूपी करवतसे विदारण द्वारा बन्ध और पुरुषको द्विधा (भिन्न २ दो) करके, पुरुषको-जो पुरुषमात्र अनुभूतिके द्वारा ही निश्चित है—उसे साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ पूर्ण ज्ञान जयवन्त प्रवर्तता है । वह ज्ञान प्रकट होने वाले सहज परमानन्द के द्वारा सरस अर्थात् रसयुक्त है, उत्कृष्ट है और जिसने करने योग्य समस्त कार्य कर लिए हैं (जिसे कुछ भी करना शेष नहीं है) ऐसा है ॥ १८० ॥

अथ प्रज्ञाछेत्रीमभिष्टौति—

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता साबधानैः ।
सूक्ष्मेऽन्तः सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ॥
आत्मानं मग्नमन्तः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे ।
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥१८१॥

टीका—इयं प्रसिद्धा । प्रज्ञाछेत्री बुद्धिछेत्री । शिता अतितीक्ष्णा । रभसाद् वेगेन । निपतति भिन्नकरणार्थं पतनं करोति । क्व ? सूक्ष्मे अत्यन्तप्रत्यासन्नत्वाच्चैतन्यचेतकभावेनैकीभूतत्वेन सूक्ष्मेऽन्तः-सन्धिबन्धेऽन्तोभ्यन्तरे कर्मात्मनोः सन्धिबन्धे सन्धानश्लेषे । कस्य ? आत्मकर्मोभयस्य चिद्रूपकर्मयुग्मस्य । कीदृक्षा सा ? कथमपि पातिता कथमपि महताऽग्रहेण तयोर्मध्ये भिन्नकरणकृते पातिता मुक्ता सती । कैः ? निपुणैर्धीमद्भिः । कथम्भूतैः ? सावधानैरेकाग्रचित्तैः । अभितः सामस्त्येन लक्षणभेदाद् भिन्नभिन्नौ परस्परं तौ द्वौ भिन्नौ भिन्नौ कुर्वती निर्मापयती । कं ? आत्मानं चिद्रूपं । च पुनः । बन्धं कर्मबन्धं । कीदृक्षं चिद्रूपं ? अन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि अन्तरभ्यन्तरे चिद्रूपे स्थिरमन्यत्र

गमनाभावात् तत्रैव स्थितिमत् तच्च तद्विशदं च निर्मलं लसद् देदीप्यमानं धाम महो यस्य तस्मिन् । पुनः कथम्भूते ? चैतन्यपूरे समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणं तस्य पूरः समूहस्तत्र मग्नं तन्मयमापन्नं । कीदृक्षं बन्धं ? अज्ञानभावे नियमितम् अज्ञानभावे अज्ञानस्वरूपे रागादौ स्वलक्षणे नियमितं निश्चयीभूतं तन्मयत्वमापन्नमित्यर्थः । अन्याऽपि छेत्री द्वयोर्धात्वोः स्वलक्षणभिन्नयोरन्तः पातिता सती भिन्नत्वं चकर्तीति तथा प्रज्ञाछेत्रीति विज्ञेयम् ।। १८१ ।।

अर्थः—यह प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनी प्रवीण पुरुषोंके द्वारा किसी भी प्रकार से (यत्नपूर्वक) सावधानतया पटकने पर आत्मा और कर्म-दोनों के सूक्ष्म अन्तरंग सन्धि के बन्धमें शीघ्र पड़ती है । किस प्रकार पड़ती है ? वह आत्मा को तो जिसका तेज अन्तरंग में स्थिर और निर्मलतया दैदीप्यमान है ऐसे चैतन्यप्रवाह में मग्न करती हुई और बन्धको अज्ञानभावमें निश्चल करती हुई—इसप्रकार आत्मा और बन्धको सर्वतः भिन्न भिन्न करती हुई पड़ती है ।। १८१ ।।

अथ तयोर्भेदकं प्रलपति—

भित्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद् भेत्तुं हि यच्छक्यते ।
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहं ।।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि ।
भिद्यन्तां न भिदाऽस्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ।।१८२।।

टीका—हि स्फुटं । अहमहकं । शुद्धो द्रव्यभावनोकर्ममलमुक्तः । चिदेव चेतनास्वरूपमेव । अस्मि भवामि । किम्भूतः ? चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा चिदेव मुद्रा चिन्हं तया अङ्कितश्चिन्हित निर्विभागो भेत्तुमशक्यो दुर्लक्ष्यत्वात् महिमा माहात्म्यं यस्य सः । किं कृत्वा ? यत् पुद्गलादिकं कर्म । किं कर्तुं ? भेत्तुं द्विधाकर्तुं शक्यते शक्यानुष्ठानं भूयते । स्वलक्षणानां भेत्तुमशक्यत्वात् शक्यानुष्ठानाभावः परलक्षणानां भेत्तुशक्यत्वात् शक्यानुष्ठानं तत् सर्वमपि समस्तमपि कर्मबन्धं भित्त्वा द्विधा विधाय । कुतः ? स्वलक्षणबलात् स्वस्य आत्मनः पुद्गलस्य च लक्षणमसाधारणस्वरूपं चैतन्यमचैतन्यं च तस्य बलात् सामर्थ्यात् । यदि कारकाणि कर्तृकर्मादीनि चेतयमान एव चेतये । चेतयमानेनैव चेतये । चेतयमानाय चेतये । चेतयमानादेव चेतये । चेतयमान एव चेतये । चेतयमानमेव चेतये । इति कारकाणि भिद्यन्ते । तर्हि भिद्यन्तां भेदं प्राप्नुवन्तु । वा अथवा यदि धर्माः स्वभावाः चैतन्याचैतन्यादयः भेदं प्राप्नुवन्ति तर्हि भिद्यन्तां । यदि वा गुणा मतिश्रुतादय अनन्तज्ञानादयो वा भिद्यन्ते । तर्हि भेदं प्राप्नुवन्तु । क्व ? चिति चिद्रूपे । भावे पदार्थे । काचन कापि । भिदा भेदो नास्ति कारकधर्मगुणभेदो

न। किंभूते चिति ? विभौ वि विशेषेण भवति ज्ञानादि स्वभावेनेति विभुस्तस्मिन् विभौ। "भुवो डुविसंप्रेषु च" इति डुप्रत्ययः। पुनः कथम्भूते ? विशुद्धे कर्ममलातीते ॥ १८२ ॥

अर्थः—जो कुछ भी भेदा जा सकता है उस सबको स्वलक्षण के बलसे भेदकर जिसकी चिन्मुद्रासे अंकित निर्विभाग महिमा है (अर्थात् चैतन्यकी मुद्रासे अंकित विभाग रहित जिसकी महिमा है) ऐसा शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ। यदि कारकके, अथवा धर्मों के, या गुणोंके भेद हों तो भले हों किन्तु शुद्ध (समस्त विभावोंसे रहित) विभु—ऐसा चैतन्यभावमें तो कोई भेद नहीं है ॥ (इसप्रकार प्रज्ञाके द्वारा आत्मा को ग्रहण किया जाता है।) ॥ १८२ ॥

अथ चेतनाया एकानेकरूपं विवक्षति—

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्।
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात् सास्तित्वमेव त्यजेत्॥
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपाऽस्तु चित् ॥१८३॥

टीका—हीति ननु। जगति भुवने। चेतना प्रतिभासरूपा। अद्वैता एकरूपा। सर्वेषां प्रतिभासान्तः प्रविष्टत्वेन एकरूपत्वसाधनात् तथाहि यत् प्रतिभासते यत् प्रतिभासान्तः प्रविष्टं, यथा प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासन्ते चामी विवादापन्नाः पदार्थाः। सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि वाक्यानामेकत्व साधनाच्चैकैव चेतना इति चेत्तदा दृग्ज्ञप्तिरूपं सा दर्शनज्ञानस्वभावं त्यजेत्। अथ तत्स्वभावं त्यजतु। का नो हानिः ? इति वदन्तमद्वैतिनं निराकरोति। सा चेतना, तत् प्रसिद्धं अस्तित्वं सत्तामेव त्यजेत्। कुतः ? सामान्यविशेषरूपविरहात्। सामान्यं दर्शनं विशेषो ज्ञानं तयो रूपं तस्य विरहस्तस्मात्। सामान्यविशेषात्मकत्वात् सर्वस्य वस्तुनः 'सामान्यविशेषात्मातदर्थो विषयः' इति वचनात् दृग्ज्ञानयोः सामान्यविशेषात्मकत्वात् तदभावे तदभावादपि दूषणद्वयं। तत्त्यागे तस्यास्तित्वस्य त्यागेऽभावे। अथवा दर्शनज्ञानस्याभावे चितश्चिद्रूपस्यापि जडता अचेतनत्वम् चेति दूषणान्तरे व्यापकादस्तित्व-रूपाद् दर्शनरूपाद्वा। विना ऋते। व्याप्य आत्मा अन्तं विनाशं उपैति प्राप्नोति। व्यापकाभावे व्याप्यस्याप्यभावात् प्रकाशाभावे प्रदीपवत् तेन जडत्वात्मा भावदूषणसद्भावेन। चिच्चेतना। नियतं निश्चितं दृग्ज्ञप्तिरूपा दर्शनज्ञानस्वरूपा, अस्तु भवतु ॥ १८३ ॥

अर्थः—जगत में निश्चयतः चेतना अद्वैत है तथापि यदि वह दर्शनज्ञानरूपको छोड़ दे तो सामान्यविशेषरूपके अभावसे (वह चेतना) अपने अस्तित्वको ही छोड़

देगी; इसप्रकार अपने अस्तित्व को छोड़ने पर (१) चेतन के जड़त्व आ जाएगा अर्थात् आत्मा जड़ हो जाएगा और (२) व्यापक (चेतना) के बिना व्याप्य जो आत्मा वह नष्ट हो जाएगा (इस प्रकार दो दोष आते हैं) इसलिये चेतना नियमसे दर्शनज्ञानरूप ही हो ॥ १८३ ॥

अथ चेतनाचेतनयोः परत्वापरत्वं प्रपूर्यते—

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥१८४॥

टीका—चितश्चिद्रूपस्य । एकश्चिन्मयस्तद्दर्शनज्ञानमय एव भावः स्वभावो । ये प्रसिद्धाः परे दृग्ज्ञप्तेः परे । भावा रागादयः । किलेति निश्चितं, परेषां कर्मणां ते भावाः । तत आत्मीयस्वभावत्वाच्चिन्मय एव दृग्ज्ञप्तिनिर्वृत्त एव स्वभावो ग्राह्य आदेयः । परभावा रागद्वेषादयः । सर्वत एव सामस्त्येनैव हेयास्त्याज्याः ॥ १८४ ॥

अर्थः—चैतन्यका (आत्माका) तो एक चिन्मय ही भाव है और जो अन्यभाव हैं वे वास्तवमें दूसरों के भाव हैं इसलिये (एक) चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है, अन्यभाव सर्वथा त्याज्य हैं ॥ १८४ ॥

अथ रहस्यं सिद्धान्तं साधयितुमुपक्रामति—

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यताम् ।
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहं ॥
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

टीका—अयं सिद्धान्तः सिद्धो निष्पन्नोऽन्तो धर्मः स्वभावो वा यस्य स तात्पर्यं वा सेव्यतामाश्रियतां । कैः ? मोक्षार्थिभिः मुमुक्षुभिर्योगिभिः । किम्भूतैः ? उदात्तचित्तचरितैरुदात्तमुत्तमं यच्चित्तं ज्ञानं तदेव चरितमाचरणं येषां तैः । कदा ? सदैव नित्यमेवाहं परमं ज्योतिः परं धाम । अस्मि भवामि । किं भूतं तत् ? शुद्धं कर्ममलरहितत्वात् । किम्भूतं तत् ? चिन्मयं ज्ञप्तिरूपत्वाद । पुनः किम्भूतं ? एकमेव परभावरहितत्वात् । तु पुनः । एते प्रसिद्धाः विविधाः नानाप्रकाराः असंख्यातलोकमात्रत्वात् भावा रागद्वेषादयः परिणामाः समुल्लसन्ति प्रादुर्भवन्ति । ते भावाः अहं चिद्रूपो नास्मि न भवामि । कुतः ? यतो यस्मात्कारणात् पृथग् लक्षणा आत्मनो विपरीतलक्षणा अज्ञान

स्वभावत्वादत्र इह स्वस्वरूपविचारणे ते भावाः समग्रा अपि समस्ताऽपि कषायाध्यवसायाः मम चिद्रूपस्य परद्रव्यं पुद्गलकर्मोत्पादितत्वात् । अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः । शेषाः सर्वे भावाः प्रहातव्या इति सिद्धान्तः ॥ १८५ ॥

अर्थः–जिनके चित्त का चरित्र उदात्त (उदार, उच्च, उज्ज्वल) है ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करें कि 'मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ और जो ये भिन्नलक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रकट होते हैं वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं।' ॥ १८५ ॥

अथ सापराधिनो बन्धं द्योतते—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्यते चापराधवान् ।
बध्येताऽनपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥१८६॥

टीका—अपराधवान् सापराधः पुमान् । एव निश्चयेन । बध्येत कर्मबन्धनं प्राप्नुयात् । सापराधत्वं लक्षयति । परद्रव्यग्रहं परद्रव्याणां ममेति बुद्ध्या ग्रहं ग्रहणं कुर्वन् चिन्तयन् । अन्योऽपि परद्रव्यग्रहणं कुर्वन् बन्धं प्राप्नोति । पुनर्नान्य इत्युक्तिक्लेशः । अनपराध परद्रव्यग्रहणलक्षणापराधरहितो यतिः स्वयत्नचारित्वाद् योगी न बध्येत न बन्धनं याति । स्वद्रव्ये चिद्रूपे संवृतः संवरणं कुर्वन् स्थितः । तदपराधरहितो न याति बन्धनं ॥ १८६ ॥

अर्थः–जो परद्रव्य को ग्रहण करता है वह अपराधी है इसलिये बन्धमें पड़ता है और जो स्वद्रव्य में ही संवृत है (अर्थात् जो अपने द्रव्यमें ही गुप्त-मग्न है-संतुष्ट है, परद्रव्यका ग्रहण नहीं करता) ऐसा यति निरपराधी है इसलिये बँधता नहीं है ॥ १८६ ॥

अथ सापराधापराधयोर्बन्धाबन्धौ बिभर्ति–

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो भवति निरपराधः साधुः शुद्धात्मसेवी

टीका—सापराधः परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधन वा राधोऽपगतोराधो यस्य चेतयितुर्भावस्य वा सोऽपराधस्तेन सह वर्तत इति सापराधो यतिः । अनवरत निरन्तरं प्रतिसमयमनन्तैरनन्तसंख्यावच्छिन्नैर्बन्धनैर्बध्यते बन्धनं याति । ननु कर्मणां ज्ञानावरणादीनां कषायाध्यवसानामसंख्यातलोकत्वघटनादनन्तत्ववचनं विरुध्यते ? इति चेत् सत्यं कर्मणामध्यवसायानामसंख्यातत्वे सत्यपि

कर्मपरमाणूनामनन्तत्वघटनात् । निरपराधः उपयोगोन्मुखः परद्रव्यग्रहणापराधरहितः । जातु कदाचित् । बन्धनं कर्मबन्धनं नैव स्पृशति न प्राप्नोति अयं यतिः । नियतं निश्चितं । अशुद्धं रागद्वेष कलुषीकृतं स्वमात्मानं भजन् सन् सापराधो भवति । स्वस्वरूपपराङ्मुखत्वात् । साधु समीचीनं यथा भवति तथा । शुद्धात्मसेवी शुद्धमात्मानं सेवत इति शुद्धात्मसेवी मुनिनिरपराधः परद्रव्यग्रहणापराधरहितः स्वद्रव्यसेवित्वादाराधक एव ॥ १८७ ॥

अर्थः—सापराध आत्मा निरन्तर अनन्त पुद्गलपरमाणुरूप कर्मोंसे बँधता है; निरपराध आत्मा बन्धनको कदापि स्पर्श नहीं करता । जो सापराध आत्मा है वह तो नियम से अपने को अशुद्ध सेवन करता हुआ सापराध है; निरपराध आत्मा तो भलीभाँति शुद्ध आत्मा का सेवन करनेवाला होता है ॥ १८७ ॥

अथ प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणं विवेचयति—

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं ।
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ॥
तत् किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः ।
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥ १८८ ॥

टीका—यत्र शुद्धात्मस्वरूपे । प्रतिक्रमणमेव द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिरेव अज्ञानजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिस्तावदास्तामित्येवशब्दार्थः । विषं हलाहलं प्रणीतं स्वकार्यकरणासमर्थत्वात् । तद्विपक्ष शुभबन्धनकार्यकारित्वाच्च । तत्र आत्मस्वरूपेऽप्रतिक्रमणमेव पूर्वोक्तप्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणद्वयरहिततृतीयशुद्धात्मोपयोगरूपप्रतिक्रमणं सुधाकुटोऽमृतकुम्भः स्यात् स्वकार्यकारित्वात् । तत् तस्माद्धेतोर्जनो लोकः प्रमाद्यति । किं कथ प्रमादं करोति । अधोऽधः प्रतिक्रमणेतरद्वयाऽधोभूमौ प्रपतन् सन् । निष्प्रमादः प्रमादरहितः सन् ऊर्ध्वमूर्ध्वमुपर्युपरि अप्रतिक्रमणरूपं तार्तीयकं किं कथं नाधिरोहति न चटति इति स्वरूपव्यतिरिक्तस्य न किमपि प्रतिक्रमणादिनेति सूचितं ॥ १८८ ॥

अर्थः—(हे भाई !) जहां प्रतिक्रमणको ही विष कहा है, वहां अप्रतिक्रमण अमृत कहां से हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता) तब फिर मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है ? निष्प्रमाद होता हुआ ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ता ? ॥ १८८ ॥

अतो हताः प्रमादिनो गता सुखासीनताम् ।
प्रलीनं चापलमुन्मीलितमालम्बनम् ॥

आत्मन्येव चालानितं चित्तमा-
सम्पूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥ १८९ ॥

अर्थः—इस कथन से सुखासीन प्रमादी जीवों को हत (मोक्षमार्गका अनधिकारी) कहा है ; चापल्यका (अविचारित कार्यका) प्रलय किया है (अर्थात् आत्मप्रतीति से रहित क्रियाओंको मोक्षके कारणमें नहीं माना), आलम्बन को उखाड़ फेंका है (अर्थात् सम्यग्दृष्टि के द्रव्यप्रतिक्रमण इत्यादि को भी निश्चय से बन्धका कारण मानकर हेय कहा है) जब तक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्माकी प्राप्ति न हो तब तक (शुद्ध) आत्मारूपी स्तम्भ से ही चित्त को बाँध रखा है (अर्थात् व्यवहारके आलम्बनसे अनेक प्रवृत्तियों में चित्त भ्रमण करता था उसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा में ही लगाने को कहा है क्योंकि वही मोक्षका कारण है ॥ १८९ ॥

अथ प्रमादमापाद्यते—

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः ।
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः ॥
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन् ।
मुनिःपरमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाचिरात् ॥१९०॥

टीका—प्रमादकलितः सार्धसप्तत्रिंशत्सहस्रभेदप्रमादयुक्तो मुनिः । अलस आलस्यवान् सन् । शुद्धभावः शुद्धो भावः स्वभावो यस्य सः परमात्मा कथं भवति ? न कथमपि । कुतः ? कषायभरगौरवात् कषायाणां क्रोधादीनां भरः समूहस्तस्य गौरवो माहात्म्यं तस्मात् कषायेन्द्रियविकथादि परावृत्तिजत्वात् प्रमादानां । यतः कारणात् अलसता आलस्यमेव प्रमादस्तयोरेकार्थत्वात् । अतः कारणात् परंमननान्मुनिर्योगी । परमशुद्धतामत्यन्तविशुद्धिं व्रजति प्राप्नोति । च पुनः । अचिराच्छीघ्रं । मुच्यते संसारबन्धनान्मुक्तो भवति । किम्भूतः ? नियमितो नियन्त्रितः सन् । क्व ? स्वभावे आत्मस्वरूपे । कथम्भूते स्वभावे ? स्वरसनिर्भरे स्वस्यात्मनारसस्तस्य निर्भरोऽतिशयस्तस्मिन् । किं कुर्वन् ? भवन् स्थितः सन् ॥ १९० ॥

अर्थः—कषायके भार से भारी होनेसे आलस्यका होना सो प्रमाद है ; इसलिये यह प्रमादयुक्त आलस्यभाव शुद्धभाव कैसे हो सकता है ? इसलिये निजरस से परिपूर्ण स्वभाव में निश्चल होने वाला मुनि परमशुद्धता को प्राप्त होता है अथवा शीघ्र ही (कर्मबन्ध से) छूट जाता है ॥ १९० ॥

अथ सर्वापराधं च्योतति—

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत् किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं ।
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ॥
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छलच् ।
चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन् मुच्यते ॥१६१॥

टीका—किलेत्यागमोक्तौ । यो योगी । स्वयं स्वरूपेण कृत्वा । स्वद्रव्ये स्वात्मद्रव्ये । रतिं रमणं । एति गच्छति । किं कृत्वा ? तत् प्रसिद्धं । समग्रं निखिलं परद्रव्यं कर्मादिद्रव्यं । त्यक्त्वा हित्वा । किम्भूतं ? अशुद्धिविधायि रागाद्यशुद्धिकारकं । सः मुनिर्मुच्यते कर्मबन्धनात् । कीदृक्षः सन् ? नियतं निश्चितं । सर्वापराधच्युतः पूर्वोक्तैः समस्तापराधैश्च्युता रहितः सन् । किं कृत्वा ? बन्धध्वंसमुपेत्य । स्वज्योतिरच्छोच्छलच्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा स्वस्यात्मनो ज्योतिः प्रकाशस्तेन अच्छं निर्मलं उच्छलदुदयं गच्छत् तच्च तच्चैतन्यं च तदेवामृतपूरः सुधासमूहस्तेन पूर्णः सम्पूर्णो महिमा माहात्म्यं यस्य सः ॥ १६१ ॥

अर्थः—जो पुरुष वास्तवमें अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्यको छोड़कर स्वयं स्वद्रव्य में लीन होता है, वह पुरुष नियमसे सर्व अपराधों से रहित होता हुआ, बन्ध के नाश को प्राप्त होकर नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान) होता हुआ, अपनी ज्योति से (आत्मस्वरूप के प्रकाश से) निर्मलतया उछलता हुआ जो चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा शुद्ध होता हुआ कर्मों से मुक्त होता है ॥ १६१ ॥

अथ मोक्षं महते—

बन्धच्छेदात् कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेतन् ।
नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धं ॥
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरम् ।
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१६२॥

टीका—एतत् पूर्णं सम्पूर्णं ज्ञानं ज्वलितम् दीपितं प्रकाशं प्राप्तमित्यर्थः। कीदृक्षं स्वस्य महिम्नि लीनं? स्वस्यात्मनो महिम्नि माहात्म्ये लीनमेकतामापन्नं । किम्भूते ? अचले निष्कम्पे । पुनः कीदृक्षं ? अत्यन्तगंभीरधीरं अत्यन्तं गम्भीरमतुलस्पर्शं तच्च तद्धीरं च । कुतः ? एकाकारस्वरसभरतः एकाकारेण सर्वत्र

ज्ञानाकारेण स्वस्यात्मना रसस्तस्य भरोऽतिशयस्तस्मात् । पुनः मोक्षं कर्ममोचनमोक्षं । पुनः कथम्भूतं ? नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थम् नित्योद्योतेन निरावरणज्ञानप्रकाशेन स्फुटिता प्रकाशिता सहजा स्वाभाविकी अवस्था दशा लक्षणया स्वरूपं यत्र तं । पुनः कथम्भूतं ? एकान्तशुद्धं एकान्तेन एकधर्मेण कर्ममुक्तिलक्षणेन शुद्धं निर्मलं समस्तपदाधिक्यादत्यन्तविशुद्धं ॥ १९२ ॥

अर्थः—कर्मबन्धके छेदने से अतुल अक्षय मोक्षका अनुभव करता हुआ, नित्य उद्योतवाली अपनी सहज अवस्था रूप, एकान्त शुद्ध और एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकार में परिणमित) निजरस की अतिशयता से अत्यन्त गम्भीर और धीर यह पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो उठा है (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रकट हुआ है ।) और अपनी अचल महिमा में लीन हुआ है ॥ १९२ ॥

इति श्रीसमयसारस्थपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिण्यपरनाम-
धेयस्य व्याख्यायामष्टमोऽङ्कः ॥ ८ ॥

❖

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः

अथ सर्वविशुद्धं ज्ञानमुदेति—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान् ।
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः ॥
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिष् ।
टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥१९३॥

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम्—

सकलाशर्मविमुक्तं युक्तं सुज्ञानसम्पदा सारं ।
भजते मुक्तिं वचसाऽमृतचन्द्रोऽमृतमयो जन्तुः ॥ १ ॥

टीका—अयं ज्ञानपुञ्जो ज्ञानस्य बोधस्यानन्तसंख्यावच्छिन्नाविभागशुद्धः सन् प्रतिच्छेदसमूहः । प्रतिपदमेकेन्द्रियादिस्थानं प्रथमद्वितीयादिगुणस्थानं गुणस्थानं प्रति । स्फूर्जति गर्जति द्योतत इत्यर्थः । किं कृत्वा ? नीत्वा प्राप्य । कं ? सम्यक्प्रलयं निश्शेषविनाशं । कान् ? निखिलान् समस्तान् । कर्तृ-

भोक्त्रादिभावान् कर्ता कर्मकारको भोक्ता कर्मफलभोक्ता कर्ता च भोक्ता च कर्तृभोक्तारौ तावेवादिर्येषामुत्पाद्योत्पादकादीनां ते तथोक्तास्ते च ते भावाश्च परिणामास्तान् । किम्भूतः ? दूरीभूतः । कुतः बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः कर्मबन्धमोचनयोः प्रक्लृप्तिः कल्पना तस्याः । पुनः किम्भूतः ? शुद्धो निर्मलः । पुनः कीदृक्षः ? स्वरसविसरपूर्णपुण्याचलार्चिः स्वस्य आत्मना रसोऽनुभवस्तस्य विसरं समूहः स एवापूर्णः सम्पूर्णः पुण्याचलः प्रशस्ताचलः उदयाचलस्तत्रार्चिस्तेजो यस्य सः । पुनः कीदृशः ? टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा टङ्केन उत्कीर्णः प्रकटो महिमा माहात्म्यं यस्य सः । स्वरसेत्यादिरेकपदं वा । स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिश्चासौ टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा च ॥ १९३ ॥

अर्थः—कर्त्ता भोक्ता आदि समस्त भावों को सम्यक् प्रकारसे (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके पद पद पर (प्रत्येक पर्याय में) बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ, शुद्ध शुद्ध (रागादिमल तथा आवरण से रहित) जिसका पवित्र अचल तेज निजरस के (ज्ञानचेतना रूपी रस के) प्रवाह से परिपूर्ण है ऐसा टंकोत्कीर्ण महिमामय ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रकट होता है ॥ १९३ ॥

अथात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वं कीर्तयति—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्ताऽयं तदभावादकारकः ॥१९४॥

टीका—अस्य चितश्चिद्रूपस्य । कर्तृत्वं कर्मकारकत्वं । न स्वभावो न स्वरूपं । किमिव ? वेदयितृत्ववद् यथा वेदयितृत्वं भोक्तृत्वमात्मनो न सम्भवति तथा कर्तृत्वमपि । अयमात्मा कर्ता कर्मणां कारक इति प्रतीतिर्दृश्यते तत्कथं ? आत्मा कारकः कर्मणां कर्ता भवेत् । कुतः ? तदभावात् तस्य ज्ञानस्याभावो विनाशस्तस्माद् अज्ञानतो मया कृतमिति मनुते । तदभावादकर्तृत्वमेव ॥१९४॥

अर्थः—कर्तृत्व इस चित्स्वरूप आत्माका स्वभाव नहीं है जैसे भोक्तृत्व स्वभाव नहीं है । वह अज्ञान से ही कर्त्ता है, अज्ञानका अभाव होने पर अकर्त्ता है ॥ १९४ ॥

अथाकर्तृकत्वं चिन्तयति—

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः ।
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः ॥
तथाप्यस्यासौ स्याद् यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः ।
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥१९५॥

टीका—अमुना प्रकारेण स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्य जीवस्य तेन सह कारणभावाभावः सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेणोत्पाद्योत्पादकभावाभावादिति प्रकारेण। अयं जीवश्चिद्रूपोऽकर्ता कर्मणामकारकः सन् स्थितः सुस्थः। किम्भूतः? स्वरसतः विशुद्धः स्वभावतः कर्मोपाधिनिरपेक्षतो विशुद्धो निर्मलः पुनः किम्भूतः? स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः स्फुरन्ति प्रकाशमानानि तानि च तानि चिज्ज्योतींषि च ज्ञानतेजांसि च तैः छुरितं प्रकाशितं भुवनमेव विश्वमेव आभोगभवनं परिपूर्णगृहं येन सः। तथापि आत्मनः समस्तविज्ञानमयत्वेनाकर्तृत्वे सत्यपि। किलेति निश्चितं। इह जगति। ज्ञानावरणादिकर्मभिः। स्याद् भवेत्। खल्विति निश्चितं। यद यस्माद्धेतोरस्यात्मनः। असौ बन्धः संश्लेषः प्रकृतिभिः। स कोऽपि अनिर्दिष्टो गहनोऽज्ञातान्तःस्वरूपः। कस्य? अज्ञानस्य ज्ञानाभावस्य महिमा माहात्म्यं। स्फुरति विजृम्भतेऽतिशयालङ्कारोऽयम् ॥ १९५ ॥

अर्थः—निजरससे विशुद्ध, स्फुरायमान होती हुई चैतन्य ज्योतियों के द्वारा समस्त लोक में व्याप्त होने वाला यह जीव (परद्रव्यका तथा परभावों का) अकर्त्ता सिद्ध हुआ तथापि उसे इस जगत में कर्मप्रकृतियों के साथ जो यह बन्ध होता है सो वह वास्तवमें अज्ञान की कोई गहन महिमा स्फुरायमान है ॥ १९५ ॥

अथ भूयः कर्तृत्वभोक्तृत्वमामनति—

भोक्तृत्व न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्ताऽयं तदभावादवेदकः ॥१९६॥

टीका—अस्य चितश्चिद्रूपस्य। भोक्तृत्वं कर्मफलभोक्तृत्वं न स्वभावो न स्वरूपं। स्मृतः कथितः। अज्ञानादेव परात्मनोरेकत्वाध्यासकरणलक्षणादनवबोधादेव। अयं चेतयिता। भोक्ता कर्मफलानुभोजकः। तदभावात् प्रतिनियत स्वलक्षणनिर्ज्ञानादवेदकः कर्मफलानभोजकः ॥ १९६ ॥

अर्थः—कर्तृत्व की भाँति भोक्तृत्व भी इस चैतन्य का (चित्स्वरूप आत्माका) स्वभाव नहीं कहा है। वह अज्ञान से ही भोक्ता है, अज्ञान का अभाव होने पर वह अभोक्ता है ॥ १९६ ॥

अथ ज्ञान्यज्ञानी स्वरूपं सूत्रयति—

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदकः।
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद् वेदकः ॥
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यताम्।
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥१९७॥

टीका—अज्ञानी पुमान् । प्रकृतिस्वभावनिरतः प्रकृतेः कर्मणः स्वभावः स्वरूपं तत्र निरतो निःशेषं रक्तः सन् शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन तयोरेकत्वदर्शनेन तयोरेकत्व परिणत्या च प्रकृति स्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमपि अहंतयाऽनुभवन् नित्यं वेदकः कर्मफलभोक्ता भवेत् । तु पुनः । ज्ञानी पुमान् प्रकृतिस्वभावविरतः प्रकृतेः स्वभावात् विरतो विरक्तः सन् शुद्धात्मज्ञानसद्भावात् स्वपरयोर्विभागज्ञानेन तयोर्विभागदर्शनेन तयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहतयाऽनुभवन् । जातुचित् कदाचिदपि न वेदकः । उदितकर्मफलभोक्ता न । निपुणैर्भेदज्ञैः पुरुषैः । अज्ञानिता अज्ञानस्वभावाः त्यज्यताम् मुच्यतां । किं कृत्वा ? इत्यमुना प्रकारेण । एवं पूर्वोक्तं ज्ञान्यज्ञानिनोर्बन्धाबन्धलक्षणं नियमं निरूप्य ज्ञात्वा । पुनः आसेव्यतां ध्यायतां का ज्ञानिता ज्ञानित्वं । कः ? अचलितैरचलत्वं प्राप्तैः । क्व ? महसि तेजसि । किम्भूते ? शुद्धैकात्ममये शुद्धः निष्कलङ्कः स चासौ एकात्मा च तेन निर्वृत्तस्तस्मिन् ॥ १९७ ॥

अर्थः—अज्ञानी प्रकृतिस्वभावमें लीन होने से (उसीको अपना स्वभाव जानता है इसलिये) सदा वेदक है और ज्ञानी प्रकृति स्वभावसे विरक्त होने से (उसे पर का स्वभाव जानता है इसलिए) कदापि वेदक नहीं है । इस प्रकार के नियम को भली भाँति विचार करके—निश्चय करके निपुण पुरुषो ! अज्ञानीपन को छोड़ दो और शुद्ध—एक-आत्मामय तेज में निश्चल होकर ज्ञानीपने का सेवन करो ॥ १९७ ॥

अथ ज्ञानिनो ज्ञातृत्वमध्यापयति—

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म ।
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ॥
जानन्परं करणवेदनयोरभावाच्—
छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥१९८॥

टीका—ज्ञानी पुमान् शुभाशुभ कर्म न करोति न विधत्ते । न वेदयते कर्मफलं न भुञ्जति । किलेति निश्चितं । अयं ज्ञानी । केवलं कर्तृत्वभोक्तृत्वराहित्येन परं । तत्स्वभावं तस्य कर्मणः स्वभावं स्वरूपं मधुरकटुकादि जानाति तत्स्वभावपरिच्छेदको भवति । हि पुनः । स आत्मा मुक्त एव कर्मफलरहित एव । परं केवलं जानन् विश्व परिच्छिन्दन् सन् । पुनः कथम्भूतः ? शुद्धस्वभावनियतः शुद्धश्चासौ स्वभावः स्वरूपं च तत्र नियतो निश्चलत्वमापन्नः । कुतः ? करणवेदनयोरभावात् करणं कर्मकर्तृत्वं च वेदन कर्मफलभोक्तृत्वं च तयोरभावात् कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावराहित्यात् ॥ १९८ ॥

अर्थः—ज्ञानी न तो कर्म करता है और न भोगता है, वह कर्म के स्वभावको मात्र जानता ही है। इस प्रकार मात्र जानता हुआ करने और भोगने के अभाव के कारण शुद्ध स्वभावमें निश्चल ऐसा वह वास्तव में मुक्त ही है ॥ १९८ ॥

अथात्मनः कर्तृत्वं दूषयति–

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसावृताः ।
सामान्यजनवत् तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥१९९॥

टीका—ये तु जिनसिद्धान्ताभासाः। तमसावृता अज्ञानव्याप्ता विचाररहित्याद्। आत्मानं कर्त्तारं कर्मकारकं। पश्यन्ति ईक्षन्ते। तेषां जैनाभासानां मुमुक्षतामपि मोक्षमिच्छतामपि न मोक्षः कर्ममोचनलक्षणो मोक्षो न स्यात्। आत्मनः कर्तृत्वाभ्युपगमात् तदभ्युपगमे च सदैव बद्धत्वप्रसङ्गः। क इव सामान्यजनवत् सामान्यजनानां वैशेषिकादीनां। यथा "कर्ता शिवस्त्रिजगतां" तथा च प्रयोगः सर्वं उर्वीपर्वततरुतन्वादिकं धीमद्धेतुकं कार्यत्वादचेतनोपादानत्वात् सन्निवेशविशिष्टत्वाद् वा वस्त्रादिवदिति। यस्तु धीमान् स ईश्वरः। तस्य विचार्यमाणस्य मुक्तत्वायोगात् स हि अशरीरः सशरीरो वा करोति? न तावदाद्यः अशरीरस्य कर्तृत्वव्याघातात् मुक्तात्मवत्। सशरीरमात्रकर्तृत्वे उपक्षीणशक्तिकत्वात् तदकारणे साधनस्य व्यभिचारात् सकर्मकत्वे संसारिजनवदकर्तृकत्वाच्च तद्वदमुक्तत्वम् ॥ १९९ ॥

अर्थः—जो अज्ञान–अन्धकार से आच्छादित होते हुए आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे भले ही मोक्ष के इच्छुक हों तथापि सामान्य जनों की भाँति उनकी भी मुक्ति नहीं होती ॥ १९९ ॥

अथ तथैव कर्तृत्वं व्याहन्ति–

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥

टीका—परद्रव्यात्मतत्त्वयोः पुद्गलद्रव्यजीवद्रव्ययोः सर्वोऽपि तादात्म्यादिलक्षणः सम्बन्धो नास्ति। कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तयोर्मध्ये आत्मनः कर्तृत्वं कर्मणां कर्मत्वं एतल्लक्षणसम्बन्धाभावे सति तत्कर्तृता तेषां कर्मणामात्मनः कर्तृत्वं कुतः? न कुतोऽपि स्यात् ॥ २०० ॥

अर्थः—परद्रव्य और आत्मतत्त्व का (कोई भी) सम्बन्ध नहीं है; इस प्रकार कर्तृत्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है ॥ २०० ॥

अथ परद्रव्यात्मतत्त्वयोः सम्बन्धं निवारयति—

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं ।
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ॥
तत्कर्तृ कर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे ।
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जना स्वतत्त्वं ॥ २०१ ॥

टीका—इह जगति । यतः कारणादेकस्य वस्तुनश्चेतनस्याचेतनस्य वा अन्यतरेण सार्धं सह । सकलोऽपि समस्तोऽपि सम्बन्धस्तादात्म्यलक्षणो गुणगुणिभावलक्षणः लक्ष्यलक्षणभावो वाच्यवाचकभावलक्षणो विशेष्यविशेषणभावलक्षण इत्यादिः सम्बन्धो भिन्नवस्तुनोर्निषिद्ध एव प्रतिषिद्ध एव । तत् तस्मात् कारणात् । वस्तुभेदे वस्तुनोर्जीवपुद्गलयोर्भेदे पृथक्त्वे सति । कर्तृ कर्मघटना कर्तृ कर्मणोर्जीवपुद्गलयोः कर्तृत्वं कर्मत्वमिति घटना सम्भावना नास्ति । च पुनः । मुनयो जना मुनीश्वरलक्षणा लोकाः । अकर्तृ कर्तृत्वव्यपदेशरहितं । स्वतत्त्वं स्वात्मस्वरूपं, पश्यन्तु अवलोकयन्तु ॥ २०१ ॥

अर्थः—क्योंकि इस लोकमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है इसलिये जहां वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं वहां कर्त्ताकर्मघटना नहीं होती, इसप्रकार मुनिजन और लौकिकजन तत्त्वको (वस्तुके यथार्थ स्वरूपको) अकर्त्ता देखो (यह श्रद्धा में लाओ कि कोई किसी का कर्त्ता नहीं है, परद्रव्य परका अकर्त्ता ही है) ॥ २०१ ॥

अथाज्ञानिस्वभावं नेनेक्ति—

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो वत ते वराकाः
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म,
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥ २०२ ।

टीका—तु पुनः । ये सांख्यादयो वादिनः । इमं प्रसिद्धं । स्वभावनियमं स्वभावश्चेतनत्वमचेतनत्वं तस्य नियमं न कलयन्ति न मन्यन्ते सांख्यादीनां प्रकृत्यादितत्त्वानामेकत्वघटनात् । कीदृक्षास्ते ? अज्ञानमग्नमहसः अज्ञाने मग्नमज्ञानाच्छादितं महो ज्ञानज्योतिर्येषां ते । वतेति खेदयन्ति ते वादिनः । वराकाः स्वतत्त्वव्यघातात् स्वस्वरूपं स्थापयितुमसमर्थाः सन्तः । केवलं कर्म ज्ञानावरणादि प्रकृतिमुपार्जयन्ति । हीति स्फुटं । तत एव अज्ञानादेव भावकर्म करोति न द्रव्यकर्म करोति । यतस्तत एव

स्वयमज्ञानादिर्भावकर्मकर्ता भावकर्मणां रागद्वेषादीनां कर्ता कारको भवति । अन्योऽज्ञानादिस्वभावाद् भिन्नश्चेतन एव चेतयति स्वस्वरूपमिति चेतन एव भावकर्मकर्ता न भवति ।। २०२ ।।

अर्थः—(आचार्यदेव खेदपूर्वक कहते हैं कि) अरे ! जो इस वस्तुस्वभावसे नियमको नहीं जानते वे बेचारे जिनका (पुरुषार्थरूप-पराक्रमरूप) तेज अज्ञान में डूब गया है ऐसे कर्म को करते हैं इसलिए भावकर्म का कर्त्ता चेतन ही स्वयं होता है, अन्य कोई नहीं ।। २०२ ।।

अथ कर्मणः कार्यत्वं कीर्तयति—

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीव प्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग् भावानुषङ्गाकृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो,
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ।।२०३।।

टीका—कर्म भावकर्म पक्षः । अकृतं न भवितुमर्हतीति साध्यो धर्मः कार्यत्वाद् हेतुस्तत्रान्वय-व्याप्तियेद् यत् कार्यं तत्तदकृतं न भवति यथा घटादिः कार्यं च भावकर्म तस्मादकृतं न व्यतिरेकव्याप्तिश्च यदकृतं तन्न कार्यं यथा व्योमादिः न च तथेदं तस्मान्न तथेति । कस्य कार्यमिति प्रश्ने तच्च कर्म जीव प्रकृत्योः । जीवश्च प्रकृतिश्च तयोः द्वयोः कार्यं न । कुतः ? अज्ञाया अचेतनायाः प्रकृतेः । स्वकार्यफल-भुग्भावानुषङ्गाकृतिः स्वस्य स्वभावकर्मणः कार्यं सुखदुःखादि तस्य फलमिष्टानिष्टावाप्तिपरिहार-पूर्वकसुखदुःखानुभवनं । भुनक्तीति स्वकार्यफलभुग्तस्य भावस्तस्यानुषङ्गाकृतिः सम्पर्कः प्रसङ्गः स्यात् । ननु द्वयोर्मा भवतु कार्यं एकस्याः प्रकृतेः द्रव्यकर्मणः सांख्यपरिकल्पितायाः सत्त्वरजस्तमसां समावस्थायाः प्रकृतेर्वा कार्यमिति चेन्न अचित्त्वलसनात् प्रकृतेरचेतनत्वस्वभावात् तत्कार्यत्वे च तस्याचेतनत्वानुषङ्गात् । ततो द्वयोरेकस्याः कार्यकरणायोगात् । अस्य भावकर्मणः । जीवति दशभिः प्राणैरिति जीवःसंसार्यात्मा । कर्ता कारकः । च पुनः । तत् कर्म । तत् प्रसिद्धं भावकर्म । जीवस्यैव नान्यस्य । किम्भूतं ? चिदनुगं चेतनासहितं ।

तथा चोक्तं श्रीमदाप्तपरीक्षायां—

भावकर्माणि चैतन्यविवर्तात्मानि भान्ति नुः ।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिच्चिदभेदतः ।। १ ।।
यद् यस्मात् कारणात् पुद्गलो ज्ञायको नाचेतनत्वात् ।।२०३।।

अर्थः—जो कर्म (भावकर्म) है वह कार्य है, इसलिये वह अकृत नहीं हो सकता अर्थात् किसी के द्वारा किए बिना नहीं हो सकता । और ऐसा भी नहीं है कि वह (भावकर्म) जीव और प्रकृति दोनों की कृति हो, क्योंकि यदि वह दोनों का कार्य हो तो ज्ञानरहित (जड़) प्रकृतिको भी अपने कार्यका फल भोगने का प्रसंग आ जाएगा । वह (भावकर्म) एक प्रकृति की कृति (अकेली प्रकृति का कार्य) भी नहीं है, क्योंकि प्रकृतिका तो अचेतनत्व प्रकट है अर्थात् प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है, इसलिये उस भावकर्म का कर्त्ता जीव ही है और चेतन का अनुसरण करने वाला अर्थात् चेतन के साथ अन्वयरूप (चेतन के परिणामरूप) ऐसा वह भावकर्म जीवका ही कर्म है क्योंकि पुद्गल तो ज्ञाता नहीं है (इसलिये वह भावकर्म पुद्गलका कर्म नहीं हो सकता) ॥ २०३ ॥

अथ प्रकृतिवादिनं सांख्यं प्रतिक्षिपति—

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः क्षिप्त्वाऽत्मनः कर्तृतां ।
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता ॥
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये ।
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥२०४॥

टीका—कैश्चित् सांख्यमतानुसारिभिरिति पूर्वोक्ता श्रुतिर्जिनोक्तं सूत्रं । कोपिता विराधिता । किम्भूता श्रुतिः ? अचलिता प्रमाणादिभिश्चलयितुमशक्या । किम्भूतैस्तैः ? कर्तृहतकैरात्मनोऽकर्तृत्वप्रतिपादकैः । आत्मा चेतयिता । कर्ता तु प्रकृतिः । किं कृत्वा ? कर्मैव प्रकृतिरेव कर्तृ सुखदुःखादिकारकं प्रवितर्क्य प्रविचिन्त्य, कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः कर्मैव ज्ञानिनं करोति । तत्कर्मक्षयोपशममन्तरेण तदनुपपत्तेः । तथैव निद्रासुखदुःखमिथ्यादृष्टयसंयतोर्ध्वाधस्तिर्यग् लोकशुभाशुभप्रशस्ताप्रशस्तादिकं । तत्तत् सम्बन्धि कर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः । तथा च जैनी श्रुतिः पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलषति स्त्रीवेदाख्यं कर्म नरं च । तथा यत् परं हन्ति येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन जीवस्याब्रह्मपरघातादि निषेधात् कर्मण एव तत्समर्थनात् । आत्मनो जीवस्य कर्तृतां भावकर्मकारित्वं क्षिप्त्वा निराकृत्य प्रकृतेरेव कर्तृत्वे तस्य सर्वेषां जीवानामकर्तृत्वे भोक्तृत्वादीनामपि कर्तृत्वाभावात् अकिञ्चित्करत्वमेव पुरुषत्वव्याघातात् इति किं ? एष आत्मा कथञ्चित् कर्ता केनचित् कारणेन कारकः । अन्यथा मुक्तात्मनां कर्तृत्व प्रसङ्गात् । तेषां प्रकृतेः कर्तृत्ववादिनां बोधस्य ज्ञानस्य संशुद्धये निर्मलीकरणाय, वस्तुस्थितिः वस्तुनः

स्थितिर्व्यवस्था । स्तूयते प्रशस्यते । किम्भूता सती ? स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया स्याद्वादेन कथञ्चिद्वादेन प्रकृत्यादीनां नित्यत्वादेः प्रतिबन्धः प्रतिषेधस्तत्कथं ? प्रधानं व्यक्तादर्पति । नित्यत्व-निराकरणात् । अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधादित्येकान्तनिषेधः तेन लब्धो विजयो यया सा । अथवा स्याद्वाद एव प्रतिबन्धः कारणंवस्तुस्थितेस्तेन लब्धो विजयो ययासा । कोदृशानां तेषां ? उद्ध-तमोहमुद्रितधियां उद्धत उत्कटश्चासौ मोहश्च मोहनीयं कर्म तेन मुद्रिता आच्छादिता धी धारणावती बुद्धिर्येषां तेषां ॥ २०४ ॥

अर्थः—कोई आत्मा के घातक (सर्वथा एकान्तवादी) कर्म को ही कर्त्ता विचार कर आत्मा के कर्तृत्व को उड़ाकर 'यह आत्मा कथंचित् कर्त्ता है' ऐसा कहने वाली अचलित श्रुति को कोपित करते हैं (-निर्बाध जिनवाणी की विराधना करते हैं); जिनकी बुद्धि तीव्र मोह से मुद्रित हो गई है ऐसे उन आत्मघातकों के ज्ञानकी संशुद्धि के लिए वस्तुस्थिति कही जाती है—जिस वस्तुस्थिति ने स्याद्वादके प्रतिबन्ध से विजय प्राप्त की है (अर्थात् जो वस्तुस्थिति स्याद्वादरूप नियम से निर्बाधतया सिद्ध होती है ।) ॥ २०४ ॥

अथ निश्चयेनाकर्तृत्वमात्मनो वक्ति—

मा कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः ।
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः ॥
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं ।
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥२०५॥

टीका—अमी आर्हता अर्हतो भगवत इमे । अर्हन देवो येषां ते आर्हताः । पुरुषं आत्मानं । कर्तारं भावकर्मकर्त्तारं मास्पृशन्तु मा ऽङ्गीकुर्वन्तु क इव ? सांख्या इव यथा सांख्या आत्मनो ऽकर्तृत्वं प्रतिपादयन्ति तथा साक्षाज्ज्ञानरूपेण जैना अपि । किलेत्यागमोक्तौ । भेदावबोधाद् भेद-ज्ञानाद् अधोऽभेदज्ञानावस्थायां तं आत्मानं तदा संसारावस्थापर्यन्तं । कर्तारं भावकर्मकारकं । कलयन्तु जानन्तु । तु पुनः ऊर्ध्वं अज्ञानादुपरि भेदविज्ञानावस्थायां । एनमात्मानं । स्वयं स्वभावतः प्रत्यक्षं अध्यक्षं यथा भवति तथा । च्युतकर्तृभावं त्यक्तकर्तृस्वभावं । पश्यन्तु अवलोकयन्तु । के ? मुनयः । किम्भूतं ? उद्धतबोधधामनियतं उद्धतं च तद्बोधधाम ज्ञानज्योतिश्च तत्र नियतं नियन्त्रितं । पुनः कथम्भूतं ? अचलं निष्कम्पं । पुनः कथम्भूतं ? ज्ञातारं ज्ञायकं । पुनश्च कथम्भूतं ? एकं कर्मद्वैत-रहितत्वाद्द्वैतं । पुनः कथम्भूतं ? परं जगच्छ्रेष्ठं ॥ २०५ ॥

अर्थः—आर्हत मत के अनुयायी अर्थात् जैन भी आत्माको सांख्यमतियों की भाँति (सर्वथा) अकर्त्ता मत मानो; भेदज्ञान होनेसे पूर्व उसे निरन्तर कर्त्ता मानो और

भेदविज्ञान होने के बाद उद्धत ज्ञानधाम में निश्चित इस स्वयंप्रत्यक्ष आत्माको कर्तृत्व-रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही देखो ॥ २०५ ॥

अथ क्षणक्षयस्वलक्षणवादिनं सौगतं निराचष्टे –

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं ।
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदं ।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः ।
स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव ॥२०६॥

टीका—इह भरतक्षेत्रे । भावमिथ्यात्वापेक्षया सर्वत्र वा । एकः सौगतवादी कर्तृभोक्त्रोर्विभेदं कर्ता च भोक्ता च तयोर्विभेदं भिन्नत्वं "सौगतानां कर्ताऽन्यः भोक्ता अन्यः" । निजमनसि स्वचेतसि विधत्ते करोति । किं कृत्वा ? कल्पयित्वा प्रकल्प्य । किं ? इदं प्रसिद्धं । आत्मतत्त्वं जीवतत्त्वं । क्षणिकं क्षणस्थायि । "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् प्रदीपवत्" इत्यनुमाने सर्वथा नित्यादिपक्षे अर्थक्रिया-भावं प्रकल्प्य दूषयति । अयं प्रसिद्धः प्रत्यभिज्ञानादिलक्षणः चिच्चमत्कार एव चितो ज्ञानस्य चम-त्कारः । तस्य सौगतस्य विमोहं क्षणिकत्वं बुद्धिव्यामोहं अपहरति निराकरोति । स्वयं स्वभावादेव । नित्यामृतौघैं आत्मादौ यन्नित्यत्वं तदेवामृतं तस्य ओघैः समूहैः । अभिषिञ्चनभिषेकं कुर्वन् सर्वं नित्य-स्वरूपं प्रतिदर्शयन् सन् इत्यर्थः सर्वं कथंचिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । न चैतदसिद्धं य एव बालः स एव युवा स एव वृद्ध इत्यबाधितायाः प्रतीतेः सद्भावात् तथा व्यवहाराच्च क्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधाच्च क्षणिकं यदि स्वसत्तायामपरक्षणोत्पादलक्षणामर्थक्रियां करोति तदा सकलस्य जगतः क्षणिकत्वं रुणद्धि कार्यकालं प्राप्नुवतः क्षणिकत्वविरोधात् स्वयमविद्यमानं सत् करोति । यदा तदा कालान्तरे पूर्वं पश्चाच्च तत्कुर्यादसत्त्वाविशेषादित्यर्थक्रियाविरोधः ॥ २०६ ॥

अर्थः—इस जगत्में कोई एक तो (अर्थात् क्षणिकवादी बौद्धमती) इस आत्म तत्त्व को क्षणिक कल्पित करके अपने मन में कर्त्ता और भोक्ता का भेद करते हैं (कर्त्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, ऐसा मानते हैं); उनके मोहको (अज्ञानको) यह चैतन्यचमत्कार ही स्वयं नित्यतारूप अमृत-समूह द्वारा अभिसिंचन करता हुआ दूर करता है ॥ २०६ ॥

अथ क्षणिकैकान्तान् छिनत्ति पद्यत्रयेण–

वृत्त्यंश भेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा ॥२०७॥

टीका—इत्यीदृक्ष एकान्तः सौगतोपकल्पितः क्षणिकैकान्तः। मा चकास्तु मा प्रतिभासतां। इति किं? अन्यो भिन्नः क्षणः करोति कार्यं निष्पादयति। अन्यस्तदनन्तरभावी अन्यो भिन्नः क्षणः पूर्वक्षणकृतं कार्यं भुङ्क्ते भुनक्ति। कुतः? वृत्त्यंशभेदतः वृत्तेर्वर्तनाया अंशा ज्ञानादिपर्यायास्तेषां भेदात्। द्रव्याभावे सति पूर्वोत्तरपर्यायाणामत्यन्तभिन्नत्वात्। कुतो भेदः? अस्यन्तमन्तर्द्रव्यादिस्वरूपेणापि वृत्तिमन्नाशकल्पनात् वृत्तिर्वर्तना अस्ति येषां ते वृत्तिमन्तः पर्यायाः तेषां नाशोऽत्यन्तमुच्छेदस्तस्य कलनादित्येकान्ते यो हिंसाभिसन्धता स न हिनस्ति सोऽहिंसकः सन् न बध्नाति पापकर्मणा। यस्तु बध्यते स न मुच्यतेऽन्यो ध्याताऽन्यो ध्यानचिन्तकोऽन्यो मुक्त इति पूर्वोत्तरपर्यायाणामत्यन्तभेदात्॥ २०७॥

अर्थः—वृत्त्यंशों के अर्थात् पर्याय भेद के कारण 'वृत्तिमान अर्थात् द्रव्य सर्वथा नष्ट हो जाता है' ऐसी कल्पना द्वारा 'अन्य करता है और अन्य भोगता है' ऐसा एकान्त प्रकाशित मत करो॥ २०७॥

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः।
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः॥
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरितौ-
रात्मा व्युज्झित एव हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः॥२०८॥

टीका—अहो आश्चर्यं। परैः स्याद्वादानवद्यविद्याविचारचोरकैः। अन्धकैः बौद्धैः। आत्मा आत्माख्यं द्रव्यं व्युज्झितस्त्यक्तः। ज्ञानपर्यायमन्तरेणाऽत्मनोऽभावात्। किं कृत्वा? अतिव्याप्ति अतिव्याप्तिनामदूषणं प्रपद्य अङ्गीकृत्य तथाहि यदेव वस्तु स्याद्वादिनामात्मादि तदेव अनेकपर्यायाक्रान्तं गुणपर्यायाक्रान्तं "गुणपर्ययवद् द्रव्यमिति" सूत्रकारवचनात्।

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राट्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा॥ १०७॥

इति स्वामिसमन्तभद्राचार्यवर्यवचनाच्च—ननु त एव पर्याया अवस्तुभूता वस्तुभूता वा? प्राक्पक्षे अवस्तुभूतैः पर्यायैर्जीवस्य वस्तुत्वाघटनात् कृत्रिमस्फुटत्वतोवस्तुभूततानवघटनात्। अथ वस्तुभूताश्चेत् तेऽपि पर्यायाक्रान्ता अन्यथा वस्तुत्वाघटनात्। पुनरुत्तरपर्यायाणां वस्तुत्वापत्तावनवस्था। एकस्मिन्ननेकवस्तुत्वापत्तिश्च। ततो नैकद्रव्यव्यवस्था। अतिव्याप्तिसद्भावादिति चेन्न प्रदीपक्षणस्यैकस्य तैलाकर्षणवर्तिकामुखदाहाद्यनेककार्यं कुर्वतः कार्यस्यासत्यत्वे कार्यकारित्वाद् वस्तुव्यवस्थानायोगात् तत्सत्यत्वे प्रतिकार्यं क्षणिकवस्तुत्वापत्तिरिति कथमेकक्षणिकवस्तुत्वस्थितिरिति।

कीदृशैः ? आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिः आत्मानं स्वं चैतन्यं। परिशुद्धं संसारदशातो ध्यानादिभिर्निर्मलमीप्सुभिर्वाञ्छकैः। क्षणिकत्वे कस्याशुद्धित्वं कस्य पुनर्ध्यानं कस्य च मुक्तावस्थायां शुद्धिरिति सर्वं गगनारविन्दमिव निर्विषयत्वादसदाभाति आत्माभावात्। पुनः शुद्धिरशुद्धिश्च कस्य एकक्षणस्य द्विधर्माधारत्वाघटनात्। अन्यथा निरंशत्वपक्षघातप्रसक्तेः। अपि पुनः। किं कृत्वा ? मत्वा ज्ञात्वा। क्व ? तत्र आत्मनि। कां ? अधिकामशुद्धिं दूषणाधानाद् बहुतरामशुद्धिमशुद्धतां। कुतः ? कालोपाधिबलात् कालः समयादिस्थायित्वरूपः स एव उपाधिर्विशेषणं तस्य बलं सामर्थ्यं तस्मात्। तथाहि एकं वस्तु अनेकक्षणस्थायि सदनेकक्षणविशिष्टं भवेत् तदविशिष्टं वा ? प्राक्तने पक्षे प्रथमक्षणेऽनेकक्षणविशिष्टत्वं भवेदन्यथा अनेकक्षणविशिष्टत्वाभावप्रसङ्गात्। एवं द्वितीयादिक्षणेष्वपि। द्वितीयपक्षे कालावशिष्टं वस्तु क्रमयौगपद्याभ्यामव्यतिरिक्तमवस्त्वेव स्यात्। पुनः किं विधाय ? प्रकल्प्य कल्पयित्वा। किं क्षणिकं क्षणस्थायि चैतन्यं ज्ञानं "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् प्रदीपवत्"। नित्ये क्रमाक्रमाभावादर्थक्रियाभावात् सत्त्वाभाव इति। कैः ? पृथुकैर्बालिशैः वस्तुनः क्वचित्कदाचित्क्षणिकत्वाभावात्। पुनः कीदृक्षैः ? रतैः रक्तैः। क्व ? शुद्धर्जुसूत्रे शुद्धः द्रव्यनिरपेक्षः स चासौ ऋजुसूत्रश्च अर्थपर्यायग्राहको नयस्तत्र। कैः क इव ? निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिरप्रोतसूत्रे ईहितहारमुक्ताफलावलोकिभिः पुरुषैर्हारवद् यथा हारस्त्यक्त अन्वयिसूत्रद्रव्यानङ्गीकारात् ॥ २०८ ॥

अर्थः—आत्माको सम्पूर्णतया शुद्ध चाहने वाले अन्य किन्हीं अन्धों ने बालिशजनों ने (बौद्धों ने) काल की उपाधि के कारण भी आत्मा में अधिक अशुद्धि मानकर अतिव्याप्ति को प्राप्त होकर शुद्ध ऋजुसूत्रनय में रत होते हुए चैतन्य को क्षणिक कल्पित करके इस आत्माको छोड़ दिया; जैसे हार के सूत्र (डोरे) को न देखकर मात्र मोतियों को ही देखनेवाले हार को छोड़ देते हैं ॥ २०८ ॥

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा,
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिन्त्यताम्।
प्रोतासूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचित्,
चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्येव नः ॥२०९॥

टीका—कर्तुः कारकस्य, वेदयितुश्च कर्मभोजकस्य च, भेदः परस्परं कथंचिद्भिन्नत्वमस्तु सर्वथा भेदे तयोः केवलं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा स्यात्। यः कर्ता स एव भोक्ता इति जीवान्तरवेदकसन्तानेऽपि न स्यात्। कुतः ? युक्तिवशतः नयप्रमाणात्मिका युक्तिः तस्य वशतः द्रव्यार्थादेशादेकत्वप्रतिभासनात्। अहमहमिकात्मा विवर्त्तात्माननुभवन् सर्वलोकानां स्वलक्षणप्रत्यक्षत्वप्रतिभासनाच्च चित्रज्ञानवत् सर्वथा भेदाघटनात्, तु पुनः कथंचिदभेदो वास्तु सर्वथाऽभेदेतयोरुभयव्यपदेशाभावः केवलं

कर्तैव भोक्तैव वा स्यात्। ततस्तद्वतस्ताभ्यां परस्परं व्यावृत्तिरेकानेकस्वभावत्वात् घटरूपादिवत्। ततः य एव करोति स एव अन्यो वा वेदयते य एव वेदयते स एव अन्यो वा करोति इति नास्त्येकान्तः। कर्ता वेदयिता भोक्ता चात्मा भवतु वा अथवा मा भवतु कर्ता भोक्ता मास्तु वस्त्वेव शुद्धात्मैकद्रव्यरूपं वस्तु वसति गुणपर्यायास्मिन्निति वस्तु। पर्यायानपेक्षया द्रव्यमेव शुद्धं संचिन्त्यतां ध्यायतां विचार्यतां वा। निपुणैः भेदज्ञैः पुरुषैः। इह आत्मनि चिद्रूपे, क्वचित् कस्मिंश्चित् काले भतुं धतुं, कर्ता भोक्ता चेति धतुं, न शक्यस्तस्यैकरूपत्वात् दृष्टान्तयतीत्यत्र इव यथा सूत्रे गुणे तंतौ प्रोता अनुस्यूतो हारो मुक्तामणिरिति भतुं न शक्यः। अपि पुनः, नः अस्माकं-स्याद्वादिनां, अभितः सामस्त्येन इयं प्रसिद्धा, एका अद्वितीया चिच्चिन्तामणिमालिका-चित् चेतना सैव चिन्तामणिः तस्य मालिका पंक्तिः, अनुस्यूतमुक्ताफलानां पंक्तिरिव चकास्त्येव द्योतत एव क्षणक्षणिकपक्षदूषणैरष्टसहस्रयां क्षणिकज्ञानस्य निराकृतत्वात् ॥ २०९ ॥

अर्थः—कर्त्ता का और भोक्ता का युक्ति के वश से भेद हो या अभेद हो, अथवा कर्त्ता और भोक्ता दोनों न हों, वस्तुका ही अनुभव करो। जैसे चतुर पुरुषों के द्वारा डोरे में पिरोई हुई मणियों की माला भेदी नहीं जा सकती, उसी प्रकार आत्मा में पिरोई गई चैतन्यरूप चिन्तामणि की माला भी कभी किसीसे भेदी नहीं जा सकती; ऐसी यह आत्मारूपी माला एक ही हमें सम्पूर्णतया प्रकाशमान हो। (अर्थात् नित्यत्व, अनित्यत्व आदि के विकल्प छूट कर हमें आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हो) ॥२०९॥

अथ व्यावहारिकदृशा तयोर्भिन्नत्वं चिन्त्यते-

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृकर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृकर्म च सदैकमिष्यते ॥२१०॥

टीका—च पुनः, कर्तृ कारकं, कर्म च कार्यं, विभिन्नं परस्परं भिन्नं, इष्यते, कया? केवलं परं व्यावहारिकदृशैव व्यवहारदृष्टयैव यथा सुवर्णकारादिः कुण्डलादि परद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति तत्फलं च भुङ्क्ते न तु तन्मयो भवति तथात्मापि पुण्यपापादिकं पुद्गलात्मकं कर्म करोति, तत्फलकुलं च कवलयति न तु तन्मयः मीमांस्यते। यदि चेत्, निश्चयेन निश्चयनयेन वस्तुद्रव्यमात्रं केवलं, इष्यते। कदा? सदा नित्यं, कर्तृकर्म च आत्मनः कर्तृत्वकर्मत्वयोरैक्यमिष्यते। यथा च स नाडिधमादि चिकीर्षुः चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति आत्मपरिणामात्मकं कर्म करोति आत्मपरिणामात्मकं दुःखलक्षणं चेष्टारूपं कर्मफलं भुङ्क्ते ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति। तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टारूप स्वपरिणामात्मकं कर्म करोति चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं दुःखलक्षणं फलं च भुङ्क्ते ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्चैव स्यात् ॥ २१० ॥

अर्थः—केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही कर्त्ता और कर्म भिन्न माने जाते हैं; यदि निश्चय से वस्तु का विचार किया जाए तो कर्त्ता और कर्म सदा एक माना जाता है ॥२१०॥

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः ।
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ॥
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया ।
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥ २११ ॥

नोट—अस्य श्लोकस्य संस्कृतटीका न वर्तते ।

अर्थ—वास्तव में परिणाम ही निश्चय से कर्म है और परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामीका ही होता है, अन्य का नहीं (क्योंकि परिणाम अपने २ द्रव्य के आश्रित हैं, अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता); कर्म कर्त्ता के बिना नहीं होता तथा वस्तु की एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्याय स्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व बाधा सहित है); इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्त्ता है (यह निश्चय सिद्धान्त है) ॥ २११ ॥

अथवस्त्वन्तरप्रवेशं वस्तुनो न निर्लुठति पद्यत्रयेणप्राह—

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं,
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरं ।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥ २१२ ॥

टीका—यद्यपि स्वयं स्वभावतः, बहिः बाह्ये, स्फुटदनन्तशक्तिः स्फुटन्ती व्यक्ता चासावनन्तशक्तिः द्विकवारानन्ताविभागप्रतिच्छेदश्च । लुठति स्फुटीभवति, यथा सेटिकायाः सेटिकत्वादिः तथापि अन्यवस्त्वन्तरं सेटिकादि परवस्तुनो मध्ये न विशति, कुड्यादिलक्षणस्य मध्ये न प्रविशति । यतः यस्मात् कारणात्, सकलमेव समस्तमेव वस्तु चेतनलक्षणं द्रव्यं स्वभावनियतं स्वस्य भावे स्वस्वरूपे नियतं स्थितं, जीवस्य ज्ञानात्मकं लक्षणं अजीवस्य अचेतनस्य अचैतन्यं तद्विपरीतं इष्यते अभिलष्यते । अतः इह जगति, मोहितः मोहाक्रांतः पुमान्, किं क्लिश्यते किं वृथा क्लेशं करोति । पराभिप्रायपरिवर्तनेन, किम्भूतः सन् ? स्वभावचलनाकुलः स्वभावस्य वस्तुस्वरूपस्य चलना चापल्यं कर्तरि कर्मप्रवेशत्वं, कर्मणि कर्तृप्रवेशत्वमित्यादिलक्षणं तत्राकुलो व्याकुलतां गतः सन्, स्वरूपस्य ज्ञानादेः स्वरूपिणि जीवादौ व्यवस्थितत्वात् अन्यथा द्रव्योच्छेदः स्यात् ॥ २१२ ॥

अर्थ—स्वयं अनन्तशक्ति से प्रकाशित वस्तु अन्य वस्तु के बाहर यद्यपि लोटती है तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तु के भीतर प्रवेश नहीं करती क्योंकि समस्त वस्तुएँ अपने अपने स्वभाव में निश्चित हैं ऐसा माना जाता है। (आचार्यदेव कहते हैं कि) ऐसा होने पर भी मोही जीव अपने स्वभाव से चलित होकर आकुल होता हुआ क्यों क्लेश पाता है ? ॥ २१२ ॥

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो,
येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः,
किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥ २१३ ॥

टीका—इह जगति, येन कारणेन, एकं चेतनादिलक्षणं, वस्तु द्रव्यं, अन्यवस्तुनः अपरवस्तुनः चेतनादेः स्वरूपं न भवति, खल्विति निश्चितं, तेन वस्तुनः परवस्तुस्वभावाभावेन कारणेन, अयं प्रसिद्धः निश्चयः परमार्थः, अयं कः ? यद्वस्तु स्वगुणपर्यायैर्द्रव्यं तत्स्वगुणपर्यायैरेव वस्तु चेतनादि द्रव्यं, नान्यथा परस्वरूपेण वस्तु भवत्यतिप्रसङ्गात्, होति तस्मात् कारणात् कः अपरः अन्यः पदार्थः सेटकादिर्जीवादिश्च अपदस्य कुड्यादेः कर्मपुद्गलस्य च, किं श्वेतत्वं ज्ञानित्वं च करोति अपि तु न करोतीत्यर्थः। बहिर्बाह्ये लुठन्नपि भित्त्यादीनां श्वेतत्वं कुर्वन्नपि परस्वरूपेण न भवति अन्यथा स्वद्रव्योच्छेदः, आत्मापि परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकः बहिर्भवन्नपि तत्स्वरूपेण न भवति ॥ २१३ ॥

अर्थ—इस लोक में एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है इसलिए वास्तव में वस्तु वस्तु ही है यह निश्चय है। ऐसा होने से कोई अन्य वस्तु अन्य वस्तु के बाहर लोटती हुई भी उसका क्या कर सकती है ? ॥ २१३ ॥

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः,
किञ्चनापि परिणामिनः स्वयं ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं,
नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१४॥

टीका—यत्तु तन्मतं कथितं कया व्यावहारिकदृशैव व्यवहारदृष्ट्यैव न तु परमार्थतः, तत् किं ? तु विशेषे, यद्वस्तु सेटकादिः, परिणामिनः परिणमनशीलस्य, अन्यवस्तुनः कुड्यादेः स्वयं स्वभावतः किञ्चन धवलत्वादिकं, कुरुते विदधाति। तथात्मापि परद्रव्यं स्वकेन भावेन ज्ञातापि,

जानाति पश्यति विजहाति श्रद्धत्ते चेतत्सर्वं व्यवहारतः । इह जगति, निश्चयात् परमार्थतः, किमपि सेटकादि द्रव्यं चेतनद्रव्यं वा अन्यत् कुड्यादेः श्वेतकत्वं आत्मनः परद्रव्यज्ञातृत्वं च नास्ति ॥ २१४ ॥

अर्थ—एक वस्तु स्वयं परिणमित होती हुई अन्य वस्तु का कुछ भी कर सकती है—ऐसा जो माना जाता है वह व्यवहारदृष्टि से ही माना जाता है। निश्चय से इस लोक में अन्य वस्तु को अन्य वस्तु कुछ भी नहीं है (अर्थात् एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।) ॥ २१४ ॥

अथ द्रव्ये द्रव्यान्तरनिषेधं निबध्नते —

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२१५॥

टीका—जातुचित् कदाचित्, किमपि चेतनमचेतनं वा द्रव्यान्तरं, चेतनादचेतनं वस्त्वन्तरं, अचेतनाच्चेतनं वा वस्त्वन्तरं एकद्रव्यगतं एकस्मिन् द्रव्ये चेतने चेतनमचेतनं च अचेतने वा चेतनमचेतनं च गतं सम्प्राप्तं, न चकास्ति न द्योतते। कस्य ? तत्त्वं समुत्पश्यतः तत्त्वं वस्तुयाथात्म्यं समुत्पश्यतः अवलोकयतो मुनेः। किम्भूतस्य ? शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेः शुद्धं द्रव्यं निरुपाधिस्वात्मादि द्रव्यं, तस्य निरूपणे प्रतिपादने अर्पिता आरोपिता मतिः बुद्धिःयेन तस्य। तु पुनः, यत् यस्माद्धेतोः, ज्ञानं ज्ञेयं पदार्थं, अवैति जानाति न तु ज्ञेयं स्वस्वरूपेण करोति नत्विदं तत्स्वरूपेण भवति किन्तु केवलं परिच्छिनत्ति। तत् तस्मात् कारणात्। अयं ज्ञेयपरिच्छेदकत्वलक्षणः शुद्धस्वभावोदयः शुद्धः कर्मोपाधिनिरपेक्षः स्वभावः स्वरूपं तस्य उदयः प्राकट्यं। ततः जनाः जिनागमानभिज्ञाः लोकाः, तत्त्वात् वस्तुयाथात्म्यात् किं च्यवन्तः कथं चलन्ति, कीदृक्षाः सन्तः ? द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियः द्रव्यात् द्रव्यान्तरे परद्रव्ये, चुम्बनमाश्लेषणं तेनाकुलाः सेटिकया कथं श्वेतत्वं कुड्यादेः, ज्ञानेन कथं ज्ञेयं ज्ञातमित्यादिरूपा धीः बुद्धिः येषां ते यथोक्ताः सन्तः ॥ २१५ ॥

अर्थ—जिसने शुद्ध द्रव्य के निरूपण में बुद्धि को लगाया है और जो तत्त्व का अनुभव करता है, उस पुरुष को एक द्रव्य के भीतर कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ कदापि भासित नहीं होता। ज्ञान ज्ञेय को जानता है वह तो यह ज्ञानके शुद्ध स्वभाव का उदय है। जब ऐसा है तो फिर लोग ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की

मान्यता से आकुल बुद्धिवाले होते हुए तत्त्व से (शुद्ध स्वरूप से) क्यों च्युत होते हैं ? ॥ २१५ ॥

अथ स्वभावस्वभाविनोर्भेदं चकास्ति—

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात् किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद् द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः ।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि–
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥ २१६ ॥

टीका—शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात् शुद्धद्रव्यं दर्शनज्ञानचारित्रात्मकनिरुपाधिजीवद्रव्यादि तस्य स्वरसः स्वभावः तेन भवनं तस्मात् । स्वभावस्य चैतन्यादिलक्षणस्य स्वरूपस्य, शेषं द्रव्यात्परं अन्यद्रव्यं चेतनं वा किं भवति ? अपि तु परद्रव्यस्य स्वभाविनस्तदन्यद्रव्यस्वभावः स्वरूपं न भवति, परद्रव्यं तस्य स्वभावि न भवतीति तात्पर्यं । यदि वा अथवा सः स्वभावः चेतनादिलक्षणः तस्य अचेतनाद्यन्यद्रव्यस्य स्वरूपं किं स्यात् ? अपि तु न स्यादेव । अथ स्वरूपस्वरूपिणोः परस्वरूपस्वरूपिभ्यां सङ्करव्यतिकरादिदोषापत्तेः न किञ्चिच्चेतनमचेतनं वा स्यात् । इममेवार्थं दृष्टान्तयति ज्योत्स्नारूपं सेटिकादिद्रव्यस्य श्वेतस्वरूपं भुवं भूतलं स्नपयति धवलोकरोति, एव निश्चयेन, तथापि भूमिः विश्वम्भरा तस्य ज्योत्स्नारूपस्य स्वभावो नास्ति तस्य स्वभाविनो ज्योत्स्ना स्वरूपं न, ज्योत्स्नायाः सेटिकास्वभावत्वात् । दृष्टान्तेन स्पष्टं दार्ष्टान्तिं दर्शयति । ज्ञानं स्वपरावभासः ज्ञेयं कर्मतापन्नं परपदार्थं, कलयति परिच्छिनत्ति जानाति । कदा ? सदा नित्यं, तथापि अस्य ज्ञानस्य ज्ञेयं स्वरूपं नैवास्ति, ज्ञेयस्य स्वरूपस्य ज्ञानं स्वरूपि नैवास्ति तयोः परस्परमत्यन्तभेदात् ॥ २१६ ॥

अर्थ—शुद्ध द्रव्यका (आत्मा आदि द्रव्य का) निजरसरूप (ज्ञानादि स्वभाव में) परिणमन होता है इसलिए क्या शेष कोई अन्य द्रव्य उस (ज्ञानादि) स्वभाव का हो सकता है ? (नहीं) अथवा क्या वह (ज्ञानादि स्वभाव) किसी अन्य द्रव्य का हो सकता है ? (नहीं परमार्थ से एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं है ।) चांदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है तथापि पृथ्वी चांदनी की कदापि नहीं होती, इस प्रकार ज्ञान ज्ञेय को सदा जानता है तथापि ज्ञेय ज्ञान का कदापि नहीं होता॥ २१६ ॥

अथ ज्ञानस्वभावं वावच्यते—

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न याव-
ज्ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोधतां याति बोध्ये ।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं,
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥ २१७ ॥

टीका—यावत्पर्यन्तं ज्ञानं बोधः ज्ञानं ज्ञायकं स्वपरावभासकं शुद्धं न भवति न जायते, तावत्कालं, एतत् जगत्प्रसिद्धं, रागद्वेषद्वयं रागद्वेषयोर्द्वयं उदयते अनुभागरूपेणोदयं धत्ते । उदिते ज्ञाने तस्योदयाभावात् । पुनः यावज्ज्ञानं ज्ञानं प्राकट्यप्राप्तं न, तावत् बोध्ये शेये बहिः पदार्थे बोधतां ज्ञातृतां न याति न प्राप्नोति । ज्ञाते ज्ञाने स्वपरबोध्यप्रकाशकत्वात् । येन ज्ञानेन कृत्वा आत्मा, पूर्ण-स्वभावः भवति जायते । कीदृक्षः सन् ? तिरयन् आच्छादयन्, कौ ? भावाभावौ अस्तिनास्तिस्वभावौ विभावपर्यायौ उत्पादविनाशौ वा । तदिदं प्रसिद्धं, ज्ञानं संसारावस्थासंभवाद् रागद्वेषकल्मषीकृतं ज्ञानं शुद्धं स्वभावबोधो भवतु अस्तु । कीदृक्षं ? न्यक्कृताज्ञानभावं न्यक्कृतः तिरस्कृतः, अज्ञान-लक्षणो भावः स्वभावो येन तत् ॥ २१७ ॥

अर्थ—रागद्वेष का द्वन्द्व तब तक उदय को प्राप्त होता है कि जब तक यह ज्ञान ज्ञानरूप न हो और ज्ञेय ज्ञेयत्व को प्राप्त न हो इसलिए यह ज्ञान, अज्ञानभावको दूर कर ज्ञानरूप हो कि जिससे भाव अभाव (रागद्वेष) को रोकता हुआ पूर्ण स्वभाव (पूर्ण प्रकट) हो जाए ॥ २१७ ॥

अथ सम्यग्दृष्टेस्तत्क्षयमाशंसति—

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्,
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित् ।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ,
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥ २१८ ॥

टीका—हि स्फुटं, ज्ञानं बोधः, इह जगति, रागद्वेषस्वभावौ भवति जायते । कुतः ? अज्ञान-भावादज्ञानमयस्वभावत्वात् । ननु कथं ज्ञानं रागद्वेषौ भवति ? ज्ञानस्य ज्ञानावरणकर्मणः क्षयोपश-मात् तयोर्मोहनीयकर्मविवर्तत्वात् । कथं ज्ञाने रागद्वेषसद्भाव इति चेत् सत्यं रागद्वेषयोर्भावकर्मणो-

इचैतन्यविवर्तत्वात् ज्ञानस्वभावत्वं तथाये समर्थयिष्यमाणत्वात् तदप्यभ्यधायि श्रीमद्विद्यानन्दिसूरिणा—

भावकर्मणि चैतन्यविवर्तात्मनि भान्ति नुः ।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिच्चिदभेदतः ॥ ११४ ॥

तौ रागद्वेषौ दृश्यमानौ अन्तर्दृष्ट्यावलोक्यमानौ सन्तौ न किञ्चित् न किमपि ज्ञानिना दृश्येते, कया ? वस्तुत्वप्रणिहितदृशा वस्तुत्वे चैतन्यलक्षणे वस्तुस्वरूपे, प्रणिहितदृशा समारोपितदृष्ट्या, ततः अन्तर्दृष्ट्याऽदृश्यमानत्वात् । स्फुटं निश्चितं, सम्यग्दृष्टिः तत्त्वदर्शी पुमान् । तौ रागद्वेषौ, क्षपयतु निर्जरादिभिर्निराकरोतु तत्त्वदृष्ट्या वस्तुयाथात्म्यदर्शनेन, येन रागद्वेषक्षपणेन, सहजं स्वाभाविकं ज्ञानज्योतिः ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदसमूहं । धाम ज्वलति प्रकाशते । किम्भूतं तत् ? पूर्णाचलार्चिः पूर्णं निरावरणत्वात् सम्पूर्णं, अचलं अक्षोभं, प्रतिपक्षकर्माभावाद् अर्चिः ज्ञानशक्तिः, यस्य तत् । 'स्त्रीनपुंसकयोरर्चिः' इति भट्टिः ॥ २१८ ॥

अर्थ—इस जगत् में ज्ञान ही अज्ञानभाव से रागद्वेषरूप परिणमित होता है; वस्तुत्व में स्थापित दृष्टि से देखने पर (द्रव्य दृष्टि से देखने पर) वे रागद्वेष कुछ भी नहीं हैं (द्रव्यरूप पृथक् वस्तु नहीं हैं) इसलिए (आचार्य प्रेरणा करते हैं कि) सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टि से उन्हें (रागद्वेषको) स्पष्टतया क्षय करो कि जिससे पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है ऐसी (दैदीप्यमान) सहजज्ञानज्योति प्रकाशित हो ॥ २१८ ॥

अथ रागद्वेषोत्पादककारणं सङ्गच्छते—

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या,
नान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति,
व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥ २१९ ॥

टीका—रागद्वेषोत्पादकं रागद्वेषयोरुत्पादकं कारणं, अन्यद्रव्यं आत्मद्रव्यं विहाय परद्रव्यमचेतनादि न वीक्ष्यते नावलोक्यते । कया ? तत्त्वदृष्ट्या वस्तुयाथात्म्यदर्शनेन, कुतः ? यस्मात्कारणात् । सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति सर्वेषां द्रव्याणां चेतनानामुत्पत्तिरुत्पादः अन्तः अभ्यन्तरे, स्वस्वभावेन स्वस्वरूपेण, अत्यन्त निश्चितं, व्यक्ता स्फुटा, चकास्ति द्योतते । ननु सर्वद्रव्याणां नित्यत्वात्

कथमुत्पत्तिः अन्यथा सौगतमतस्यागतिः ? इति चेन्न स्वस्वभावेनेति वचनात् स्वपरिणामेन स्वपर्यायेणैवोत्पत्तिर्न तु द्रव्यरूपेण यथा मृत्तिका कुम्भभावेनोत्पद्यमाना किं मृत्स्वरूपेण ? यदि प्राक्तनः पक्षः तदा कुम्भकाराहङ्कारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितप्रसारितकरतच्छरोराकारः कुम्भः स्यात्, न च तथास्ति अत एवोत्तरः पक्षः श्रेयान् मृदेव कुम्भस्योत्पादिका न तु कुम्भकारः । तथा रागद्वेषौ पुद्गलस्वभावेनानुत्पद्यमानौ केवलमात्मनः स्वभावौ अन्योऽन्यस्योत्पादकत्वे तत्स्वव्यवस्थाभावात् सर्वोच्छेदः स्यात् ॥ २१९ ॥

अर्थ—तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो रागद्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचितमात्र भी दिखाई नहीं देता क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभावसे ही होती हुई अन्तरंग में अत्यन्त प्रकट (स्पष्ट) प्रकाशित होती है ॥ २१९ ॥

अथ तद्धेतुत्वमात्मनः खण्डयति—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः,
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र ।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो,
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२२०॥

टीका—यत् यस्मात्कारणात् ? इह आत्मनि ? रागद्वेषदोषप्रसूतिः रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तावेव दोषौ स्वस्वरूपाच्छादकत्वात् तयोः प्रसूतिरुत्पत्तिः स्यात् तत्र तथा सति परेषां अचेतनद्रव्याणां कतरदपि किमपि दूषणं दोषः नास्ति अचेतनद्रव्यस्य तदुत्पादकत्वाभावात् न तस्य दूषणं केवलमात्मनो दूषणं । तत्र रागद्वेषे, आत्मनि सर्पति व्याप्नुवति सति आत्मा स्वयं स्वरूपेण, अपराधी दोषवान् भवतु अस्तु । किम्भूतः सः ? अबोधः बोधरहितः सन् विदितं मया ज्ञातं, अयमबोधः अज्ञानं अस्तं विनाशं, यातु प्राप्नोतु । पुनः बोधः अहं ज्ञानं अस्मि भवामि ॥ २२० ॥

अर्थ—इस आत्मा में जो रागद्वेषरूप दोषों की उत्पत्ति होती है, उसमें परद्रव्य का कोई भी दोष नहीं है, वहां तो स्वयं अपराधी अज्ञान ही फैलाता है—इस प्रकार विदित हो और अज्ञान अस्त हो जाए; मैं तो ज्ञान हूँ ॥ २२० ॥

अथान्यनिमित्तत्वं तयोस्तीर्यते—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥२२१॥

टीका—ये वस्तुस्वरूपानभिज्ञपक्षाः सांख्याः, रागजन्मनि रागद्वेषोत्पत्तौ, परद्रव्यमेव आत्मान्यद्रव्यं रागोत्पत्तौ मणिकनककामिनीप्रमुखं। द्वेषोत्पत्तौ विषविपक्षकर्कशकण्टकादि द्रव्यं। एव निश्चयेन, निमित्ततां हेतुतां कलयन्ति प्रतिपादयन्ति। कलि वलि कामधेनु, इति कामधेनावुक्तत्वात् कलेः प्रतिपादनार्थः। तु पुनः, ते जडधियः, हि निश्चितं, मोहवाहिनीं महामोहनिम्नगां, नोत्तरन्ति उत्ततुं न शक्नुवन्ति स्वरूपानभिज्ञत्वात्। कीदृक्षाः सन्तः ? शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः शुद्धबोधेन कर्मकलङ्करहितेन ज्ञानेन विधुरा रहिता अन्धाः स्वरूपदर्शनाभावाद् बुद्धिर्मतिर्येषां ते। तत्कथं न कारणं ? तथाहि यद्धि यत्र भवति तद्घातेन तद्धन्यते एव यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते, न हन्यते च स्त्र्यादीनां विनाशे रागादिः तस्मात्तथा न। तथा च यत्र हि यद्भवति तत्तद्घाते हन्यते एव यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते एव, न हन्यते च रागादीनां विनाशे कमनीयकामिन्यादिः तस्मान्न तत्तथा। यत्तु न यत्र भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते, न हन्यते स्त्रीघाते रागादिः। यत्र हि यन्न भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घट प्रदीपघाते घटो न हन्यते। न रागादिघाते च स्त्र्यादिर्हन्यते तस्मान्न तत्तथेति ॥ २२१ ॥

अर्थ—जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही निमित्तत्व (कारणत्व) मानते हैं (अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते) वे—जिनकी बुद्धि शुद्धज्ञान से रहित अन्ध है ऐसे (अर्थात् जिनकी बुद्धि शुद्ध नय के विषयभूत शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित अंध है ऐसे)—मोहनदी को पार नहीं कर सकते ॥ २२१ ॥

अथ बोधाबोधयोरन्यत्वमुन्नीयते—

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधो न बोध्यादयं
यायात् कामपि विक्रियां तत् इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधबन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमया भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनतां ॥२२२॥

टीका—इव यथा, इतः अस्मात्, प्रकाश्यात् प्रकाशयितुं योग्याद घटपटादेः दीपः कज्जलध्वजः। कामपि विक्रियां न याति देवदत्तो हि यज्ञदत्तामिव हस्ते गृहीत्वा मां प्रकाशयेति घटपटादिः स्वप्रकाशने दशेन्धनं न प्रयोजयति प्रदीपोऽपि न चायस्कान्तोपलाकृष्टायस्सूचीवत् स्वस्थानात् प्रच्युत्य तं प्रकाशयितुमायाति वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च तदसन्निधाने तत्सन्निधाने च स्वरूपेणैव स प्रकाशते। तथा अयं बोधः ज्ञानं, ततः तस्मात् बहिरर्थात् शब्द-

रूपगन्धरसस्पर्शगुणद्रव्यादेः, बोध्यात् बोद्धुं ज्ञातुं योग्यात् कामपि विक्रियां देवदत्तो यज्ञदत्तमिव करे गृहीत्वा मां शृणु मां पश्येत्यादीनि स्वज्ञाने नात्मानं प्रेरयति न चात्माप्ययस्सूचीवत् स्वस्थानात् तान् ज्ञातुमायाति किन्तु स्वभावत एव जानाति इति विक्रियां न यायान्न गच्छेत् । कीदृक्षो बोधः ? पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा पूर्णः स्वगुणपर्यायैः सम्पूर्णः एकः अच्युतः अक्षोभ्यः शुद्धः कर्ममलरहितः स चासौ बोधश्च तस्य तेन वा महिमा माहात्म्यं यस्य सः । ततः तस्मात् एते प्रसिद्धा बौद्धा ज्ञानेन तदाकारतदुत्पत्तितदध्यवसायवादिनः अज्ञानिनः किं किमु रागद्वेषमया भवन्ति । कीदृक्षाः ? वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा वस्तुनः स्थितिः नयोपनयैकान्तसमुच्चयरूपा तस्या बोधेन वन्ध्या रहिता धिषणा मतिर्येषां ते । पुनः सहजां स्वभावजां उदासीनतां रागद्वेषाभावलक्षणां माध्यस्थं कथं मुञ्चन्ति ॥ २२२ ॥

अर्थः—पूर्ण, एक, अच्युत (निर्विकार) और ज्ञान जिसकी महिमा है ऐसा यह ज्ञायक आत्मा ज्ञेय पदार्थों से किंचित् मात्र भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता जैसे दीपक प्रकाश्य (प्रकाशित होने योग्य घटपटादि) पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता । तब फिर जिनकी बुद्धि ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित है ऐसे यह अज्ञानी जीव अपनी सहज उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं तथा रागद्वेषमय क्यों होते हैं ?॥ २२२ ॥

अथ निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रं विन्दति—

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः,
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलां चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं,
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य सञ्चेतनां ॥२२३॥

टीका—रागद्वेषविभावमुक्तमहसो रागद्वेषौ तौ च तौ विभावौ च विभावपर्यायौ ताभ्यां मुक्तं महो येषां ते पुरुषाः । ज्ञानस्य सञ्चेतनां सम्यग्ज्ञायकत्वं, विन्दन्ति लभन्ते । कीदृक्षां तां चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं चञ्चत् देदीप्यमाना चित् दर्शनज्ञानं, सैवार्चिः प्रकाशः तेन निर्वृतां । पुनः कीदृक्षां ? स्वरसाभिषिक्तभुवनां स्वस्य रसेन स्वभावेन, अभिषिक्तं सिञ्चितं, लक्षणया ज्ञातं, भुवनं त्रैलोक्यं यया तां । कीदृक्षास्ते ? नित्यं स्वभावस्पृशः नित्यमविच्छिन्नतया निरन्तरं स्वभावस्पृशः स्वभावं चैतन्यस्वरूपं, नित्यस्वभावमिति पाठः नित्यश्चासौ स्वभावश्च शुद्धज्ञानस्वभावः तं स्पृशन्ति ध्यानविषयी कुर्वन्ति इति । पुनः कीदृक्षाः ? पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला पूर्वसमस्तकर्मभिर्विकलाः यत्पूर्वकृतं शुभाशुभं कर्म तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणं, भविष्यत्समस्तकर्मविकलाः यद्भविष्यच्छुभाशुभं कर्म तस्मान्निवर्तते य आत्मानं स प्रत्याख्यानं, अनेनात्मनः प्रतिक्रमणप्रत्याख्याने निगदिते,

तदात्वोदयात् तदातनोदीर्णकर्मणः, भिन्नाः अनेनालोचनमुक्तं यच्छुभाशुभं कर्मोदीर्णं सम्प्रति चानेकविस्तरविशेषं यश्च नित्यमालोचयति स खल्वालोचना चेतयतेति । कुतः लभन्ते तां ? दूरारूढचरित्रवैभववलां दूरारूढं नित्यं प्रत्याख्यानप्रतिक्रमणालोचनास्वभावाद् दूरमतिशयेन, आरूढं सम्प्राप्तं, चरित्रं तत्त्रितयलक्षणं तस्य वैभवं माहात्म्यं, तस्य बलात् सामर्थ्यादिति स्वरूपं चारित्रं निगदितं ॥ २२३ ॥

अर्थ—जिनका तेज रागद्वेषरूपी विभाव से रहित है, जो सदा (अपने चैतन्यचमत्कारमात्र) स्वभावको स्पर्श करने वाले हैं, जो भूतकालके तथा भविष्यकाल के समस्त कर्मों से रहित हैं और जो वर्तमान काल के कर्मोदय से भिन्न हैं; वे (ऐसे ज्ञानी) अति प्रबल चारित्र के वैभव के बल से ज्ञान की संचेतना का अनुभव करते हैं—जो ज्ञान चेतना—चमकती हुई चैतन्यज्योतिमय है और जिसने अपने (ज्ञानरूपी) रससे समस्त लोक को सींचा है ॥ २२३ ॥

अथ ज्ञानसञ्चेतनां चेतयते—

ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं,
प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धं ।
अज्ञानसञ्चेतनया तु धावन्,
बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ॥२२४॥

टीका—ज्ञानस्य आत्मनः, गुणे गुणिन उपचारः सञ्चेतनया सम्यग्ध्यानेन । एव निश्चयेन । ज्ञानं बोधः नित्यं निरन्तरं, प्रकाशते चकास्ति । किं ? अतीव शुद्धं अत्यन्तं निरावरणं । तु पुनः, अज्ञानसञ्चेतनया ज्ञानादन्यत्र इदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना सा द्विधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च । तत्र ज्ञानादन्यत्र इदमहं करोमीति चेतनमाद्या, वेदयेऽहं ततोऽन्यत्रेदमिति चेतनं द्वितीया । तया बन्धः अष्टविधकर्मणां बन्धः धावन् आस्कन्दन् सन् बोधस्य ज्ञानस्य शुद्धिं निरुणद्धि आच्छादयति अतो मोक्षार्थिना सा हेया ॥ २२४ ॥

अर्थ—निरन्तर ज्ञान की संचेतना से ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है और अज्ञान की संचेतना से बन्ध दौड़ता हुआ ज्ञान की शुद्धता को रोकता है, अर्थात् ज्ञानकी शुद्धता नहीं होने देता ॥ २२४ ॥

अथ नैष्कर्म्यमवलम्बते—

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥२२५॥

टीका—परममुत्कृष्टतमं, नैष्कर्म्यं कर्मस्वभावातिक्रान्तं स्वमवलम्बे अहमवलम्बयामि । किं कृत्वा ? त्रिकालविषयमतीतानागतवर्तमानविषयं सर्वं कर्म, कृतकारितानुमननैः कृतं स्वयं, कारितं परैः, अनुमननं अनुमनितं परकृतानुमोदितं मनोवचनकायैः परिहृत्य निराकृत्य मनोवचनकायैः कृतकारितानुमननैः यदतीतकर्मनिराकरणं, तत्प्रतिक्रमणं, यत्तैस्तैर्वर्तमानकर्मनिराकरणमालोचना, यद्भविष्यत्कर्म तैस्तैर्निराकरणं, तत्प्रत्याख्यानं, तदक्षसंचारिणा नीयते 'पडमक्खो अंतगतो आदिगदो संकमेदि विदियक्खो' इति सूत्रेण, तथाहि यन्मनसा कृतं दुष्कृतं मे मिथ्येति, यन्मनसा कारितं मिथ्या मे दुष्कृतमिति, यन्मनसानुमनितं मिथ्या मे दुष्कृतमिति यन्मनसा कृतं कारितं मिथ्या मे दुष्कृतं इति एकसंयोगद्विसंयोगत्रिसंयोगोत्पन्नभेदा एकोनपञ्चाशत्प्रतिक्रमणभेदा जायन्ते ॥ २२५ ॥

अर्थ—त्रिकाल के (अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी) समस्त कर्म को कृतकारित अनुमोदना से और मनवचनकाय से त्याग करके मैं परम नैष्कर्म्य का (उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का) अवलम्बन करता हूं । (इस प्रकार, समस्त कर्मों का त्याग करने वाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है ।) ॥ २२५ ॥

अथ स्वस्वरूपप्रतिक्रमणं चङ्क्रम्यते—

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२६॥

टीका—आत्मनि चिद्रूपे, आत्मना ज्ञानेन कृत्वा, नित्यं वर्ते सततमहं प्रवर्तयामि । कीदृशे ? चैतन्यात्मनि चेतनास्वरूपे । पुनः कीदृशे ? निष्कर्मणि कर्ममलातीते, किं कृत्वा ? तत् पूर्वनिबद्धं समस्तमपि कर्म प्रतिक्रम्य निराकृत्य, तत् किं ? यत् कर्म, अहं अहकं, मोहात् भ्रांतिविजृम्भणात्, अकार्षं कृतवान् यदहमचीकरं यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा वचसा वपुषा च एतत् स्वस्वरूपप्रतिक्रमणं ॥ २२६ ॥ (इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः)

अर्थ—मैंने जो मोह से अथवा अज्ञान से (भूतकाल में) कर्म किए हैं उन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण करके मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित) चैतन्य स्वरूप आत्मामें आत्मा से ही (निज से ही) निरन्तर वर्त रहा हूं (इस प्रकार ज्ञानी अनुभव करता है) ॥ २२६ ॥

इस तरह प्रतिक्रमणकल्प समाप्त हुआ ॥

अथालोचनामालोचयति–

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२७॥

टीका—आत्मनि आत्मना नित्यं वर्ते चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि च, किं कृत्वा ? इदं प्रसिद्धं, सकलं समस्तं, उदयत् उदयनिषेकावस्थापन्नं, कर्म ज्ञानावरणादि, आलोच्य सम्यग्विवेच्य, किं भूतं ? मोहविलासविजृम्भितं मोहस्य रागद्वेषरूपस्य विलासः विलसनं तेन विजृम्भितं निष्पादितं, अत्राप्यक्षसञ्चारः करोमि कारयामि समनुजानामि, मनसा वचसा कायेन । मनसा कर्म न करोमि, मनसा न कारयामि, मनसा कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । मनसा न करोमि मनसा न कारयामि, मनसा कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि एवमेकद्वित्रिसंयोगेन आलोचनभेदा एकोन[1]पञ्चाशत् सम्भवन्ति ॥ २२७ ॥ (इति आलोचनाकल्पः समाप्तः)

अर्थ—(निश्चय चारित्र को अंगीकार करने वाला कहता है कि–) मोह के विलास से फैला हुआ जो यह उदयमान (उदय में आता हुआ) कर्म उस सबकी आलोचना करके (उन सर्व कर्मों की आलोचना करके–) मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूं ॥२२७॥

इस तरह आलोचनाकल्प समाप्त हुआ ॥

अथ स्वप्रत्याख्यानमाख्यायते—

प्रत्याख्याय भविष्यत् कर्म समस्तं निरस्तसम्मोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२८॥

टीका—चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि आत्मनि, नित्यं, आत्मना कृत्वा वर्ते ध्यानरूपेणाऽहं । कीदृक्षोऽहं ? निरस्तसम्मोहः दूरीकृतरागद्वेषः । किं विधाय ? समस्तं भविष्यत्कर्म प्रत्याख्याय निराकृत्य करिष्यत् करिष्यमाणं समनुज्ञास्यन्मनोवचनकायैः निरुध्य, इति प्रत्याख्यानं समाप्तं, तथा चाक्षसञ्चारोऽत्र करिष्यामि कारयिष्यामि समनुज्ञास्यामि मनसा वचसा कायेन । मनसा कर्म न करिष्यामि, मनसा कर्म न कारयिष्यामि मनसा कर्म कुर्वन्तमन्यं न समनुज्ञास्यामि । मनसा न करिष्यामि न

टि. १ आलोचना के ४९ भेदों को समयसार के सर्वविशुद्धि अधिकार में देखना चाहिये ।

कारयिष्यामि, मनसा न करिष्यामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुज्ञास्यामि एवमेकद्वित्रिसंयोगजाः एकोनपञ्चाशत् प्रत्याख्यानभेदा जायन्ते ॥ २२८ ॥ (इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः)

अर्थ—(प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि) भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान (त्याग) करके जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा मैं निष्कर्म (समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (अपने से ही) निरन्तर वर्त रहा हूं ॥ २२८ ॥

इस तरह प्रत्याख्यानकल्प समाप्त हुआ ॥

❖

अथैतत् त्रयं त्रायते—

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी ।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥२२९॥

टीका—अथ प्रतिक्रमणादिकथनादनन्तरं, चिन्मात्रं चेतनामयं आत्मानं स्वचिद्रूपं, अवलम्बे ध्यायामि अहं । कोदृश ? विकारैः कर्मोत्पन्नप्रकृतिभिः रहितं, कीदृक्षोऽहं ? शुद्धनयावलम्बी शुद्धं स्वस्वरूपं, नयति प्राप्नोति इति शुद्धनयः आत्मानं अवलम्बत इत्येवंशीलः । पुनः कीदृक्षः ? विलीनमोहः विनष्टरागद्वेषमोहः । किं कृत्वा ? इत्येवं पूर्वोक्तं प्रतिक्रमणादिकथनरूपेण समस्तं निखिलं, त्रैकालिकं त्रिकाले अतीतानागतवर्तमाने भवं त्रैकालिकं, कर्म ज्ञानावरणादि, अपास्य निराकृत्य ॥ २२९ ॥

अर्थ—(शुद्धनय का अवलम्बन करनेवाला कहता है कि) पूर्वोक्त प्रकार से तीनों काल के समस्त कर्मों को दूर करके—छोड़कर शुद्धनयावलम्बी (अर्थात् शुद्धनय का अवलम्बन करनेवाला) और विलीन मोह (अर्थात् जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है) ऐसा मैं अब (सर्व) विकारों से रहित चैतन्यमात्र आत्मा का अवलम्बन करता हूं ॥ २२९ ॥

अथ सकलकर्मफलं सन्यासभावनां नाटयति—

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
सञ्चेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥२३०॥

टीका—मम आत्मनः कर्मविषतरुफलानि कर्म एव विषतरुः विषवृक्षः चेतनाच्छादकत्वात् तस्य फलानि शुभाशुभानि । विगलन्तु स्वयं गलित्वा पतन्तु प्रलयं यान्त्वित्यर्थः । कथं ? भुक्ति-

मन्तरेण उदयदानं विना, अहं आत्मानं सञ्चेतये ध्यायामि । कीदृशं ? अचलं अक्षोभ्यं, चैतन्यात्मानं दर्शनज्ञानचेतनास्वरूपं । तथाहि नाहं मतिज्ञानावरणीयफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये । नाहं श्रुतज्ञानावरणीयफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये । एवं ज्ञानावरणपञ्चके, दर्शनावरणनवके, वेदनीयद्विके, दर्शनमोहनीयत्रिके, चारित्रवेदनीयाख्यमोहनीयपञ्चविंशतिके, आयुश्चतुष्के, नामकर्मणस्त्रयोनवतिप्रकृतौ, गोत्रद्विके, अन्तरायपञ्चके, योजनीयं, विस्तरभयात् सुगमत्वाच्च न लिखितमत्र ।। २३० ।।

अर्थ–(समस्त कर्म फल की संन्यास भावना का करने वाला कहता है कि–) कर्म रूपी विष वृक्ष के फल मेरे द्वारा भोगे बिना ही खिर जाएँ; मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा का निश्चलतया संचेतन अनुभव करता हूं ।। २३० ।।

अथात्मतत्त्वे कालावलीं सफलामभिरमयति—

निश्शेषकर्मफलसन्न्यसनान्ममैवं,
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं,
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ।।२३१।।

टीका—मम मे, इयं प्रसिद्धा कालावली कालसमयपंक्तिः, अनन्ता अनन्तसमयावच्छिन्ना, वहतु यातु । कीदृक्षस्य मे ? भृशं अत्यर्थं, आत्मतत्त्वं स्वस्वरूपं भजतः आश्रयतः । कीदृशं ? चैतन्यलक्ष्म चैतन्यमेव लक्ष्म लक्षणं यस्य तत् । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, निश्शेषकर्मफलसन्न्यसनात् निश्शेषाणि समस्तानि तानि च तानि कर्मफलानि च अज्ञानत्वशुभाशुभादीनि तेषां सं सम्यक् प्रकारेण न्यसनं परित्यजनं तस्मात् । पुनः किम्भूतस्य मे ? सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः स्वक्रियाया अन्या क्रिया क्रियान्तरं सर्वस्मिन् क्रियान्तरे विहारो विहरणं तत्र निवृत्ता वृत्तिः प्रवर्तनं यस्य तस्य ।। २३१ ।।

अर्थ–(सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञान चेतना की भावना करने वाला ज्ञानी कहता है कि–) पूर्वोक्त प्रकार से समस्त कर्मके फल का संन्यास करने से मैं चैतन्य लक्षण आत्मतत्त्व को अतिशयतया भोगता हूं और उसके अतिरिक्त अन्य सर्व क्रिया में विहार से मेरी वृत्ति निवृत्त है (अर्थात् आत्मतत्त्व के उपभोग के अतिरिक्त अन्य जो उपयोग की क्रिया–विभावरूप क्रिया उसमें मेरी परिणति विहार-प्रवृत्ति

नहीं करती); इस प्रकार आत्मतत्त्व के उपभोग में अचल ऐसे मुझे यह काल की आवली जो कि प्रवाहरूपसे अनन्त है वह, आत्मतत्त्व के उपभोग में ही बहती रहे (उपयोग की प्रवृत्ति अन्य में कभी भी न जाए) ॥ २३१ ॥

अथ कर्मफलभुक्तिं भनक्ति—

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां,
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं,
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥२३२॥

टीका—खलु निश्चितं, यः पुमान् स्वत एव स्वस्वभावत एव, तृप्तः सन्तृप्तः, पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां पूर्वभावैः पूर्वोदयितविभावपरिणामैः कृतानि कर्माणि तान्येव विषद्रुमाः विषवृक्षाः, तेषां फलानि सुखदुःखादीनि, न भुङ्क्ते ततो भिन्नत्वेन तत्फलास्वादको न भवति । सः योगी, दशान्तरं संसारावस्थातः अवस्थान्तरं मोक्षं, एति प्राप्नोति । कीदृशं ? आपातकालरमणीयं आपातकाले तत्प्राप्तिकाले रमणीयं मनोज्ञं । ननु प्राप्तिकाले भोगसुखवद्रमणीयं तदानादरणीयमित्याकाङ्क्षायां उदर्करम्यं उदर्के उत्तरकाले, रम्यं मनोज्ञं । निष्कर्मशर्ममयं निष्कर्म कर्मातीतं तच्च तच्छर्म च तेन निवृत्तं ॥ २३२ ॥

अर्थ—पहले अज्ञानभाव से उपार्जित कर्मरूपी विषवृक्षों के फल को जो पुरुष (उसका स्वामी होकर) नहीं भोगता और वास्तव में अपने से ही (आत्मस्वरूप से ही) तृप्त है वह पुरुष, जो वर्तमान काल में रमणीय है और भविष्यकाल में भी जिसका फल रमणीय है ऐसे निष्कर्मसुखमय दशान्तर को प्राप्त होता है (अर्थात् जो पहले संसार अवस्था में कभी नहीं हुई थी ऐसी भिन्न प्रकारकी कर्म रहित स्वाधीन सुखमय दशा को प्राप्त होता है ।) ॥ २३२ ॥

अथ प्रशमरसपानं पाययति—

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च,
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसञ्चेतनायाः ।

पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां,
सानन्द नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥२३३॥

टीका—इतः कर्म तत्फलविरक्तिभजनादनन्तरं, सर्वकालं सर्वदा, प्रशमरसं साम्यपीयूषं, पिबन्तु आस्वादयन्तु योगिनः। कीदृक्षास्ते ? स्वां स्वकीयां ज्ञानसञ्चेतनां ज्ञानं मे ज्ञानस्याहमिति भावनां, सानन्दं हर्षोद्रेकं यथा भवति तथा। नाटयन्तः कुर्वन्तः। किं कृत्वा ? स्वरसपरिगतं स्वस्य आत्मनः रसः तत्र परिगतं प्राप्तं। स्वभावं स्वरूपं, पूर्णं सम्पूर्णं। कृत्वा विधाय, तदपि किं कृत्वा ? प्रस्पष्टं व्यक्तं यथा भवति तथा। अखिलाज्ञानसञ्चेतनायाः अखिला समस्ता चासावज्ञानचेतना च कर्मचेतना कर्मफलचेतना च तस्याः प्रलयनं विनाशनं नाटयित्वा विधाय। तदपि किं कृत्वा ? अविरतं निरन्तरं, कर्मणः ज्ञानावरणादेः, च पुनः तत्फलात् तेषां कर्मणां फलात् रागद्वेषादेः। अत्यन्तं निश्शेषं, विरतिं विरक्तिं, भावयित्वा संभाव्य कृत्वेत्यर्थः॥ २३३॥

अर्थ–ज्ञानी जन अविरतपने से कर्म से और कर्मफल से विरतिको अत्यन्त भा कर (अर्थात् कर्म और कर्मफल के प्रति अत्यन्त विरक्तभाव को निरन्तर भा कर) (इस भांति) समस्त अज्ञानचेतना के नाश को स्पष्टतया नचाकर निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके अपनी ज्ञान चेतना को आनन्द पूर्वक नचाते हुए अब से सदाकाल प्रशमरस को पिओ। (अर्थात् कर्म के अभावरूप आत्मिकरसको–अमृतरस को–अभी से लेकर अनन्तकाल तक पिओ। इस प्रकार ज्ञानीजनों को प्रेरणा की है।) ॥ २३३ ॥

अथेतो ज्ञानं विवेचयति—

इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनात्,
विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्तवस्तु व्यतिरेक निश्चयाद्,
विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥२३४॥

टीका—इह आत्मनि जगति वा। ज्ञानं बोधः, विवेचित भिन्नं, अवतिष्ठते आस्ते। कुतः ? इतः अस्मात्, पदार्थप्रथनावगुण्ठनात् पदार्थानां शास्त्रशब्दरूपरसगंधवर्णस्पर्शकर्मधर्माधर्मकालाकाशाध्यवसायादीनां प्रथन विस्तारः, तस्य अवगुण्ठनात्। न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः एवं शब्दादिषु योज्यं, कृतिः कारणं तस्य। विनातं अन्तरेण क्रियाया अन्तरेण स्वभावा-

दित्यर्थः । एकमद्वितीयं । पुनः कीदृक्षं ? अनाकुलं आकुलतारहितं । पुनः कीदृशं ? ज्वलत् देदीप्यमानं । कुतः ? समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयात् समस्तानां निखिलानां, वस्तूनां शास्त्रशब्दादीनां, व्यतिरेकः भिन्नत्वं, ज्ञानान्यार्थयोर्भिन्नत्वं तस्य निश्चयः, निर्णयः, तस्मात् ॥२३४॥

अर्थ—यहां से अब (इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में यह कहते हैं कि—) समस्त वस्तुओं के भिन्नत्व के निश्चय द्वारा पृथक् किया गया ज्ञान पदार्थके विस्तार के साथ गुथित होने से (अनेक पदार्थों के साथ, ज्ञेयज्ञान सम्बन्ध के कारण एक जैसा दिखाई देने से) उत्पन्न होने वाली (अनेक प्रकार की) क्रिया उनसे रहित एक ज्ञानक्रियामात्र अनाकुल (सर्व आकुलता से रहित) और दैदीप्यमान होता हुआ निश्चल रहता है ॥ २३४ ॥

अथ ज्ञानस्य मध्याद्यन्तराहित्यमर्हते—

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितं ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः,
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३५॥

टीका—तथा तेनैव प्रकारेण, एतत् प्रसिद्धं, ज्ञानं बोधः, पुनः कीदृक्षं ? अवस्थितं व्यवस्थितं, पुनः कीदृक्षं ? अन्येभ्यो व्यतिरिक्तं अन्येभ्यः सर्वपरद्रव्येभ्यः, व्यतिरिक्तं भिन्नं अनेनातिव्याप्तिः परिहृता । पुनः कीदृक्षं ? आत्मनियतं सर्वदर्शनादिजीवस्वप्रतिष्ठं, अनेनाव्याप्तिः परिहृता ज्ञानस्य । पुनः कीदृक्षं ? पृथग्वस्तुतां बिभ्रत् परपदार्थेभ्यो भिन्नस्वभावं परिच्छेदकलक्षणं बिभ्रत् दधत् अनेन असंभवः परिहृतः । पुनः कीदृक्षं ? आदानोज्झनशून्यं परवस्तुनः आदानं ग्रहणं उज्झनं त्यजनं च ताभ्यां शून्यं रहितं । पुनः कीदृक्षं ? अमलं कर्ममलातिक्रान्तं तथा कथं ? यथा अस्य ज्ञानस्य नित्योदितः नित्यमुदीयमानः प्रकाशमानः, महिमा माहात्म्यं तिष्ठति । कीदृक्षः सः ? मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः मध्यं च आदिश्च अन्तश्च मध्याद्यन्ताः तेषां विभागः भेदः तैः मुक्ता रहिता सा चासौ सहजा स्वाभाविकी स्फारा विस्तीर्णा प्रभा दीप्तिश्च लक्षणया ज्ञायकत्वं तया भासुरः प्रकाशनशीलः । पुनः कीदृशः ? शुद्धज्ञानघनो शुद्धज्ञानेन घनः निरन्तरः ॥२३५॥

अर्थ—अन्य द्रव्यों से भिन्न, अपने में ही नियत, पृथक् वस्तुत्व को धारण करता हुआ (वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक होने से स्वयं भी सामान्यविशेषा-

त्मकता को धारण करता हुआ) त्याग से रहित यह अमल (रागादिक मल से रहित) ज्ञान इस प्रकार अवस्थित (निश्चल) अनुभव में आता है कि जैसे आदि मध्य अन्तरूप विभागों से रहित ऐसी सहज फैली हुई प्रभा के द्वारा दैदीप्यमान ऐसी उसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा नित्य उदित रहे । (शुद्धज्ञानकी पुंजरूप महिमा सदा उदयमान रहे) ॥ २३५ ॥

अथात्मधारणमनुमोदते–

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्, तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः, पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ॥२३६॥

टीका—इह अस्मिन् आत्मनि चिद्रूपे, आत्मनः ज्ञानस्वरूपस्य, तत् प्रसिद्धं, सन्धारणं धारणं एकाग्रताप्रापणं । कीदृशस्य ? संहृतसर्वशक्तेः संहृता निवारिता सर्वा कर्मोपाधिजा शक्तिः सामर्थ्यं येन तस्य । पूर्णस्य सम्पूर्णज्ञानशक्तिविशिष्टस्य । यत् तत् सन्धारणं तदेव अशेषतः सामस्त्येन, उन्मोच्यं उन्मोक्तुं त्यक्तुं योग्यं । शरीरादि उन्मुक्तं त्यक्तं, येन प्रकारेण सर्वं त्यक्तं तथा तेनैव प्रकारेण तत् आत्मसन्धारणं, अशेषतः आदेयं गृहीतुं योग्यं दर्शनज्ञानादि आत्तं गृहीतं, आत्मनः उपादानमेव हेयोपादेययोः परित्यागग्रहणाभिप्रायः ॥२३६॥

अर्थ—जिसने सर्व शक्तियों को समेट लिया है ऐसे पूर्ण आत्मा का आत्मा में धारण करना वही छोड़ने योग्य सब कुछ छोड़ा है और ग्रहण करने योग्य सब ग्रहण किया है । (यही कृतकृत्यता है) ॥ २३६ ॥

अथास्यानाहारकत्वं शङ्क्यते—

व्यतिरिक्तं परद्रव्या–देवं ज्ञानमवस्थितं ।
कथमाहारकं तत्स्या–द्येन देहोऽस्य शङ्क्यते ॥२३७॥

टीका—तत् ज्ञानं, आहारकं आहार्यवस्तुग्राहकं कथं स्यात् ? केन प्रकारेण स्यात् ? न केनापि, तस्यामूर्तत्वात् आहारकस्य मूर्तत्वात् । तत् किं ? यत् ज्ञानं एवं अन्येभ्य इत्यादि पूर्वोक्तयुक्त्या, परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं भिन्नं, अवस्थितं सुप्रतिष्ठं । अस्य ज्ञानस्य, देहः शरीरं येन कथं शङ्क्यते आरेक्यते सम्भाव्यते ? न कथमपि अस्यानाहारकत्वात् ॥२३७॥

अर्थ—इस प्रकार (पूर्वोक्तरीति से) ज्ञान परद्रव्य से पृथक् अवस्थित (निश्चल रहा हुआ) है; वह (ज्ञान) आहारक (अर्थात् कर्म-नोकर्मरूप आहार

करने वाला) कैसे हो सकता है कि जिससे उसके देह की शंका की जा सके ? (ज्ञान के देह हो ही नहीं सकती क्योंकि उसके कर्म नोकर्मरूप आहार ही नहीं है।) ॥२३७॥

अथालिङ्गमालिङ्ग्यते—

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणं ॥२३८॥

टीका—एवं मूर्तत्वामूर्तत्वप्रकारेण यतः शुद्धस्य निष्कलमषस्य ज्ञानस्य, देह एव निश्चयेन न विद्यते नास्ति, ततः तस्माद्देहाभावात् ज्ञातुः ज्ञायकस्य पुंसः लिङ्गं पाखण्डिलिङ्गं गृहिलिङ्गं वा न मोक्षकारणं न मुक्तेर्मार्गः, हेतुर्गर्भितविशेषणमाह देहमयं देहनिवृत्तं, यदि देहः स्वकीयो न तर्हि तदाश्रितं लिङ्गं स्वकीयं कथं स्यात् ॥२३८॥

अर्थ—इस प्रकार शुद्धज्ञान के देह ही नहीं है इसलिए ज्ञाता को देहमय चिह्न मोक्ष का कारण नहीं है ॥२३८॥

तर्हि को मोक्षमार्गः ? इति चेत्

दर्शनज्ञानचारित्र-त्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३९॥

टीका—मुमुक्षुणा मोक्तुमिच्छुना पुंसा एक एव जिनोपदिष्ट एव न मिथ्योपकल्पितः, मोक्षमार्गः, मोक्षसाधनोपायः, सदा नित्यं, सेव्यः आश्रयणीयः, कीदृक्षः ? दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा स्वश्रद्धान स्वज्ञान स्वचरणत्रयस्वरूपः, एतत्त्रयमन्तरेण तस्यानुपलब्धेः । पुनः आत्मनः तत्त्वं स्वरूपं, दर्शनादित्रयमन्तरेणात्मस्वरूपाभावात् मोक्षमार्गस्य दर्शनादित्रयात्मकत्वाच्च ॥२३९॥

अर्थः—आत्मा का तत्त्व दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मक है इसलिए मोक्षाभिलाषी पुरुष को (दर्शनज्ञान-चारित्रस्वरूप) मोक्षमार्ग एक ही सदा सेवन करने योग्य है ॥२३९॥

अथ तमेव मोक्षमार्गं मार्गयति—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च त चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्,
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥२४०॥

टीका—यः सर्वजनप्रसिद्धः, मोक्षमार्गः नानामिथ्यामतिविजृम्भितः, अनेकतां दधानोऽपि स एषः मोक्षपथः, कीदृशः ? दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मकः सन्, एकः न त्वनेकधा । नियतः अनेकप्रमाणनयोपन्यासैर्निश्चितः, यः पुमान्, तत्रैव मोक्षपथे दर्शनादिरूपे, स्थितिं निश्चलतां स्वात्मनः एति प्राप्नोति । च पुनः, अनिशं निरन्तरं तं रत्नत्रयरूपं मोक्षपथं एकाग्रो भूत्वा ध्यायेत् ध्यानविषयीकुर्यात् । पुनः यः तं मोक्षपथं, सकलकर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयीभूत्वा चेतति मुहुर्मुहुरनुभवति, कथं ? निरन्तरं प्रतिक्षणं, तस्मिन्नेव दर्शनादित्रयात्मके मोक्षपथे, विहरति अनुचरति । कीदृक्षः सन् ? द्रव्यान्तराण्यस्पृशन् द्रव्यान्तराणि परद्रव्याणि, अस्पृशन् अनाश्रयन् मनागपि स्वकीयान्यकुर्वन् । सः पुमान्, अचिरात् शीघ्रं तद्भवे तृतीयभवादौ वा अवश्यं नियमतः, समयस्य पदार्थस्य सिद्धान्तशासनस्य वा सारं परमात्मानं टङ्कोत्कीर्णस्वभावं विन्दति लभते, साक्षात् परमात्मा भवतीति यावत् । कीदृशं ? नित्योदयं नित्यमुदीयमानं ॥२४०॥

अर्थः—दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है उसीमें जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है अर्थात् स्थित रहता है, उसीका निरन्तर ध्यान करता है, उसीको चेतता है, उसी का अनुभव करता है, और अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ उसीमें निरन्तर विहार करता है, वह पुरुष, जिसका उदय नित्य रहता है ऐसे समयके सारको (परमात्मा के रूपको) अल्पकाल में ही अवश्य प्राप्त करता है अर्थात् उसका अनुभव करता है ॥२४०॥

अथ लिङ्गस्य वैयर्थ्यं सार्थयति—

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथ–प्रस्थापितेनात्मना,
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुला-लोकं स्वभावप्रभा–
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥२४१॥

टीका—ते पुरुषाः, अद्यापि इदानीमपि, साक्षात् स्वरूपप्रकाशनावसरेऽपि समयस्य सारं आत्मानं न पश्यन्ति नेक्षन्ते । कीदृक्षं ? नित्योद्योतं सदा प्रकाशमानं, पुनः कीदृक्षं ? अखण्डं सम्पूर्णं, पुनः कीदृक्षं ? एकं कर्मद्वैतरहितं, पुनः कीदृक्षं ? अतुलालोकं अनुपमेयप्रकाशं तत्प्रकाशसदृशस्यापरस्याभावात् । पुनः कीदृक्षं ? स्वभावप्रभाप्राग्भारं स्व एव भावः पदार्थः, तस्य प्रभा ज्ञानं, अथवा स्वभावज्ञानस्य प्रभा द्योतकत्वं तया प्राग्भारं पूर्वं भृतं । पुनः कीदृक्षं ? अमलं निर्मलं, ते के ? ये पुरुषा आत्मना कृत्वा द्रव्यमये नाग्न्यत्रिदण्डिप्रमुखद्रव्यनिर्मापिते लिङ्गे वेषे, ममतां 'अहं श्रमणः, अहं श्रमणोपासकश्च इति ममत्वं वहन्ति कुर्वन्ति । पुनः कीदृक्षाः ? ये तत्त्वावबोधच्युताः तत्त्वस्य

वस्तुयाथात्म्यस्य, अवबोधः परिज्ञानं तेन च्युताः। कीदृशेनात्मना ? संवृतिपथप्रस्थापितेन संवृतिपथे कल्पनापथे, प्रस्थापितेन आरोपितेन। किं कृत्वा ? एनं दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं भावलिङ्गं परिहृत्य मुक्त्वा, इतस्ततो द्रव्यलिङ्गे प्रवृत्तस्य न मुक्तिरित्यभिप्रायः ॥२४१॥

अर्थः—जो पुरुष पूर्वोक्त परमार्थस्वरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर व्यवहार मोक्ष-मार्ग में स्थापित अपने आत्माके द्वारा द्रव्यमय लिंग में ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा) वे पुरुष तत्त्वके यथार्थ ज्ञान से रहित होते हुए अभी तक समयके सार को (शुद्ध आत्मा को) नहीं देखते —अनुभव नहीं करते। वह समयसार-शुद्धात्मा कैसा है ? नित्यप्रकाशमान है, अखण्ड है, एक है (पर्यायों से अनेक अवस्थारूप होने पर भी जो एकरूपत्व को नहीं छोड़ता) अतुल प्रकाशवाला है; (क्योंकि ज्ञानके प्रकाश को सूर्यादिके प्रकाश की उपमा नहीं दी जा सकती); स्वभावप्रभा का पुञ्ज है (चैतन्यप्रकाश का समूहरूप है) अमल है (अर्थात् रागादिविकाररूपी मल से रहित है) ॥२४१॥

अथ व्यवहारं विमूढयति—

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तण्डुलं ॥२४२॥

टीका—व्यवहारविमूढदृष्टयः व्यवहारेण श्रमणश्रमणोपासकलक्षणद्विविधेन लिङ्गेन मोक्षमार्गः इति स्वरूपेण विमूढा मोहिता दृष्टिर्येषां ते। जनाः लोकाः परमार्थं निश्चयं न कलयन्ति न प्राप्नुवन्ति न जानन्ति वा तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्। अत्र दृष्टान्तोपन्यासः इह जगति तुषबोधविमुग्धबुद्धयः तुषबोधः तण्डुलाच्छादकत्वज्ञानं तेन विमुग्धा सर्वमिदं तुषमेवेति विमुग्धा विमोहिता बुद्धिर्येषां ते जनाः तुषं तन्दुलाच्छादिकां त्वचं कलयन्ति जानन्ति पुनस्तत्र स्थितं तण्डुलं अक्षतं न जानन्ति तत्र तस्य परिज्ञानाभावात् ॥ वैतालीयनाम छन्दः। षट् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः। न समात्र पराश्रिता कला वैतालीये रलौ गुरुः ॥१॥ इति छन्द उक्तलक्षणसद्भावात् ॥२४२॥

अर्थः—व्यवहार में ही मोहितदृष्टि वाले पुरुष परमार्थ को नहीं जानते, जैसे जगत में जिनकी बुद्धि तुष के ज्ञान में ही मोहित है, ऐसे पुरुष तुष को ही जानते हैं, तन्दुल (चावल) को नहीं जानते ॥२४२॥

द्रव्यलिङ्गिना कुतः स्वरूपाप्राप्तिः ? इति चेत्—

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥२४३॥

टीका—समयसारः समयेषु पदार्थेषु सारः समयसारः। एव निश्चितं न दृश्यते नेक्ष्यते। कैः? द्रव्यलिङ्गममकार-मीलितैः द्रव्यलिङ्गे श्रमणोऽहं, श्रमणोपासकोऽहमिति यः ममकारः अहङ्कारः तेन मीलितैः आच्छादितैः पुम्भिः। कुतः? यत् यस्मात्कारणात्। किल इति स्पष्टं, इह जगति, द्रव्यलिङ्गं वेषधारणादिचिह्नं, अन्यतः परद्रव्याच्छरीरादेः भवति। हीति निश्चितं, इदं प्रसिद्धं, एकं अद्वितीयं, ज्ञानमेव परमात्मज्ञानमेव, स्वतः स्वरूपात् जायते नान्यतस्तत् नान्यततः ॥२४३॥

अर्थः—जो द्रव्यलिंग में ममकार के द्वारा अंध विवेकरहित हैं वे समयसारको ही नहीं देखते; कारण कि इस जगत में द्रव्यलिंग तो वास्तव में अन्य द्रव्य से होता है, मात्र यह ज्ञान ही निजसे (आत्मद्रव्यसे) होता है ॥२४३॥

अथ शास्त्रे परमामन्यते—

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्,
न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥२४४॥

टीका—अलमलं पूर्यतां पूर्यतां, कैः? अतिजल्पैः इदं मोक्षहेतुः, इदं नेत्यादि वचोजल्पनैः। पुनः कथम्भूतैः? अनल्पैः प्रचुरैः। पुनः कथम्भूतैः? दुर्विकल्पैः तत्तन्मानससङ्कल्पैः। अलमलं, अथवा तद्विशेषणं दुर् दुष्टा विकल्पा यत्रातिजल्पे तैः, जल्पस्य विकल्पपूर्वकत्वात्। इह जगति, नित्यं एकोऽयं परमार्थः परा उत्कृष्टा, मा ज्ञानादिलक्ष्मीर्यस्य स चासावर्थः। आत्मार्थः, चेत्यतां ध्यायतां। खलु निश्चितं, कुतः? समयसारात् परमात्मनः सकाशात्, उत्तरं अपरं किञ्चित् किमपि ध्येयं नास्ति। कीदृशात्? स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रात् स्वस्य आत्मनः, रसः तस्य विसरः समूहः, तेन पूर्णं परिपूर्णं तच्च तत् ज्ञानं च विस्फूर्तिमात्रं विस्फुरणकात्स्न्यं यत्र तस्मात् ॥२४४॥

अर्थः—बहुत कथन से और बहुत दुर्विकल्पों से बस करो, बस करो; यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि इस एकमात्र परमार्थका ही निरन्तर अनुभव करो क्योंकि निज रसके प्रसारसे पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार

(परमात्मा) उससे उच्च वास्तव में कुछ भी नहीं है (समयसार के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है) ॥२४४॥

अथ शास्त्रं परिसमापयत् तन्माहात्म्यमावर्ण्यते—

इदमेकं जगच्चक्षु-रक्षयं याति पूर्णतां
विज्ञानघनमानन्द-मयमध्यक्षतां नयत् ॥२४५॥

टीका—इदं अध्यात्मतरङ्गिणीनाम शास्त्रं, समयसारप्राभृतं वा, एकं सकलशास्त्रातिशायित्वात् परमात्मस्वरूपप्रकाशकत्वात् । अक्षयं आचन्द्रार्कं शाश्वतं सत्, पूर्णतां भव्यतां सम्पूर्णतां याति प्राप्नोति । कीदृशं ? जगच्चक्षुः जगन्नेत्रं, तत्प्रकाशकत्वात् । पुनः कीदृशं ? विज्ञानघनं आत्मानं अध्यक्षतां नयत् प्रापयत् । पुनः कीदृशं ? आनन्दमयं आत्यन्तिकसुखनिर्वृत्तं इदं शास्त्रं ब्रह्मप्रकाशकत्वात् शब्दब्रह्मायमाणमधीत्योत्तमं सौख्यं विन्दति इत्यभिप्रायः ॥२४५॥

अर्थ—आनन्दमय विज्ञानघनको (शुद्ध परमात्मा को, समयसारको) प्रत्यक्ष करता हुआ यह एक (अद्वितीय) अक्षयचक्षु (समयप्राभृत) पूर्णता को प्राप्त होता है ॥२४५॥

अथात्मतत्त्वोपसंहारं दर्शयन्नयते—

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितं ।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितं ॥२४६॥

टीका—इति उक्तयुक्त्या, ज्ञानमात्रं ज्ञानमयं, इदं आत्मनस्तत्त्वं स्वरूपं, अवस्थितं सुप्रतिष्ठं ज्ञानादपरस्य तत्राभावात् तस्य तन्मयत्वाच्च अन्यथा अचेतनत्वप्रसङ्गात् । पुनः कथम्भूतं ? अखण्डं परवादिभिः प्रमाणैः खण्डयितुमशक्यत्वात् । पुनः कथम्भूतं ? एकं कर्मोपाधिनिरपेक्षत्वात् । पुनः कथम्भूतं ? अचलं शाश्वतत्वात् । पुनः कथम्भूतं ? स्वसंवेद्यं स्वानुभवप्रत्यक्षत्वात् । पुनः कथम्भूतं ? अबाधितं तत्स्वरूपबाधकस्य प्रमाणस्य कस्यचित् परमाणोश्चासम्भवात् ॥२४६॥

अर्थः—इस प्रकार यह आत्मा का तत्त्व ज्ञानमात्र निश्चित हुआ, यह अखण्ड है, एक है, अचल है, स्वसंवेद्य है (अपने से ही ज्ञात होने योग्य है) और अबाधित है (किसी मिथ्यायुक्ति से बाधा नहीं पाता) ॥२४६॥

इति श्री समयसारस्थपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां
सर्वविशुद्धिः अधिकार समाप्तः ॥

अथ स्याद्वादाधिकारः ।

अथ स्वरूपनिरूपणानन्तरं विशदस्याद्वादविद्यानवद्यवादविनोदवेदनाय पातिकापद्यं निगद्यते–

अत्र स्याद्वादशुद्धयर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ।।२४७।।

टीका—अत्र समयसारपद्यपूर्णताप्रस्तावे भूयोऽपि पुनरपि पूर्वं तत्त्वस्वरूपमुक्तं ततोऽपि पुनः मनाग् संक्षेपतः किञ्चित् वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः वस्तुनः तत्त्वं स्वरूपं, तस्य व्यवस्थितिः व्यवस्था । चिन्त्यते विचार्यते च । उपायोपेयभावः उपायः स्वप्राप्तये दर्शनज्ञानचारित्रप्राप्तये उपायः तेनोपायेन प्राप्यः आत्मा तयोर्भावः स्वरूपं चिन्त्यते, किमर्थं ? स्याद्वादशुद्धयर्थं स्याद्वादः अनेकान्तवादः, तत्र यदेव तत् तदेवातत्, यदेकं तदेवानेकं द्रव्यपर्यायार्पणात् यदेव सत् तदेवासत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावविवक्षातः यदेव नित्यं तदेवानित्यं द्रव्यपर्यायार्पणात् इत्याद्यनेकान्तस्य युक्तितोऽष्टसहस्रयां निरूपणात् तस्य शुद्धयर्थं प्रतिपाद्यचित्तध्वान्तनिवारणात् तस्य स्वतः शुद्धत्वाच्च ।।२४७।।

अर्थः—यहाँ स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तुतत्त्व की व्यवस्था और (एक ही ज्ञानमें उपाय उपेयत्व कैसे घटित होता है यह बताने के लिए) उपाय उपेयभावका जरा फिर से भी विचार करते हैं ।।२४७।।

अथ तत्र ज्ञानस्यातदात्मकत्ववादिवादमनूद्य तत्समाधानसन्धानमादधते–

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्,
विश्रान्तं पररूप एव परितो, ज्ञानं पशोः सीदति ।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति, स्याद्वादिनस्तत्पुनः,
दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः, पूर्णं समुन्मज्जति ।।२४८।।

टीका—पशोः पश्यते बध्यते कर्मेति पशुः, अज्ञानी तस्य अतत्स्वभाववादिनोऽज्ञानिनः । ज्ञानं बोधः, सीदति विशीर्णतां याति युक्तिबलाभावात् । कीदृशं तत् ? बाह्यार्थैः अचेतनपदार्थैः परिपीतं ततः समुत्पत्तेस्तदाकारधारित्वात्तत्स्वरूपेण ज्ञानं । उज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद् उज्झितात्यक्ता निजप्रव्यक्तिः स्वप्राकट्यं तया रिक्ती भवत् स्वरूपावेदकत्वात् । पुनः परितः समन्तात् पररूपे परात्मके अचेतनादौ द्रव्ये, विश्रान्तं एव निश्चयेन न स्वस्वरूपे । ज्ञानस्यार्थप्राकट्यं न तु स्वप्राकट्यं ज्ञानं तु ज्ञायते खलु अर्थप्राकट्यान्यथानुपपत्त्या इत्यतदात्मकत्वं वदतो

ज्ञानाभावप्रसङ्गात् अनवस्थादिदोषदुष्टत्वात् । ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात्स्वरूपप्रकाशात्मकत्वं कथं तदभावात् परस्वरूपेण व्यवस्था इति चेन्न, प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशनवत् ज्ञानस्यापि स्वपरप्रकाशात्मकत्वात्, का स्वात्मनि क्रिया विरुद्धा ? न तावद्धात्वर्थलक्षणा भवनाभावप्रसङ्गात्, उत्पत्तिलक्षणायास्तस्या अनङ्गीकाराच्च ज्ञप्तिलक्षणाया विरोधाभावात् । पुनः भूयः, इति युक्त्या स्याद्वादिनः अनेकान्तमतावलम्बिनः तत् ज्ञानं पूर्णं स्वगुणपर्यायैरभिन्नं सत् समुन्मज्जति सर्वत्र स्वप्रकाशकत्वेन समुच्छलति । इति किं ? इह जगति, यत् ज्ञानादि, तत् तत्स्वरूपं स्वपरप्रकाशात्मकं, तत् ज्ञानादि, स्वरूपतः स्वभावतः ततः तदात्मकं स्यात् । कुतः ? दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः दूरं अनन्तकालं, उन्मग्नः स्वगुणिनि लयं गतः घनः निरन्तरं, यः स्वभावः स्वरूपं तस्य भरः अतिशयः तस्मात् । स्वरूपस्य स्वरूपिणि लीनत्वात्तदात्मत्वमेव ।। २४८ ।।

अर्थः—बाह्य पदार्थों के द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया, अपनी व्यक्ति (प्रकटता) को छोड़ देने से रिक्त हुआ, सम्पूर्णतया पररूपमें ही विश्रान्त ऐसे पशु का ज्ञान (पशुवत् एकान्तवादी का ज्ञान) नाश को प्राप्त होता है; स्याद्वादी का ज्ञान तो—जो तत् है वह स्वरूपसे तत् है (अर्थात् प्रत्येक तत्त्वको—वस्तुको स्वरूपसे तत्पना है) ऐसी मान्यता के कारण अत्यन्त प्रकट हुए ज्ञानघन रूप स्वभाव के भार से सम्पूर्ण उदित होता है।२४८।

अथाभिन्नवादिनो मतमाशङ्क्य स्याद्भिन्नत्वं समाचेष्टते—

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं, दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया,
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते ।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुनः,
विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ।।२४९।।

टीका—ननु यदुक्तं स्याद्वादिभिरभिन्नं तदिष्टमेव, तथाहि—प्रतिभास एवेदं यत् प्रतिभासते तत् प्रतिभास एव यथा प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासमानं चेदं जगत्, न चात्र जगतः, प्रतिभासमानत्वमसिद्धं साक्षादसाक्षाच्च तस्य प्रतिभासमानत्वे शब्दविकल्पगोचरातिक्रान्तत्वेन वक्तुमशक्तेः प्रतिभासश्चिद्रूप एवान्यथा प्रतिभासाविरोधात् तस्य पुरुषार्थतत्वात् इति विश्वं ज्ञानं प्रतर्क्य विचार्य । कया ? स्वतत्स्वाशयास्वप्रतिभासान्तःप्रवेशाशया, सकलं दृष्ट्वा प्रतिभासमयं सर्वं विलोक्य, पुरुषार्थतमनन्तं तस्य च देशकालाकारतो विच्छेदानुपलब्धेः, नित्यत्वं सर्वगतत्वं निराकारत्वं च व्यवतिष्ठते । न हि कश्चिद्देशः कालः आकारश्च प्रतिभासशून्यः प्रतिभासविशेषाणां नीलमुखादीनां विच्छेदात् तेषामसत्यत्वात् । यदि ते न प्रतिभासन्ते तर्हि सन्तीति कथं ज्ञायते ततो न तैरनैकान्तिकः । यच्च कारकक्रिया-

भेदकर्मफललोकद्वैतविद्याविद्याबंधमोक्षद्वयं तद्बाधकमभ्यधायि तदपि निरस्तं तेषां प्रतिभासस्वभावत्वादन्यथा व्यवस्थानायोगात्। यदपि पक्षहेतुदृष्टान्तानामुपनिषद्वाक्यानां च प्रतिभासनमप्रतिभासनमिति दूषणोद्भावनं तदपि प्रत्याख्यातं। प्रतिभासमात्रात्मत्वाशेषां पञ्चविंशतिसाङ्ख्योपकल्पितानां प्रकृत्यादीनां तथात्वे हेतुत्वे दोषाभावात् स्याद्वादिनामनेकान्तात्मकत्वे साध्ये सत्वादिसाधनवत्! तत्त्वानां यमनियमानशनादीनां सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोगफलकैवल्यादीनां च प्रतिभासात्मकत्वेन तदन्तःप्रविष्टत्वसिद्धेः नैयायिकोपकल्पितप्रमाणप्रमेयादिषोडशतत्त्ववत्। एवं मीमांसोपकल्पितानां भट्टप्रभाकरोपकल्पितानां चात्मजनकफलादीना योगाचारसौत्रान्तिकवैभाषिकमाध्यमकाङ्गीकृतानां क्षणक्षयलक्षणानां च चतुरार्यसत्यानां च वैशेषिकाङ्गीकृतद्रव्यगुणकर्मादीनां षण्णां पदार्थानां लौकायितकेष्टपृथ्व्यादीनां चतुर्णां नास्तिकाध्यासितनास्तीतितत्त्वस्य च गगनकुसुमादीनां च प्रतिभासमानत्वेन प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वसिद्धेः। अप्रतिभासमानत्वे तद् व्यवस्थाविरोधात् तथापि तदङ्गीकारेऽनिष्टतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात् न केषाञ्चित्स्वेष्टतत्त्वसिद्धिरतः प्रतिभासमानत्वमेष्टव्यं तथा चोक्तं—

सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत्पश्यति कश्चन ॥ १ ॥

इति विश्वमयी भूत्वा कश्चिदद्वैतवादी पशुः पशुरिव अज्ञानीव, स्वच्छन्दं निरङ्कुशत्वेन, आचेष्टते स्वेच्छयेहते प्रतिभासविशेषाणां पररूपत्वेन सत्यत्वात्। पुनः स्याद्वाददर्शी कश्चित् युक्त्या तस्य वस्तुनः स्वतत्त्वं स्वस्वरूपतः स्वरूपं स्पृशेत्। इति किं? यत् ज्ञानादिस्वरूपेण तत् तत्त्वं तत् ज्ञानादि पररूपतः परस्वरूपतः तत्त्वं न भवति अन्यथा सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः "नोदितो दधि खादति किमुष्ट्रं चाभिधावति"। इत्यतिप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात्। कीदृक्षं तत्त्वं? विश्वात् समस्तपदार्थाद्भिन्नं पृथक्। पुनः अविश्वविश्वघटितं अविश्वं अविश्वस्वरूपं तच्च तद्विश्वेन विश्वपदार्थेन घटितं च निष्पादित विश्वपदार्थपरिच्छेदकत्वात् ॥२४६॥

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी 'विश्व ज्ञान है' (अर्थात् सर्व ज्ञेयपदार्थ आत्मा हैं) ऐसा विचार करके सबको (सकल विश्व को) निजतत्त्व की आशा से देखकर विश्वमय (समस्त ज्ञेयपदार्थमय) होकर, पशुकी भाँति स्वच्छन्दतया चेष्टा करता है। स्याद्वाद का देखने वाला तो यह मानता है कि 'जो तत् है वह पररूपसे तत्' नहीं है (अर्थात् प्रत्येक तत्त्वको स्वरूपसे तत्पना होने पर भी पररूपसे अतत्पना है) इसलिए विश्वसे भिन्न ऐसे तथा विश्वसे (विश्वके निमित्तसे) रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले ऐसे (अर्थात् समस्त ज्ञेय वस्तुओं के आकाररूप होनेपर भी समस्त ज्ञेय वस्तु से भिन्न ऐसा अपने तत्त्वका स्पर्श-अनुभव करता है ॥२४६॥

अथानेकत्ववादमारेक्यैकत्वमारेकते—

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विश्वग्विचित्रोल्लस-
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुटयन् पशुर्नश्यति ।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्-
नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२५०॥

टीका—पशुः सौगताख्योऽज्ञानी, नश्यति नाशं याति, तत्कल्पितो ज्ञानक्षणो युक्त्या न व्यवस्थामेतीत्यर्थः । कीदृक्षः सः ? अभितः समन्तात् त्रुटयन् विनश्यन् पूर्वक्षणस्वलक्षणनिर्मूलं विनश्यदुत्तरमुत्पादयति । पुनः कीदृक्षः ? विश्वग्विचित्रोल्लसत् विश्वक् सामस्त्येन, विचित्रा नील-पीताद्यनेकप्रकाराः, उल्लसन्तः स्वाकारार्पणेनोल्लसन्तः गच्छन्तः, ते च ते ज्ञेयानां ज्ञानविषयभूतानां नीलादिक्षणानां आकारा ज्ञाने स्वाकारार्पकत्वं तैः विशीर्णाः अनेकधा जाता शक्तिः सामर्थ्यं यस्य नीलपीतादीनां क्षणिकत्वात् तदुत्पत्तिस्तदाकारमनुकुर्वाणं ज्ञानं तदध्यवसायतः प्रमाणं क्षणिकं कारकगुणानां कार्यसद्भावात्, क्षणिकं हि सर्वं यत्सत्तत्क्षणिकं यथा घटः सन्ति नीलपीतानि च । घटाद्यवयवो न कपालांशमन्तरेणोपलभ्यते । स हि अवयवी अवयवेषु वर्तमानः प्रत्यवयवं साकल्येन वर्तते एकदेशेन वा ? यदि साकल्येन तदा यावन्तोऽवयवास्तावन्तोऽवयविनः । तत्रापि चावयवकल्प-नायामनवस्था । एकदेशेन चेत् भङ्गित्वप्रसङ्गात् एकत्वं न स्यात् इत्यादियुक्त्या नीलपीताद्यवयवा एव । बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो क्षणिकलक्षणानां बाह्यार्थानां ग्रहणं तदेव स्वभावः स्वरूपं यस्य भरतोऽतिशयात् ज्ञानमपि क्षणिकं तदप्ययुक्तं यतः अनेकान्तवित् स्याद्वादी, एकं पूर्वापरविवर्तव्यापि-तया अद्वितीयं ज्ञानं पश्यति, कीदृक्षं तत् ? अबाधितानुभवनं अबाधितं प्रमाणैरनुभवनं यस्य तत्, । न च कस्यापीदृशी प्रतीतिर्मया क्षणिकं वस्तु लब्धमिति सर्वेषां साधारणस्थूलघटादीनां प्राप्तेः, एकद्रव्यतया अहं मतिज्ञानी स एवाहं श्रुतज्ञानी यदेव मया दृष्टं तदेव मया लब्धमित्येकद्रव्यत्वेन भेदभ्रमं भिन्नज्ञानभ्रान्तिं ध्वंसयन् विनाशयन् । अन्यथा जीवान्तरवत् स्वात्मन्यपि भेदप्रसङ्गात् स्याद्वादी कीदृक्षया तया ? सदाप्युदितया सदा नित्यं, आबालगोपालचाण्डालाबालादीनां प्रसिद्धया विद्यमानतया ॥२५०॥

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी बाह्य पदार्थों को ग्रहण करनेके (ज्ञानके) स्वभावकी अतिशयता के कारण; चारों ओर प्रकट होनेवाले अनेक प्रकारके ज्ञेयाकारों से जिसकी शक्ति विशीर्ण (छिन्नभिन्न) हो गई है ऐसा होकर (मानकर) सम्पूर्णतया खण्डखण्डरूप होता हुआ (अनेकरूप होता हुआ) नष्ट हो जाता है और

अनेकान्तका जानकार तो सदा उदित एक द्रव्यत्व के कारण भेद–भ्रम को नष्ट करता हुआ (अर्थात् ज्ञेयों के भेदसे ज्ञानमें सर्वथा भेद पड़ जाता है ऐसे भ्रम का नाश करता हुआ) जो एक है (सर्वथा अनेक नहीं है) और जिसका अनुभवन निर्बाध है ऐसे ज्ञानको देखता है–अनुभव करता है ॥२५०॥

अथैकज्ञानमतमतिं निराचिकीर्षुरनेकतां ज्ञानस्य चिकीर्षति—

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय–
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२५१॥

टीका—पशुः अज्ञानी साङ्ख्यादिः कश्चित्, स्फुटमपि अनेकाकारतया व्यक्तमपि ज्ञानं नेच्छति । कया ? एकाकारचिकीर्षया ज्ञानस्य एकाकारं एकत्वं, चिकीर्षया कर्तुमिच्छया क्व ? ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति ज्ञेयस्य पदार्थस्य आकारः ज्ञाने तदाकारः, स एव कलङ्कः कालिमा, ज्ञाने तदाकारस्याभावात् एकस्वभावत्वात्तस्य कूटस्थनित्यत्वात् तेन मेचकः चित्रितः, चित् ज्ञानं तत्र । प्रक्षालनं अनेकाकारनिवारणं, कल्पयन्–कुर्वन्, तत्राह अनेकान्तवित् तत् ज्ञानं, पश्यति ईक्षते, कीदृशं तत् ? पर्यायैः मतिश्रुतादिज्ञानविवर्तैः, अनेकतां कथञ्चिदनेकत्वं परिमृशन् अङ्गीकुर्वन्, सर्वथैकत्वे नानाज्ञेयग्रहणं न स्यात् एकार्थज्ञानस्य नित्यमसम्भवात् तदभावः स्यात् । तदुक्तमष्टसहस्र्यां प्रमाण–कारकैर्व्यक्तं व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत् । ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद्बहिः ॥१॥ इति ननु ज्ञानं पर्यायैरनेकत्वं दधदशुद्धं स्यात् पर्यायस्याशुद्धत्वरूपापनात् इति चेन्न, स्वतः स्वभावतः क्षालितं निर्मलं, यतः । ननु ज्ञानस्यानेकत्वमेवेष्टं दृष्टेष्टानां तद्विषयानामिष्टत्वात् जगतो विचित्रत्वादिति चेन्न कुतः ? पर्यायापेक्षया वैचित्र्येऽपि एकज्ञानद्रव्यतया अविचित्रतां एकस्वरूपतां, उपगतं प्राप्तं, अतः कथञ्चिदेकं द्रव्यार्पणात्, कथञ्चिदनेकं पर्यायार्पणात् ॥२५१॥

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी ज्ञेयाकाररूपी कलंक से (अनेकाकाररूप) मलिन ऐसे चेतनमें प्रक्षालन की कल्पना करता हुआ (अर्थात् चेतनकी अनेकाकाररूप मलिनता को धो डालने की कल्पना करता हुआ) एकाकार करने की इच्छा से ज्ञानको यद्यपि वह ज्ञान अनेकाकार रूप से प्रकट है तथापि–नहीं चाहता (अर्थात् ज्ञानको सर्वथा एकाकार मानकर ज्ञान का अभाव करता है । और अनेकान्त का जाननेवाला तो, पर्यायों से ज्ञान की अनेकता को जानता (अनुभवता)

हुआ विचित्र होने पर भी अविचित्रता को प्राप्त (अनेकरूप होने पर भी एक रूप) ऐसे ज्ञान को स्वतः क्षालित (स्वयमेव धोया हुआ शुद्ध) अनुभव करता है ॥२५१॥

अथ परद्रव्यास्तित्वन्यस्तं ज्ञानं निराकृत्य स्वास्तित्वास्तिक्यमागम्यते—

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः,
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता,
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णोभवन् जीवति ॥२५२॥

टीका—पशुः परद्रव्येण सदिति प्रतिपद्यमानः कश्चित् शून्यः नश्यति स्वपक्षाक्षेपं लक्षयति परितः सामस्त्येन केन ? स्वद्रव्यानवलोकनेन स्वस्य आत्मनः द्रव्यं द्रवति द्रोष्यति अद्रुद्रवत् स्वगुण-पर्यायान् इति द्रव्यं, तस्यानवलोकनेन स्वामित्वानीक्षमाणेन । पुनः कीदृक्षः ? प्रत्यक्षालिखितस्फुट-स्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः प्रत्यक्षेण वैशद्यज्ञानेन आलिखिता आज्ञाता, स्फुटा व्यक्ता, स्थिरा अनेक-कालस्थायित्वात् सा चासौ परद्रव्यास्तिता च, न च घटास्तित्वं पटास्तित्वेऽस्ति सर्वस्य सर्वार्थक्रिया-करणात्, न हि पटादयः घटादय इव पय आहरणलक्षणामर्थक्रियां कुर्वन्ति घटादिज्ञानं वा इति परास्तित्वाभावेपि तया वञ्चितः । स्याद्वादी तु कथं व्यवतिष्ठते अनेकान्तमतमतिः स्वतत्त्वं जीवति स्थिरं स्थापयतीत्यर्थः । कीदृशः ? विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् विशुद्धज्ञानतेजसा पूर्णो भवन् स्वमनोरथं पूर्णीकुर्वन् । कीदृशेन तेन ? समुन्मज्जता समुच्छलता, जगति प्रकाशं गच्छता । किं कृत्वा ? सद्यः तत्कालं, कया ? स्वद्रव्यास्तितया स्वस्य आत्मनः द्रव्यास्तित्वं तया । निपुणं यथोक्तं अस्तित्वं, निरूप्य अवलोक्य ॥२५२॥

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी प्रत्यक्ष अलिखित प्रकट (स्थूल) और स्थिर (निश्चल) परद्रव्यों के अस्तित्व से ठगाया हुआ स्वद्रव्यको (स्वद्रव्यके अस्तित्व को) नहीं देखने से सम्पूर्णतया शून्य होता हुआ नाश को प्राप्त होता है और स्याद्वादी तो आत्मा को स्वद्रव्यरूपसे अस्तिपने से निपुणतया देखता है इसलिए तत्काल प्रकट विशुद्ध ज्ञानप्रकाश के द्वारा पूर्ण होता हुआ जीता है—नाश को प्राप्त नहीं होता ॥२५२॥

अथ परद्रव्यस्वरूपं ब्रह्मैतिवादिनं प्रति परद्रव्येणासदिति संन्यस्यते—

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः,
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।

स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां,
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५३॥

टीका—पशुः अद्वैतैकान्तावलम्बी कुतः ? स्वद्रव्यभ्रमतः स्वस्य द्रव्यं स्वद्रव्यं भ्रमतः भ्रान्तः। परद्रव्येषु समस्तचेतनाचेतनेष्वपरद्रव्येषु, किल निश्चितं विश्राम्यति विश्रामं याति, परद्रव्यं सर्वं स्वद्रव्यमिति कृत्वा तिष्ठति। किं कृत्वा ? पुरुष ब्रह्म, सर्वद्रव्यमयं समस्त चेतनेतरवस्तुमय प्रपद्य अङ्गीकृत्य, तदभ्युपगमे वेदवाक्य 'पुरुष एवेदं यद्भूतं यच्च भाव्यं स एव हि सकललोकप्रलयस्थिति-हेतुरिति" सर्वेषां प्रतिभासमानत्वेन प्रतिभासान्तः प्रविष्टत्वं तस्यैकत्वे घटपटलकुटमुकुटशकटादीनां भेदस्तु दुर्वासनावासितः दुर्वासनया अविद्यया सदसन्नित्यानित्यैकानेकादिरूपेण प्रतिभासमानया वासितः कल्पितः इति वदन् अद्वैतदुर्वासनावासितः दुर्वासनया अनादिकालभूतमहामोहाख्ययाऽविद्यया वासितः वासनाविषयीकृतः। स्याद्वादवादी तु समस्तवस्तुषु सर्वपदार्थेषु स्वद्रव्यमेव स्वद्रव्येणास्ति-त्वमेव आश्रयेत् भजेत्। किं कुर्वन् ? परद्रव्यात्मना नास्तितां जानन् परद्रव्यात्मना परस्वरूपेण नास्तितां जानन् प्रमाणबलान्नास्तित्वमभ्युपगच्छन्। कीदृक्षः सः ? निर्मलशुद्धबोधमहिमा निर्मलः द्रव्यमलकलङ्करहितः शुद्धः भावकर्मविकलः स चासौ बोधश्च तेन महिमा माहात्म्यं यस्य सः ॥२५३॥

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी दुर्वासना से (कुनय की वासना से) वासित होता हुआ आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर (परद्रव्यों में) स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में विश्रान्त करता है ; और स्याद्वादी समस्त वस्तुओं में परद्रव्यस्वरूपसे नास्तित्व को जानता हुआ जिसकी शुद्धज्ञान महिमा निर्मल है ऐसा वर्तता हुआ, स्वद्रव्यका ही आश्रय करता है ॥२५३॥

अथ परक्षेत्रास्तित्वं निराकुर्वन् स्वक्षेत्रास्तित्वं तुदति—

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा,
सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन् पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुनः,
तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ।२५४॥

टीका—कश्चिन्नैयायिकादिः पशुः अज्ञानी, सीदत्येव स्वस्थित्यभावाद्विषादं यात्येव। किं कुर्वन् ? अभितः समन्तात् बहिः पतन्तं स्वक्षेत्रात् परक्षेत्रे पतन्तं, पुमांसं आत्मानं, पश्यन् अवलोकयन्, सदा नित्यं आत्मनः व्यापकत्वाङ्गीकारात्, कीदृशः सः ? भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः भिन्नं च तत् क्षेत्रं च तत्र निषण्णं वर्तमानं तच्च तद्बोध्यं ज्ञातुं योग्यं द्रव्यं च तत्र नियतः निश्चितः

व्यापारः सन्निकर्षादिक्रिया आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियं अर्थेन इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वनियमात् इति सान्निकर्षादिव्यापारः बोध्यक्षेत्रगमनलक्षणः तत्र निष्ठः, तत्पक्षावलम्बी स्वव्यवस्थानाभावात्सोदर्येव । स्याद्वादवेदी पुनः कथं तिष्ठति ? स्वक्षेत्रास्तितया स्वस्य क्षेत्रे अस्तिना अस्तित्वं तया निरुद्धरभसः सन्निकर्षादीनां निरुद्धो रभसः वेगः, येन सः, प्रमाणपरीक्षादौ सन्निकर्षस्य गतादावतिप्रसङ्गेन दूषितत्वात् । नायनसन्निकर्षस्य घटरूपयोः समवेतयोः सद्भावे समवेतयोर्घटरसयोः स कथं न स्यात् इति निरस्तत्वात् । तर्हि क्वचिदपि बोध्ये आत्मनो व्यापित्वं न स्यात् इति वदन्तं प्रति स्याद्वादवादी कीदृक्षो भवंस्तिष्ठति ? आत्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्ति आत्मनि स्वस्मिन् निखातं व्यवस्थितं तच्च यद्बोध्यं च स्वरूपलक्षणं बोध्यमित्यर्थः तत्र नियता निश्चिता व्यापारशक्तिः, येन स ईदृक्षो भवन् सन् ॥२५४॥

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी भिन्न क्षेत्र में रहे हुए शेय-पदार्थों में जो शेयज्ञायक सम्बन्धरूप निश्चित व्यापार है उसमें प्रवर्तता हुआ आत्मा को सम्पूर्णतया बाहर (परक्षेत्रमें) पड़ता देखकर (स्वक्षेत्रसे आत्मा का अस्तित्व न मानकर) सदा नाश को प्राप्त होता है और स्याद्वाद के जाननेवाले तो स्वक्षेत्रसे अस्तित्व के कारण जिसका वेग रुका हुआ है ऐसा होता हुआ (अर्थात् स्वक्षेत्र में वर्तता हुआ) आत्मामें ही आकाररूप हुए शेयों में निश्चित व्यापारकी शक्तिवाला होकर टिकता है—जीता है (नाश को प्राप्त नहीं होता) ॥२५४॥

अथ परक्षेत्रे नास्तित्वाभावं वदन्तं प्रति परक्षेत्रे नास्तित्वं क्वणति—

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधिपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्,
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन् ।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां,
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥२५५॥

टीका—पशुः कश्चिदज्ञानी प्रणश्यति स्वक्षयं नयति, कुतः ? पृथग्विधिपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात् पृथग् भिन्नं, विधिः प्रयोजनं येषां ते ते च ते परक्षेत्रे स्वक्षेत्रादपरक्षेत्रे, स्थितार्थाश्च तेषां उज्झनं परिहरणं तस्मात् । किं कृत्वा ? तुच्छीभूय निस्स्वभावं भूत्वा । किमर्थं ? स्वक्षेत्रस्थितये स्वक्षेत्रे भवनाय । स्याद्वादी तु पुनः परान् परिच्छेद्यपदार्थान्, आकारकर्षी आकारग्राही सन्, न तुच्छतां न तुच्छभावतां, अनुभवति । ननु पराकारकर्षी स्याद्वादादिबोधः परार्थग्राही स्यादित्याशङ्कायामाह त्यक्तार्थोऽपि त्यक्तपरद्रव्योऽपि परिच्छिनत्ति । त्यक्तार्थत्वं कथं ? परक्षेत्रे स्वक्षेत्रादपरक्षेत्रे नास्तितां

वदन् प्रतिपादयन् । ननु परक्षेत्र इव स्वक्षेत्रे मास्स्विति चेन्न यतः स्वधामनि स्वक्षेत्रे वसन् अस्तित्वं भजन् । पुनः किं कुर्वन् ? चिदाकारान् चित्पर्यायान्, वमन् उद्गिरन्, कः सह ? अर्थैः पदार्थैः ॥२५५॥

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी स्वक्षेत्रमें रहने के लिए भिन्न भिन्न परक्षेत्रमें रहे हुए शेय पदार्थों को छोड़ने से, शेय पदार्थों के साथ चैतन्य के आकारों का भी वमन करता हुआ (अर्थात् शेयपदार्थों के निमित्त से चैतन्य में जो आकार होता है उसे भी छोड़ता हुआ) तुच्छ होकर नाश को प्राप्त होता है; और स्याद्वादी स्वक्षेत्र में रहता हुआ, परक्षेत्र में अपना नास्तित्व जानता हुआ (परक्षेत्रमें रहे हुए) शेयपदार्थों को छोड़ता हुआ भी वह परपदार्थों में से चैतन्य के आकारों को खींचता है (अर्थात् शेयपदार्थों के निमित्त से होने वाले चैतन्यके आकारों को नहीं छोड़ता इसलिए तुच्छताको प्राप्त नहीं होता ॥२५५॥

अथ स्वकालास्तित्वं ब्रीणाति—

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्,
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः ।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः,
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥२५६॥

टीका—पशुः कश्चिदज्ञानी, सीदत्येव विनश्यत्येव किं कुर्वन् ? पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन् पूर्वं स्वोत्पत्तिक्षणे, आलम्बितं शेयस्वरूपेण अवलम्बितं तच्च तद्बोध्यं च ज्ञेयं तस्य नाशः क्षयः तस्य समये क्षणे, ज्ञानस्य बोधस्य नाशं विनाशं विदन् जानन् । पुनः कथम्भूतः ? अत्यन्ततुच्छः अत्यन्तं निश्शेषं तुच्छः निस्स्वभावः सर्वेषां तुच्छस्वभावात्वात् निरन्वयविनाशात् । सोऽपि वादी तुच्छस्वभावः तन्मध्ये पतितत्वात् किञ्चनापि किमपि, चेतनाचेतनं स्थिरं न कलयन् । पुनः स्याद्वादवेदी पूर्णः पूर्वापरकालस्थायित्वेन पूर्णमनोरथस्तिष्ठति आस्ते । किं कुर्वन् ? अस्य ज्ञानस्य, निजकालतः स्वकालतः, अस्तित्वं कलयन् । किं कृत्वा ? मुहुः पुनः, बाह्यवस्तुषु बहिः पदार्थेषु, भूत्वा तदग्राहकस्वरूपेणोत्पद्य, कीदृशेषु तेषु ? विनश्यत्स्वपि पर्यायापेक्षया प्रतिक्षणं विनाशं गच्छत्सु अपि शब्दात् द्रव्यादेशादविनश्यत्सु । बाह्यपदार्थेषु विनश्यत्स्वपि, ज्ञानं न विनश्यति स्वकाले सत्त्वात् ॥२५६॥

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी पूर्वालम्बित शेय पदार्थों के नाश के समय ज्ञानका भी नाश जानता हुआ और इस प्रकार ज्ञानको कुछ भी (वस्तु)

न जानता हुआ (अर्थात् ज्ञानवस्तु का अस्तित्व ही नहीं मानता हुआ) अत्यन्त तुच्छ होता हुआ नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वाद का ज्ञाता आत्मा का निजकालसे अस्तित्व जानता हुआ बाह्यवस्तुओं (ज्ञेयपदार्थ) के बारम्बार नष्ट होने पर भी, स्वयं पूर्ण रहता है ॥ २५६॥

अथ परकाले नास्तित्वमाविभृते—

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः,
तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ॥२५७॥

टीका—पशुः कश्चिदज्ञानी, परकाले वस्तुनोऽस्तित्ववादी नश्यति स्वपक्षक्षयेण स्वयं क्षयं याति । कीदृक्षः सन् ? मनसा चित्तेन कृत्वा भ्राम्यन् अन्यथार्थस्यान्यथार्थकल्पनया भ्रमं गच्छन् । कीदृशेन तेन ? बहिर्ज्ञेयालम्बनलालसेन बहिर्ज्ञेयं बाह्यचेतनादिद्रव्यं तदेवालम्बनं अवलम्बनं तत्र लालसं यत्तेन । पुनः कीदृक्षः सः ? अर्थावलम्बनकाले एव ज्ञानस्य सत्त्वं कलयन् अर्थस्य ज्ञेयस्य आलम्बनं तदुत्पत्त्यादिवशादवलम्बनं तस्य काले समये एव ज्ञानस्य सत्त्वं अस्तित्वं, कलयन् अङ्गीकुर्वन् । तदुक्तं तन्मते—

अर्थस्यासम्भवे भावात्प्रत्यक्षे च प्रमाणता ।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयं ॥ इति ॥१॥

अर्थालम्बनलक्षणे परकाले सत्त्वे सर्वदा सत्त्वप्रसङ्गात् । स्याद्वादवेदी पुनः अस्य ज्ञानस्य परकालतः परकालेन, नास्तित्वं असत्त्वं कलयन् अङ्गीकुर्वन्, तिष्ठति आस्ते । ननु यथा परकालेन नास्तित्वं स्याद्वादिनां तथा स्वकालेऽपि तदस्तु इति चेन्न यतः आत्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् आत्मनि चिद्रूपे, निखातं अरोपितं तच्च तन्नित्यं द्रव्यरूपतया शाश्वतं, सहजज्ञानं च चिद्रूपस्य शाश्वतिकत्वे ज्ञानस्यापि शाश्वतिकत्वात् तत्काले तस्य सद्भावः तस्य एकपुञ्जीभवन् अद्वितीयसमूहः सन् ॥ २५७ ॥

अर्थः—पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी ज्ञेयपदार्थों के आलम्बनकालमें ही ज्ञान का अस्तित्व जानता हुआ बाह्य ज्ञेयों के आलम्बनकी लालसा वाले चित्त से (बाहर) भ्रमण करता हुआ नाश को प्राप्त होता है और स्याद्वाद का ज्ञाता तो पर काल से आत्मा का नास्तित्व जानता हुआ आत्मा में दृढ़तया रहा हुआ नित्य सहजज्ञानके पुञ्जरूप वर्तता हुआ टिकता है—नष्ट नहीं होता ॥ २५७ ॥

अथ स्वभावास्तित्वमनुभूयते—

विश्रान्तः परभावभावकलनात् नित्यं बहिर्वस्तुषु,
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिम–न्येकान्तनिश्चेतनः ।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्,
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहज–स्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥२५८॥

टीका—पशुः परभावेनात्मानं मन्यमानः कश्चिदज्ञाता, नश्यत्येव । कीदृशः ? नित्यं निरन्तरं बहिर्वस्तुषु नीलादिज्ञेयक्षणेषु, विश्रान्तः स्थितः । कुतः ? परभावभावकलनात् परे च ते भावाश्च नीलपीतादयस्तेषां भावः स्वभावः, तस्य कलना ग्रहणं, आत्मसात्करणं तस्मात् । स्याद्वादवेदी तु न नाशमेति विनाशं न प्राप्नोति । कीदृशः ? सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः सहज. स्वाभाविकः स्पष्टीकृतः प्रत्ययः ज्ञानं, येन सः । स्व स्वभावनियतत्वात् सर्वस्मात् ज्ञेयाद्विभक्तः भिन्नः, भवन् सन् परभावस्वभावग्राहकत्वाभावात् । कुतः ? नियतस्वभावभवनज्ञानात् नियतः निश्चितः स्वभावः चैतन्यादिस्वरूपं, तेन भवनं यस्य तच्च तज्ज्ञानं च तस्माद् । कीदृक्षः सः ? स्वभावमहिम्नि एकान्तनिश्चेतनः स्वस्य भावः पर्यायः, ज्ञानादिलक्षणः, तस्य महिमा माहात्म्यं यत्र तस्मिन्नात्मनि, एकान्ततः सर्वथास्तित्वनास्तित्वादेः निर्गतं चेतनं ज्ञानं, यस्य सः । आत्मनि एकान्तज्ञानाभावात् अनेकान्तज्ञानं ॥ २५८ ॥

अर्थः—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी परभावों के भवन (अस्तित्व, परिणमन) को ही जानता है (अर्थात् परभावसे ही अपना अस्तित्व मानता है,) इसलिए सदा बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ (अपने) स्वभाव की महिमा में अत्यन्त निश्चेतन (जड़) वर्तता हुआ नाश को प्राप्त होता है और स्याद्वादी तो (अपने) नियत स्वभावके भवनस्वरूप (परिणमनस्वरूप) ज्ञानके कारण सब (परभावों से) से भिन्न वर्तता हुआ, सहज स्वभाव का प्रतीतिरूप ज्ञातृत्व स्पष्ट-प्रत्यक्ष-अनुभवरूप किया है जिसने ऐसा होता हुआ नाश को प्राप्त नहीं होता ॥ २५८ ॥

अथापरपर्यायपरं ब्रह्म निषेधयन् परस्वरूपेण सदित्युद्घाटयति—

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः,
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ।

स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावम्भरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः ॥२५९॥

टीका—सर्वभावमयं पुरुषं कल्पयन् पशुः कश्चिदज्ञानी, स्वैरं स्वेच्छया, यमनियमासनाद्यभावात्, क्रीडति विहरति इतस्ततः। कीदृक्षः ? गतभयः गतः नष्टः, भयः इहपरलोकादिलक्षणो यस्य सः। सर्वस्य ब्रह्ममयत्वादिहपरलोकाद्यभावः, पुनः सर्वत्रापि कीदृक्षः ? अनिवारितः निषिद्धानुष्ठानेऽपि अनिवारितः अलाबूनि मज्जन्ति। पाषाणाः प्लवन्ते, अन्धो मणिमविन्दत्, तमनङ्गुलिरावतत्, उत्तानावं देवगावो वहन्तीत्यादीनां वेदवाक्यानां पूर्वापरविरुद्धानां मातृगमनादिप्ररूपकानां च सद्भावान्न तेषां कश्चिन्निवारकः। पुनः कीदृक्षः ? शुद्धस्वभावच्युतः शुद्धस्वभावात् च्युतः शुभाशुभपर्यायमयत्वात्। किं कृत्वा अध्यास्य अध्यारोप्य। क्व ? आत्मनि चिद्रूपे, क ? सर्वभावभवनं सर्वभावानां समस्तस्वभावानां, भवनं अस्तित्वं। स्याद्वादी तु विशुद्ध एव निर्मलस्वज्ञाननियत एव लसति विलासं करोति दृष्टेष्टविरोधाभावात्। कुतः ? भरात् अतिशयेन, स्वस्य आत्मनः, स्वभावं स्वरूपं, आरूढः विश्रान्तः, स्वभावेन सत्वात् तर्हि परस्वभावेनाप्यस्तु तन्निवारणार्थमाह, कीदृक्षः ? परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः परे च ते भावाश्च चेतनाचेतनादयश्च तेषां भावाः पर्यायाः रागद्वेषनीलपीतादयः तेषां विरहेण अभावेन, व्यालोकः स्वतत्त्वावलोकनं तेन निष्कम्पितः निश्चलः प्रमाणप्रसिद्धत्वात्॥ २५९॥

अर्थः—पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी सर्वभावरूप भवनका आत्मा में अध्यास करके, शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ किसी परभावको शेष रखे बिना सर्वपरभावों में स्वच्छन्दतापूर्वक निर्भयतयासे क्रीडा करता है; और स्याद्वादी तो अपने स्वभावमें अत्यन्त आरूढ़ होता हुआ परभावरूप भवनके अभावकी दृष्टि के कारण (अर्थात् आत्मा परद्रव्यों के भावोंरूप से नहीं है—ऐसा जानता होने से) निष्कम्प वर्तता हुआ शुद्ध ही विराजित रहता है॥ २५९॥

अथ सर्वस्य क्षणभङ्गाभोगभङ्गिप्रसङ्गतस्य तत्त्वस्य निरसनव्यसनं नित्यत्वं पणायते—

प्रादुर्भावविरामसूचितवहद् ज्ञानांशनानात्मना,
निर्ज्ञानात् क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं,
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् जीवति॥२६०॥

टीका—प्रायः बाहुल्येन पशुः सर्वक्षणिकवादी कश्चिदज्ञानी । नश्यति सीदति । कीदृक्षः ? क्षणभङ्गसङ्गपतितः क्षणे पदार्थानां भङ्गः विनाशः, तस्य सङ्गः सङ्गतिः तत्र पतितः तदङ्गीकारपरवशीभूतः । कुतः ? निर्ज्ञानात् स्वपक्षसिद्धदृष्टेष्टप्रमाणनिर्णयात् । कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिलक्षणसद्भावात् । ज्ञानांशनानात्मना ज्ञानानामंशाः पर्यायाः, सुखदुःखाहङ्कारादयः, तेषां नानात्मना परस्परं सर्वथा भिन्नस्वभावेन । कीदृक्षः ? प्रादुर्भावविराममुद्रितवहद् पीतादिज्ञानक्षणानां प्रादुर्भाव उत्पत्तिः, नीलादिज्ञानक्षणानां विरामः विनाशः, तेन मुद्रितं लाञ्छितं वस्तु वहतीति । ननु स्याद्वादिनां प्रतिक्षणं क्षणिकानां पर्यायाणां सद्भावात् सुगतगतिगमनमारणमेव विभावपर्यायाणां तु नरकादीनां तु स्थायित्वाभ्युपगमेऽपि तेषामसत्त्वादिति चेन्न यतः स्याद्वादी तु जीवति समस्तमतमण्डनखण्डनेन विलासित्वात् उज्जीवति । कीदृशः ? चिदात्मना चेतनास्वरूपेण सर्वत्रावग्रहेहादौ चैतन्यस्वभावेन नित्योदितं नित्यस्वरूपेणोदितं चिद्वस्तु चैतन्यद्रव्यं, परिमृशन् कलयन् प्रमाणबलादनुभवन्नित्यर्थः । पुनः कीदृक्षः ? टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् टङ्केन उत्कीर्णघनस्वभावः निरन्तरप्रकाशमानस्वरूपं स एव महिमा माहात्म्यं यस्य तत् टङ्कोत्कीर्णं च घनस्वभावमहिमा च तच्च तज्ज्ञानं च भवन् जायमानः सन् ॥ २६० ॥

अर्थः—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी उत्पाद व्यय से लक्षित ऐसे बहते (परिणमित होते) हुए ज्ञानके अंशरूप अनेकात्मक के द्वारा ही (आत्मा का) निर्णय अर्थात् ज्ञान करता हुआ क्षणभंग (क्षण क्षण में होता हुआ नाश) के संग में पड़ा हुआ बहुलतासे नाशको प्राप्त होता है और स्याद्वादी तो चैतन्यात्मकता के द्वारा चैतन्य वस्तुको नित्य उदित-अनुभव करता हुआ टंकोत्कीर्णघनस्वभाव (टंकोत्कीर्ण पिण्डरूप स्वभाव) जिसकी महिमा है ऐसे ज्ञानरूप वर्तता हुआ जीता है ॥ २६० ॥

अथ सर्वथा सत्यनित्यचित्तशातनमनित्यत्वमात्मनो ज्ञानस्य विज्ञापयति—

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया,
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेप्यासादयत्युज्ज्वलं,
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥२६१॥

टीका—पशुः कश्चिन्नित्यैकान्तवादी शठः, किञ्चनापि किमपि ज्ञानं भिन्नं पृथक्, वाञ्छति ईहते । कुतः ? उच्छलदच्छचित्परिणतेः उद् ऊर्ध्वमुच्छलन्ती, अच्छा निर्मला, सा चासौ चित्परिणतिः चित्पर्यायः तस्याः पर्यायपर्यायिणोः परस्परं भेदात् ज्ञानस्य नित्यत्वं । कया ? टङ्कोत्कीर्णविशुद्ध-

बोधविसराकारात्मतत्त्वाशया टङ्कोत्कीर्णः पर्यायाभावात् नित्यत्वात् स चासौ विशुद्धश्च पूर्वापरविवर्तकालिकाविकलत्वात् स चासो बोधश्च तस्य विसरः निवहः, स एवाकारः तेनोपलक्षितं आत्मतत्त्वं तस्य आशा वाञ्छा नित्यत्वात्मज्ञानाकाङ्क्षा तया । स्याद्वादी स्यात् कथञ्चिच्छब्देनोपलक्षितो वादः जल्पनं, विद्यते यस्य सः । वस्तुनस्तथात्वात् तथा काङ्क्षायाः समुत्पत्तेः तथा विवक्षायाः सद्भावात् अनेकान्तात्मकं सर्वं एकान्तस्वरूपानुपलब्धेरित्यनेकान्तवादो । ज्ञानं नित्यं पूर्वापरावबोहादिषु व्याप्तज्ञानत्वसामान्येन स्थायित्वं । आसादयति प्राप्नोति । कीदृशं ? उज्ज्वलं अवदातं, अनित्यतापरिणमेऽपि वस्तुनोऽनित्यतापरिज्ञाने अपिशब्दान्न केवलं नित्यमेव अनित्यतापरिज्ञाने सत्यपि । नन्वनित्यतापरिज्ञानमात्रवस्तु शुक्तिकायां रजतपरिज्ञानवन्न पुनस्तथा वस्तुनः प्राप्तिरिति तदपि स्वमनोरथमात्रं, यतः अनित्यतां वस्तुगतानित्यत्वं परिमृशन् अर्थक्रिययोपलभमानः । कुतः ? चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् चिद्वस्तुनः चेतनारूपवस्तुपर्यायस्य वृत्तिः वर्तना तस्याः । क्रमात् अनुक्रमात् ॥ २६१ ॥

अर्थः—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञानके विस्तार-रूप एक-आकार (सर्वथा नित्य) आत्म तत्त्व की आशासे उछलती हुई निर्मल चैतन्यपरिणति से भिन्न कुछ (आत्मतत्त्व को) चाहता है (किन्तु ऐसा कोई आत्मतत्त्व है नहीं) और स्याद्वादी चैतन्य वस्तु की वृत्ति के (परिणति के, पर्याय के) क्रम द्वारा उसकी अनित्यता का अनुभव करता हुआ नित्य ऐसे ज्ञानको अनित्यता से व्याप्त होने पर भी उज्ज्वल (निर्मल) मानता है—अनुभव करता है ॥ २६१ ॥

अथानेकान्तमतव्यवस्था सुघटेति सञ्जाघटीति इति पद्यद्वयेन—

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥२६२॥

टीका—इति अमुना प्रकारेण, स्वयमेव स्वयं प्रकाशमानत्वादिस्वरूपेण, आलोकाद्युपायेन च आत्मतत्त्वं आत्मस्वरूपं अनेकान्तः स्याद्भिन्नाभिन्नत्वसत्त्वासत्त्वैकानेकत्वनित्यत्वादयः, अनुभूयते स्वानुभवप्रत्यक्षीक्रियते । किं कुर्वन् ? अज्ञानविमूढानां अज्ञानेन अनादिकालविजृम्भितमोहाज्ञानेन विमूढानां मोहितानां, ज्ञानमात्रं ज्ञानसाकल्यं, प्रसाधयन् स्वरूपप्रकाशनादिभिर्दर्शयन् ॥ २६२ ॥

अर्थः—इसप्रकार अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद अज्ञानमूढ़ प्राणियों को ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ स्वयमेव अनुभवमें आता है ॥२६२ ॥

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयं ।
अलङ्घ्यशासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥२६३॥

टीका—एवमुक्तप्रकारेण पूर्वं स्याद्वादसमर्थनेन व्यवस्थितः प्रमाणनयोपन्यासैः सुप्रतिष्ठः, कया ? तत्त्वव्यवस्थित्या तत्त्वस्य वस्तुयाथात्म्यस्य आत्मतत्त्वस्य वा व्यवस्थितिः व्यवस्थानं तया । किं कुर्वन्, स्वयं आत्मना कृत्वा, स्वं आत्मानं, व्यवस्थापयन् सुस्थिरीकुर्वन् । पुनः किं कुर्वन् ? जैनं सर्वज्ञभट्टारकप्रणीतं, शासनं मतं, व्यवस्थापयन् अथवा यतोऽनेकान्तात् इत्याध्याहार्यं जैनं शासनं अलङ्घ्यं एकान्तमतमतिविजृम्भितमिथ्यादृष्टिकोटिभिर्न लङ्घितुं शक्यं ॥ २६३ ॥

अर्थः—इसप्रकार अनेकान्त—जो जिनदेव का अलंघ्य शासन है वह—वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी व्यवस्थिति (व्यवस्था) द्वारा स्वयं अपने आपको स्थापित करता हुआ स्थित हुआ—निश्चित हुआ—सिद्ध हुआ ॥ २६३ ॥

अथानन्तशक्तियुक्तितां सम्वक्ति—

इत्याद्यनेकनिजशक्तिषु निर्भरोऽपि,
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः ।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं,
तद् द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्तु वस्तु ॥२६४॥

टीका—यो भावः पदार्थः, ज्ञानमात्रमयतां ज्ञानमात्रकल्परूपतां न जहाति न त्यजति । ननु क्रमाक्रमवृत्तानन्तधर्ममयस्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वमिति चेदुच्यते परस्परव्यतिरिक्तानन्तधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात् ज्ञानमात्रत्वं । कीदृक्षोऽपि ? इत्याद्यनेकनिजशक्तिषु निर्भरोऽपि गत्याद्याः भिन्नाभिन्नत्वाद्याः, ताश्च ता अनेकनिजशक्तयस्तासु सतीषु निर्भरोऽपि अतिशयं गतोऽपि ज्ञानमात्रमेव । इह जगति, तत् चित् चेतना वस्तु द्रव्यं, अस्ति विद्यते । कीदृक्षं ? द्रव्यपर्ययमयं द्रव्यपर्यायात्मकं, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं क्रमः कालकृतः अक्रमः युगपत्, क्रमश्चाक्रमश्च क्रमाक्रमौ, ताभ्यां विवर्तिनः वर्तनशीलाः विवर्ताः पर्यायाः, तैः चित्रं चित्रतां नीतं । यथा दीपः क्रमेण अक्रमेण तमोनाशपदार्थप्रकाशादिपर्यायात्मकः तैलशोषणवृत्तिमुखदाहको ज्वालोत्पादनादिपर्यायात्मकस्तथात्मादिः ॥ २६४ ॥

अर्थः—इत्यादि अनेक निज शक्तियों से भली भाँति परिपूर्ण होने पर भी जो भाव ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ता, ऐसा वह पूर्वोक्तप्रकार से क्रमरूप और अक्रम-

रूप से वर्तमान विवर्त से (रूपान्तर से, परिणमनसे) अनेक प्रकार का द्रव्यपर्याय-मय चैतन्य (आत्मा) इस लोक में वस्तु है ॥ २६४ ॥

अथ स्याद्वादतः शुद्धिं दीव्यति—

नैकान्तसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः ।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो
ज्ञानी भवन्ति जिननीतिमलङ्घयन्तः ॥२६५॥

टीका—सन्तः सत्पुरुषाः, ज्ञानीभवन्ति संसारवर्ति अज्ञानं ज्ञानं भवन्तीति ज्ञानीभवन्ति, किं कृत्वा ? इति पूर्वोक्तप्रकारेण, स्याद्वादशुद्धिं अनेकान्तशुद्धिं, अधिकां विचारतः प्रकर्षप्राप्तां, अधिगम्य ज्ञात्वा, निश्चित्य वा । कीदृक्षास्ते ? स्वयमेव स्वात्मना कृत्वा, वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिं वस्तुनः तत्त्वं स्वरूपं अनेकान्तात्मकं तस्य व्यवस्थितिः व्यवस्था तां, प्रविलोकयन्तः ईक्षमाणाः । कया ? नैकान्तसङ्गतदृशा न एकान्तो नैकान्तः स्याद्वादः, क्वचिदस्य नाकादिमध्यपाठान्न नकारलोपः तत्र सङ्गता सम्यक् प्राप्ता दृक् दृष्टिः तया । पुनः कीदृक्षाः ? जिननीतिं सर्वज्ञप्रकाशितमार्गं, अलङ्घयन्तः अनुलङ्घयन्तः ॥ २६५ ॥

अर्थः—ऐसी (अनेकान्तात्मक) वस्तुतत्त्व की व्यवस्थिति को अनेकान्त-संगत दृष्टि द्वारा स्वयमेव देखते हुए स्याद्वाद की अत्यन्तशुद्धि को जानकर जिन-नीति का (जिनेश्वर देव के मार्ग का) उल्लंघन न करते हुए सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप होते हैं ॥ २६५ ॥

अथास्योपायोपेयभावः सम्भाव्यते—

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां,
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा,
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥२६६॥

टीका—ये साधवः कथमपि केनापि प्रकारेण, महता कष्टेन वा ज्ञानमात्रनिजभावमयीं ज्ञानमात्रः ज्ञानेन साकल्यः, स चासौ निजभावश्च स्वात्मपरिणामः, तेन निर्वृत्तां । भूमिं शुद्धोपयोग-भूमिं, श्रयन्ति भजन्ते । कीदृशीं तां ? अकम्पां निश्चलां, कीदृशाः सन्तः ? अपनीतमोहाः अपनीतः

निराकृतः, मोहः रागद्वेषाज्ञानादिर्यैः ते योगिनः, साधकत्वं रत्नत्रयादिलक्षणमुपायत्वं । अधिगम्य आश्रित्य, सिद्धाः, उपेयाः साध्याः, भवन्ति जायन्ते, आत्मनो ज्ञानमात्रत्वे उपायोपेयभावो विद्यत एव तस्यैकस्यापि स्वयंसाधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात् । मूढाः अज्ञानिनस्तु अमूं अन्तर्नीतानेकान्तज्ञान-मात्रैकभावरूपां भूमिं, अनुपलभ्य अप्राप्य परिभ्रमन्ति संसारापारभूमिमण्डलीमाक्रमन्ते ।। २६६ ।।

अर्थः—जो पुरुष किसी भी प्रकारसे जिनका मोह दूर होगया है ऐसा होता हुआ ज्ञान मात्र निज भावमय अकम्प भूमिका का आश्रय लेते हैं वे साधकत्व को प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं परन्तु जो मूढ़ (मोही, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि) हैं वे इस भूमिकाको प्राप्त न करके संसार में परिभ्रमण करते हैं ।। २६६ ।।

अथ शुद्धोपयोगभूमिप्राप्त्युपायं लक्षयति—

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां,
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री,
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ।२६७।

टीका—स एव एकः अद्वितीयो मुनिः इमां प्रत्यक्षां, भूमिं शुद्धोपयोगस्थानं श्रयति भजति, कीदृक्षः ? ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः ज्ञानं स्वात्मज्ञानं, क्रियां स्वात्माचरणलक्षणां चारित्रं त्रयोदशप्रकारलक्षणं वा नयः नयति प्राप्नोति स्वात्मस्वरूपमिति नयः प्रमाणैकदेशो नैगमादि दर्शनं वा ज्ञानं च क्रिया च नयश्च तेषां परस्परं अन्योऽन्यं, तीव्रमैत्री अत्यन्तसखित्वम् तया, अपात्रं पात्रं कृत इति पात्रीकृतः । स कः ? यः योगी भावयति ध्यानविषयीकरोति । कथं ? अहरहः दिने दिने, तत्सामर्थ्यात्प्रतिक्षणं, कं ? स्वं आत्मानं, क्व ? इह आत्मनि, स्वस्वरूपे काभ्यां ? स्याद्वाद-कौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां स्याद्वादः श्रुतज्ञानं । तथा चोक्तं देवागमे—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च वस्तु ह्यन्यतमं भवेत् ।। १ ।।

तत्र कौशलं कौशल्यं निपुणता, सुनिश्चलः सुष्ठु अक्षोभ्यः, स चासौ संयमः चारित्रं च द्वन्द्वः ताभ्यां कीदृक्षः सः ? उपयुक्तः शुद्धोपयोगे सावधानः ।। २६७ ।।

अर्थः—जो पुरुष स्याद्वाद में प्रवीणता तथा (रागादि अशुद्ध परिणति के त्यागरूप) सुनिश्चल संयम के द्वारा अपने में उपयुक्त रहता हुआ (अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में उपयोग को लगाता हुआ) प्रतिदिन अपने को भाता है (निरन्तर अपने

आत्मा की भावना करता है) वही एक (पुरुष) ज्ञाननय और क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री का पात्ररूप होता हुआ इस (ज्ञानमात्र निजभावमय) भूमिका का आश्रय करता है ॥ २६७ ॥

अथात्मोदयमवगमयति—

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः,
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूपः,
तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥२६८॥

टीका—तस्यैव मुनेः शुद्धोपयोगभूमिगतस्य न पुनरन्यस्य । अयं आत्मा चिद्रूपः उदयति उदयं प्राप्नोति साक्षाद्भवतीत्यर्थः । कीदृक्षः सः ? चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः चित्पिण्डः ज्ञानपिण्डः तस्य चण्डिमा प्रौढत्वं, तेन विलसतीत्येवं शीलो विकासः स एव हासः भर्भरं यस्य सः । अन्योप्युदये विकासहासो भवतीत्युक्तिलेशः । पुनः कीदृशः ? शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः शुद्धः कर्ममलकलङ्करहितः स चासौ प्रकाशश्च ज्ञानोद्योतः तस्य भरः समूहः स एव निर्भरप्रभातः सातिशय-प्रातःकालो यस्य सः । अन्यस्याप्युदये प्रातःकालो भवति । पुनः कीदृशः ? आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूपः आनन्दे अकर्मशर्मणि सुस्थितं सुप्रतिष्ठं सदा नित्यं, अस्खलितैकरूपः स्खलितरहितं एकं अद्वितीयं स्वरूपं यस्य सः, अन्यस्याप्युदयस्यास्खलितस्वरूपं भवतीत्युक्तिलेशः ॥२६८॥

अर्थः—(पूर्वोक्त प्रकार से जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेता है) उसीके, चैतन्यपिण्ड के निरर्गल विलसित विकासरूप जिसका खिलना है (अर्थात् चैतन्यपुंज का अत्यन्त विकास होना ही जिसका खिलना है); शुद्ध प्रकाश की अतिशयता के कारण जो सुप्रभात के समान है; आनन्द में सुस्थित ऐसा जिसका सदा अस्खलित एक रूप है और जिसकी ज्योति अचल है ऐसा यह आत्मा उदयको प्राप्त होता है ॥ (पूर्वोक्त भूमिका का आश्रय लेने से ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य वाले आत्मा का उदय होता है ।) ॥ २६८ ॥

अथ स्वस्वभावविस्फुरणं काम्यति—

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे,
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।

किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावैः,
नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥२६६॥

टीकाः—इति हेतोः, अयं प्रसिद्धः, स्वभावः आत्मस्वरूपं, स्फुरतु प्रकाशं यातु । परं केवलं, कीदृशः सः ? नित्योदयः नित्यं सदा उदयो यस्य सः । क्व ? मयि शुद्धभावे आत्मनि, उदिते उदयं प्राप्ते सति, अन्यभावैः शुभाशुभोपयोगैः किं ? न किमपि स्यात् । कीदृशैस्तैः ? बन्धमोक्षपथपातिभिः कर्मणां बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ तयोः पन्था मार्गः तत्र पातिभिः पतनशीलैः अयं बन्धहेतुः, अयं मोक्षहेतुः, इत्यादीनां भावानां प्रयोजनाभावात् । कीदृक्षे तस्मिन् ? स्याद्वाददीपितलसन्महसि स्याद्वादः श्रुतं भावश्रुतं तेन दीपितं लसन्महः उल्लसत्तेजः यस्य तस्मिन् । प्रकाशे स्वपरप्रकाशात्मके । पुनः कीदृक्षे ? शुद्धस्वभावमहिमनि शुद्धस्वभावे महिमा माहात्म्यं यस्य तस्मिन् ॥२६६॥

अर्थः—स्याद्वाद द्वारा प्रदीप्त किया गया जगमगाहट करता जिसका तेज है और जिसमें शुद्ध स्वभावरूप महिमा है ऐसा यह प्रकाश (ज्ञानप्रकाश) जहाँ मुझमें उदयको प्राप्त हुआ है, वहाँ बन्धमोक्ष के मार्ग में पड़नेवाले अन्यभावों से मुझे क्या प्रयोजन है ? मुझे तो मेरा नित्य उदित रहने वाला केवल यह अनन्त चतुष्टयरूप स्वभाव ही स्फुरायमान हो ॥ २६६ ॥

अथ चिन्महो रोचते—

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा,
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥२७०॥

टीकाः—अयमात्मा चिद्रूपः, नयेक्षणखण्ड्यमानः नयानां द्रव्यपर्यायाणां ईक्षणं अवलोकनं, तेन खण्ड्यमानः भिद्यमानः, प्रणश्यति द्रव्यक्षेत्रकालभावेन खण्ड्यते इत्यर्थः । कीदृक्षः ? चित्रात्मशक्तिसमुदायमयः चित्राः नानाप्रकाराः ताश्च ता आत्मशक्तयश्च जीवशक्तिचितिशक्तिदृशिशक्तिज्ञानशक्तिसुखशक्तिवीर्यशक्तिप्रभुत्वशक्तिविभुत्वशक्तिसर्वदर्शित्वशक्तिसर्वज्ञत्वशक्तिसत्त्वशक्तिप्रकाशशक्तिसंकुचितविकाशत्वशक्तिकार्यकारणशक्तिपरिणाम्यपरिणामित्वशक्त्यागोपादानशून्यत्वागुरुलघुत्वोत्पादव्ययध्रुवत्वपरिणाममूर्तत्वाकर्तृत्वाभोक्तृत्वनिष्क्रियत्वनियतप्रदेशत्वस्वधर्मव्यापकत्वसाधारणासाधारणधर्मत्वानन्तधर्मत्वविरुद्धधर्मत्वतत्त्वातत्त्वैकत्वानेकत्वभावाभावाभावाभावाभावभावाभावाभा-

वाभावाभावक्रियाकर्मकर्तृकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणत्वसम्बन्धादयः शक्तयः, तासां समुदायेन निर्वृत्तः। अस्मात्कारणात्, अहं चित् चेतना महः धाम, अस्मि भवामि। कीदृक्षं महः ? अखण्डं न खण्ड्यते केनापीत्यखण्डं, अनिराकृतखण्डं अनिराकृता न दूरीकृता व्यवहारनयापेक्षया खण्डाः पर्याया यस्य तत्। एकं अद्वितीयं कर्मव्यतिरिक्तत्वात् एकान्तशान्तं एकान्तेन अद्वितीयेन स्वभावेन शान्तं समारूढं। पुनः कीदृशं ? अचलं स्वस्वभावत्वादविनश्वरत्वान्निश्चलं ॥२७०॥

अर्थः—अनेक प्रकार की निज शक्तियों का समुदायमय यह आत्मा नयों की दृष्टि से खण्ड खण्डरूप किए जाने पर तत्काल नाश को प्राप्त होता है इसलिए मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि जिसमें से खण्डों को निराकृत (बहिष्कृत) नहीं किया गया है तथापि जो अखण्ड, एक है, एकान्त शान्त है, (अर्थात् जिसमें कर्मोदय का लेशमात्र भी नहीं है ऐसा अत्यन्त शान्त भावमय है) और अचल है (अर्थात् कर्मोदय से चलायमान च्युत नहीं होता) ऐसा चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ ॥२७०॥

अथ ज्ञानमात्रत्वं मन्यते आत्मनः—

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि,
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ॥
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥२७१॥

टीकाः—योऽयं प्रसिद्धः, ज्ञानमात्रः ज्ञानस्य मात्रं कात्स्न्यं यत्र स भावः पदार्थः स एवाहं अस्मि भवामि। यः ज्ञेयज्ञानमात्रः ज्ञेयानां पदार्थानां, ज्ञानमात्रः तदुत्पत्त्यादिना पदार्थाकारमात्रः सोऽहं नैव ज्ञेयः ज्ञातव्यः, तर्हि कीदृक्षोऽहं ? ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञेयश्च ज्ञानं च तत्परिच्छेदकं ज्ञेयज्ञाने तयोः कल्लोलाः वीचयः, अर्थाद्विवर्तास्तत्र वल्गत् वल्गनं कुर्वत् तद्ग्रहणं कुर्वदित्यर्थः तच्च तज्ज्ञानं च तदेव ज्ञेयं परिच्छेद्यं, तस्य यो ज्ञातृमत् ज्ञायकं स्वपरपरिच्छेदक तच्च तद्वस्तु च तदेव मात्र प्रमाणं यस्य सः, ज्ञेयः ज्ञातव्यः ॥२७१॥

अर्थः—जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए परन्तु ज्ञेयों के आकार से होने वाले ज्ञानकी कल्लोलों के रूपमें परिणमित होता हुआ वह ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना चाहिए (अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय, स्वयं ही ज्ञाता इसप्रकार ज्ञान ज्ञेय ज्ञातारूप तीनों भावयुक्त वस्तुमात्र जानना चाहिए) ॥२७१॥

अथात्मनः प्रतिभासमेदं सम्पूरयति—

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं,
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम ।
तथापि न विमोहत्यमलमेधसां तन्मनः,
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥२७२॥

टीका:—ममात्मनः तत्त्वज्ञानस्वरूपं, क्वचित् कस्मिन् क्षणे, बहिःपदार्थग्रहणसमये, मेचकं चित्रस्वरूप पक्षान्तरे रागद्वेषकलुषीकृतं वा । लसति विलासं करोति "पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्य-मितिवचनात्" तद्वत् ज्ञानमपि चित्राकारं मेचकं भण्यते । पुनः भूयः क्वचित् सहजशुद्धटङ्कोत्कीर्ण-स्वरसस्वभावालम्बनसमये अमेचकं बहिश्चित्राकाररहितं रागद्वेषमोहमलमुक्तं वा विलसति । कीदृक्षं ? सहजं यदमेचकस्वरूपं तत्स्वरसजं, एव-निश्चयेन, परेषामन्योपाधिसापेक्षत्वात् । पुनः क्वचित् स्वपरग्रहणोन्मुखसमये, मेचकामेचकं, परस्वरूपग्रहणेन मेचकं, स्वस्वरूपग्रहणेन अमेचकं प्रतिभासते । तथापि मेचकामेचकस्वरूपप्रतिभासेऽपि, तत् आत्मतत्त्वं कर्तृ, अमलमेधसां निर्मलज्ञानिनां, मनः चित्तं, कर्मतापन्नं न विमोहयति मोहं न प्रापयति, सहेतुविशेषणमाह परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं परस्परं अन्योऽन्यं सुसंहता सम्यग्मिलिता सा चासौ प्रकटशक्तिश्च स्फुटसामर्थ्यं, तेषां चक्रं समूहो यत्र तत् । पुनः स्फुरत् देदीप्यमानं ॥२७२॥

अर्थः—(ज्ञानी कहता है–) मेरे तत्त्वका ऐसा स्वभाव ही है कि कभी तो वह (आत्मतत्त्व) मेचक (अनेकाकार, अशुद्ध) दिखाई देता है, कभी मेचक-अमेचक दोनों रूप दिखाई देता है और कभी अमेचक (एकाकार शुद्ध) दिखाई देता है तथापि परस्पर सुसंहत (सुमिलित, सुग्रथित) प्रकट शक्तियोंके समूहरूपसे स्फुरायमान वह आत्मतत्त्व निर्मल बुद्धिवालोंके मनको विमोहित नहीं करता ॥२७२॥

अथैकत्वानेकत्वादिप्रतिभासनं बाभायते —

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता–
मितः क्षणविभङ्गुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात् ।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै–
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवं ॥२७३॥

टीका:—अहो महाश्चर्यं, तदिदं, आत्मनः चिद्रूपस्य सहजं स्वाभाविकं, वैभवं माहात्म्यं, अद्भुतं आश्चर्यकारि । तत् किं ? यदिदं इतः अस्मात् शुद्धपर्यायार्पणात्, अनेकतां ज्ञानदर्शनस्ववीर्या-

द्यनेकस्वरूपं गतं प्राप्तं । अपि पुनः, यत् इतः अस्मात् संग्रहनयात्, सदापि सर्वदापि, एकतां आत्मद्रव्येणैकत्वं गतं प्राप्तं । ननु यदनेकं तदेकं कथं स्यात् अन्यथा घटपटादीनामनेकत्वेऽप्येकत्वं स्यादिति चेन्न, नयार्पणादेकत्वानेकत्वघटनात् सदात्मना घटपटादीनामनेकत्वेऽपि एकत्वघटनाच्च अन्यथाऽभावप्रसङ्गात् यत् इतः ऋजुसूत्रनयात् क्षणविभंगुरं प्रतिक्षणं विनश्वरं । पुनः यत्, इतः द्रव्यार्थिकनयात्, सदैव नित्यमेव, ध्रुवं नित्यं, सदैवोदयात् उत्पादाद्यभावे सदा प्रकाशमानत्वात् । ननु यत्क्षणिकं तत्कथं ध्रुवं शीतोष्णवत्तयोरन्योन्यं विरोधात् इति चेन्न नयविवक्षासद्भावात् मृद्द्रव्यवत्, यथा मृद्द्रव्यं मृत्पिण्डाकारेण विनष्टं तद्घटाकारेणोत्पद्यते मृद्द्रव्यस्य ध्रुवत्वं च तथात्मद्रव्यस्यापि । यत् पुनः इतः द्रव्यार्पणात् परं केवलं, अविस्तृतं विस्ताराभावविशिष्टं, इतः पर्यायविवक्षातः, निजैः आत्मीयैः प्रदेशैः असङ्ख्यसङ्ख्यावच्छिन्नैर्धृतं भृतं, विस्तारिद्रव्यमित्यर्थः ॥२७३॥

अर्थः—अहो ! आत्माका तो यह सहज अद्भुत वैभव है कि—एक ओरसे देखनेपर वह अनेकता को प्राप्त है और एक ओरसे देखनेपर सदा एकताको धारण करता है, एक ओरसे देखनेपर क्षणभंगुर है और एक ओरसे देखनेपर सदा उसका उदय होनेसे ध्रुव है, एक ओरसे देखनेपर परम विस्तृत है और एक ओरसे देखनेपर अपने प्रदेशों से ही धारण कर रखा हुआ है ॥२७३॥

अथात्मनः स्वभावो विजयते—

कषायकलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो,
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः,
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुताद्भुतः ॥२७४॥

टीकाः—विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते, कः ? स्वभावमहिमा ज्ञानस्वरूपमाहात्म्यं, कस्य ? आत्मनः चिद्रूपस्य, अद्भुतः आश्चर्यैर्द्रेककारी, कुतः ? अद्भुतात् आश्चर्यकारिजगत्पदार्थात्, तत्कथमित्याह एकतः एकस्मिन्नंशे, कषायकलिः रागद्वेषमोहकलहः स्खलति । एकतः शुद्धनिश्चयनयावलम्बनांशे, शान्तिः परमसाम्यं, अस्ति विद्यते । एकतः व्यवहारनयावलम्बनांशे भवोपहतिः भवस्य द्रव्यादिपञ्चप्रकारसंसारस्य उपहतिः प्राप्तिरस्ति, एकतः शुद्धनयांशे, मुक्तिरपि कर्ममलमोचनमपि स्पृशति आश्रयति, आत्मानं । एकतः एकस्मिन्नंशे जगत्त्रयं गच्छन्तीति जगन्ति गम्लृ गतौ, इत्यस्यधातोः 'शुतिगमोर्ड' इति' क्विप्प्रत्ययेनेति सिद्धं, जगतां त्रयं अधोमध्योर्ध्वभेदेन त्रिकं । स्फुरति चकास्ति, एकतः एकांशे, चित् ज्ञानं, चकास्ति द्योतते ॥२७४॥

अर्थः—एक ओरसे देखने पर कषायोंका क्लेश दिखाई देता है और एक ओरसे देखने पर शान्ति (कषायोंके अभावरूप शान्तभाव) है; एक ओरसे देखने पर भवकी (सांसारिक) पीड़ा दिखाई देती है और एक ओरसे देखनेपर (संसारकी अभावरूप) मुक्ति भी स्पर्श करती है; एक ओरसे देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं और एक ओरसे देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है। (ऐसी) आत्माकी अद्-भुत से भी अद्भुत स्वभावमहिमा जयवन्त वर्तती है (अर्थात् किसी से बाधित नहीं होती) ॥२७४॥

अथैकत्वं तस्य जेगीयते—

जयति सहजतेजःपुञ्जमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोप्येक एव स्वरूपः ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः,
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥२७५॥

टीकाः—एष प्रत्यक्षः चिच्चमत्कारः चैतन्याश्चर्योद्रेकः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। कीदृक्षः? सहजतेजःपुञ्जमज्जत् सहजं स्वाभाविकं तच्च तत्तेजश्च ज्ञानज्योतिः तस्य पुञ्जः द्विकवारानन्तशक्ति-समूहः तत्र मज्जन्ति मज्जनं कुर्वन्ती, प्रतिभासमानेत्यर्थः सा चासौ त्रिलोकी च त्रयाणां लोकानां समा-हारस्त्रिलोकी तया स्खलन्तः चलन्तः, अखिलविकल्पाः तद्विषयरूपेण समस्तविकल्पाः यत्र सः। ईदृक्षोऽपि एक एव अद्वितीय एव स्वरूपः स्वस्य आत्मनः रूपं स्वरूपं यत्र सः। पुनः स्वरसविसरपूर्णा-च्छिन्नतत्त्वोपलम्भः स्वरसः स्वभावः तस्य विसरः समूहः, तेन पूर्णं सम्पूर्णं, तच्च तदच्छिन्नतत्त्वं चाखण्डात्मतत्त्वं तस्योपलम्भः प्राप्तिर्यत्र सः। पुनः प्रसभनियमितार्चिः प्रसभेन बलात्कारेण, नियमितं लोकालोकप्रकाशकत्वेन निश्चयीकृतं, अपरप्रकाश्यस्याभावादर्चिः तेजः यस्य सः ॥२७५॥

अर्थः—सहज (स्वभावरूप) तेजःपुञ्ज में त्रिलोकके पदार्थ मग्न हो जाते हैं इसलिए जिसमें अनेक भेद होते हुए दिखाई देते हैं तथापि जिसका एक ही स्वरूप है (केवलज्ञानमें सर्वपदार्थ झलकते हैं इसलिए जो अनेक ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है तथापि जो चैतन्यरूप ज्ञानाकारकी दृष्टिमें एकस्वरूप ही है); जिसमें निजरसके विस्तार-से पूर्ण अछिन्न तत्त्वोपलब्धि है (अर्थात् प्रतिपक्षी कर्मका अभाव हो जानेसे जिसमें स्व-रूपानुभव का अभाव नहीं होता और जिसकी ज्योति अत्यन्त नियमित है (अर्थात् जो अनन्तवीर्यसे निष्कम्प रहता है) ऐसा यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) चैतन्यचमत्कार

जयवन्त वर्तता है। (किसीसे बाधित नहीं किया जा सकता ऐसा सर्वोत्कृष्टरूपसे विद्यमान है।) ॥२७५॥

अथ कर्तृतागर्भितमात्मज्योतिर्जाज्वल्यते—

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहं ।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्तात्
ज्वलतु विमलपूर्णं निस्सपत्नस्वभावं ॥२७६॥

टीकाः—समन्तात् सामस्त्येन ज्वलतु द्योततां. किं ? एतत् प्रसिद्धं, अमृतचन्द्रज्योतिः न म्रियते यत्र इत्यमृतं मोक्षः, तदेव चन्द्रः चन्द्रयति आह्लादयति इति चन्द्रः, तस्य ज्योतिः ज्ञानतेजः इत्यर्थः अथवा अमृतचन्द्रसूरेर्वाग्ज्योतिः। कीदृक्षं मोक्षज्ञानं ? आत्मना ज्ञानेन कृत्वा आत्मनि स्वस्वरूपे, आत्मानं स्वस्वरूपं धारयत्, दधत्। कीदृक्षे ? अविचलितचिदात्मनि अविचलितः शाश्वतः स चासौ चित् चेतना च स एवात्मा स्वरूपं यस्य तस्मिन्। तद्वाग्ज्योतिरपि स्वस्वरूपे स्वरूपं धारयितुं क्षमं। पुनः कीदृक्षं ? आत्मनि अनवरतनिमग्नं निरन्तरं तदन्तः पतितं। पुनः कीदृक्षं ? ध्वस्तमोहं ध्वस्तः विनष्टः मोहो यत्र यस्मात्प्राणिनां वा तत्। उदितं उदयं प्राप्तं वाग्ज्योतिरपि भव्यप्रतिबोधनायोदयं गतं। पुनः कीदृक्षं ? विमलपूर्णं विगतो मलोऽज्ञानादिरसत्यादिर्वा यस्मात्तत् पूर्णं ज्ञानादिगुणसम्पूर्णं विविधार्थसम्पूर्णं च विमलं च तत् पूर्णं च तत्। पुनः कीदृक्षं ? निस्सपत्नस्वभावं निर्गताः सपत्नाः कर्मवैरिणः एकान्तमतवादवैरिणश्च यस्मात्तत् तदेव स्वभावो यस्य तत् ॥२७६॥

अर्थः—जो अचल चेतनास्वरूप आत्मामें आत्माको अपने आप ही निरन्तर निमग्न रखती है (अर्थात् प्राप्त हुए स्वभावको नहीं छोड़ती); जिसने मोहका (अज्ञानान्धकारका) नाश किया है। जिसका स्वभाव निःसपत्न (प्रतिपक्षी कर्मोंसे रहित) है, जो निर्मल और पूर्ण है, ऐसी यह उदयको प्राप्त अमृतचन्द्र ज्योति (अमृतमय चन्द्रमाके समान ज्योति, ज्ञान, आत्मा) सर्वतः जाज्वल्यमान रहो ॥२७६॥

अथात्मकर्मणोर्द्वैतेऽपि ज्ञानोद्योतं नरीनृत्यते—

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं,
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः ।
भुञ्जाना च यतोनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं,
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल ॥२७७॥

टीका:- तत् कर्म, विज्ञानघनौघमग्नं ज्ञाननिरन्तरसमूहान्तः पतितं सत्। अधुना इदानीं, ग्रन्थोक्तस्वार्थानुभावे जाते सति। किञ्चित् किमपि कर्म। किलेति निश्चितं, न किञ्चित् न किमप्यर्थक्रियाकारि अकिञ्चित्करत्वात्। तत् किं? यस्मात् कर्मणः, पुरा पूर्वं द्वैतं आत्मकर्मेति द्वैविध्यं जातं। पुनः अत्र जगति यतः यस्मात्कर्मणः स्वपरयोः आत्मकर्मणोः सिद्धस्वात्मनोर्वा, अन्तरं भेदः भूतः समुत्पन्नः। क्व सति? रागद्वेषपरिग्रहे रागद्वेषयोः परिग्रहे अङ्गीकारे जाते सति। पुनः यतः कर्मणः सकाशात् क्रियाकारकैः आत्मनः क्रियाः कर्मफलानुभवनरूपा गमनागमनरूपाश्च कारकाणि आत्मनः कर्तृत्वकर्मत्वकरणत्वादीनि तैः जातं उत्पन्नं कर्मान्तरेणात्मनः कर्तृकर्मक्रियारूपेणाभवनात्। च पुनः, यतः यस्मात्कर्मणः, अनुभूतिः कर्मफलानुभवनं खिन्ना खेदं गता। कीदृक्षा सा? क्रियायाः गमनागमनरूपाया जुहोति पचतीत्यादिरूपायाश्च, अखिलं समस्तं फलं भुञ्जाना, मया गतं मयाऽऽगतं मया हुतं मया पक्वं मयेदं कृतमित्यादिरूपफलं भुञ्जाना ॥२७७॥

अर्थ:—जिससे (जिस परसंयोगरूप बन्धपर्यायजनित अज्ञानसे) प्रथम अपना और परका द्वैत हुआ (अर्थात् स्वपरके मिश्रितपनारूप भाव हुआ); द्वैतभाव होनेसे जिससे स्वरूपमें अन्तर पड़ गया (अर्थात् बन्धपर्याय ही निजरूप ज्ञात हुई), स्वरूपमें अन्तर पड़ने पर जिससे रागद्वेष का ग्रहण हुआ, रागद्वेषका ग्रहण होने पर जिससे क्रियाके कारक उत्पन्न हुए (क्रिया और कर्त्ता-कर्मादि कारकों का भेद पड़ गया), कारक उत्पन्न होने पर जिससे अनुभूति क्रियाके समस्त फलको भोगती हुई खिन्न होगई वह अज्ञान अब विज्ञानघन समूह में मग्न हुआ (ज्ञानरूपमें परिणमित हुआ) इसलिए अब वह सब वास्तवमें कुछ भी नहीं है ॥२७७॥

अथात्मगुप्तस्य स्वतत्त्वसंसूचकस्य समयसारकृतिकृतत्वमस्य कृतविशुद्धबुद्धचित्स्वरूपभूरेरमृतचन्द्रसूरेः कृतकृत्यत्वं कीर्त्यते—

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः,
व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति,
कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥२७८॥

टीका:—येन अमृतचन्द्रसूरिणा इत्याद्याहार्यं इयं व्याख्या व्याख्यानं कृता निर्मापिता। कस्य? समयस्य सं सम्यग् अयति गच्छति प्राप्नोति स्वगुणपर्यायानिति समयः पदार्थः तस्य। कैः?

शब्दैः अर्थप्रकाशकशब्दैः। कीदृशैस्तैः ? स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः स्वस्य शक्तिः अर्थप्रकाशनसामर्थ्यं तया सं सम्यक् सूचितं प्रकाशितं, वस्तूनां पदार्थानां तत्त्वं स्वरूपं यैस्तैः। तस्य अमृतचन्द्रसूरेः अमृतचन्द्राख्याचार्यस्य, किञ्चित् किमपि, कर्तव्यं करणीयं, एव निश्चयेन, नास्ति समस्तवस्तुकृत्येन पूर्णस्य। कीदृक्षस्य तस्य ? स्वरूपगुप्तस्य स्वस्य शुद्धचिद्रूपस्य रूपं स्वरूपं तत्र गुप्तस्य एकतां प्राप्तस्य ॥२७८॥

अर्थः—जिन्होंने अपनी शक्तिसे वस्तु तत्त्व (यथार्थस्वरूप) को भली भाँति कहा है, ऐसे शब्दोंने इस समय की व्याख्या (आत्मवस्तुका व्याख्यान अथवा समयप्राभृत शास्त्र को टीका) की है; स्वरूपगुप्त (अमूर्तिक ज्ञानमात्र स्वरूप गुप्त) अमृतचन्द्रसूरिका (इसमें) कुछ भी कर्त्तव्य (कार्य) नहीं है ॥२७८॥

इति श्रीसमयसारस्थपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां नवमोऽङ्कः ॥९॥

*

अथ संस्कृतटीकाकारस्य प्रशस्तिः ।

जयतु जितविपक्षः पालिताशेषशिष्यो,
विदितनिजस्वतत्त्वश्रोद्धृतानेकसत्त्वः ।
अमृतविधुयतीशः कुन्दकुन्दो गणेशः,
श्रुतसुजिनविवादः स्याद्विवादाधिवादः ॥१॥

सम्यक्ससारवल्लीवलयविदलने मत्तमातङ्गमानी,
पापातापेभकुम्भोद्गमनकराकुण्ठकण्ठीरवो हि ।
विद्विद्याविनोदाकलितमतिरहो मोहतापस्य हर्ता,
चिद्रूपोद्भासिचेता विदितशुभयतिर्ज्ञानभूषस्तु भूयात् ॥२॥

विजयकीर्तियतिर्जगतां गुरुर्विधृतधर्मधुरोद्धृतिधारकः ।
जयतु शासनभासनभारतीमयमतिर्दलितापरवादिकः ॥३॥

शिष्यस्तस्य विशिष्टशास्त्रविशदः संसारभीताशयो,
भावाभावविवेकवारिधितरस्याद्वादविद्यानिधिः ।
टीकां नाटकपद्यजां वरगुणाध्यात्मादिस्रोतस्विनीं,
श्रीमच्छ्रीशुभचन्द्र एष विधिवत्सञ्चर्करीति स्म वै ॥४॥

त्रिभुवनवरकीर्त्तेर्जातरूपात्तमूर्त्तेः,
शमदमयममूर्तेराग्रहान्नाटकस्य ।
विशदविभववृत्तो वृत्तिमाविश्चकार,
गतनयशुभचन्द्रोध्यानसिद्धयर्थमेव ॥५॥

विक्रमवरभूपालात्पञ्चत्रिंशते त्रिसप्तति व्यधिके ।
वर्षेप्याश्विनमासे शुक्ले पक्षेऽथ पञ्चमीदिवसे ॥६॥

रचितेयं वरटीका नाटकपद्यस्य पद्ययुक्तस्य ।
शुभचन्द्रेण सुजयताद्विद्यासवलं न पद्माङ्कात् ॥७॥

.....पातनिकाभिश्चभिन्नभिन्नाभिः ।
जीयादाचन्द्रार्कंस्वाध्यायात्मतरङ्गिणी टीका ॥८॥

इति कुमतद्रुममूलोन्मूलनमहानिर्झरणी श्रीमदपरमाध्यात्मतरङ्गिणीटीका समाप्ता ।

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

समयसारकलशेष्वागतछन्दानां विवरणं ।

छन्दनाम — श्लोक-संख्या

१. अनुष्टुप्—१, २, ७, १५, १६, १७, १८, १९, ३५, ४०, ४१, ५६, ६१, ६२, ६७, ६८, ९५, १०६, १०७, १०८, ११७, ११९, १२२, १३०, १३४, १३९, १७०, १७१, १७६, १७७, १८६, १९४, १९६, १९९, २००, २०७, २३८, २३९, २४५, २४६, २४७ २६२, २६३ ।

२. आर्या—२५, २६, ५१, ५२, ५३, ५४, ६६, २२६, २२७ २२८, २३० ।

३. इन्द्रवज्रा—९७, १७२ १८४ ।

४ उपजाति—१०, ३८, ३९, ६४, ६५, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, १०२, ११५, १२९, १४४, १७४, १७५, २२४, २२९, २३६, २७८ ।

५ उपेन्द्रवज्रा—६९ ।

६. द्रुतविलम्बित—१००, ११३, १४३ ।

७. नर्दटक—२११ ।

८. पृथ्वी—१४, १६४, १६६, १९०, २१२, २७२, २७३, २७४ ।

९.मन्दाक्रान्ता—४५, ४६, ६०, ९९, १०१, ११२, १२४, १३२, १३६, १३७, १३८, १६१, १६२, १७९, १९२, १९३, २१६, २१७, २१८ ।

१०. मालिनी—३, ४, ५, ८, ९, ११, २०, २१, २२, २३, २८, २९, ३१, ३४, ३६, ४७, ११८, १२७, १२८, १३१, १८७, २०६, २२०, २४४, २७५, २७६ ।

११. रथोद्धता—९१, ९६, १३५, २१०, २१३, २१४, २२१ ।

१२. वसन्ततिलका—१३, ३२, ४३, ४४, ५७, ५९, ६३, ९०, १२०, १२१, १४५, १६७, १९८, १९९, १९८, २०१, २०२, २३१, २३२, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७० ।

१३. वंशस्थ—२३४ ।

१४. वियोगिनी—२४२ ।

१५. शालिनी—३७, ११४, २१९, २७१ ।

१६. शार्दूलविक्रीड़ित—६, १२, २४, २७, ३३, ४२, ४८, ४९, ५५, ५८, ९३, ९४, ९८, १०९, ११०, १११, ११६, १२३, १२५, १२६, १३३, १४०, १४१, १४२, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६३, १६५, १७३, १७८, १८२, १८३, १८५, १९१, १९७, २०३, २०४, २०५, २०८, २०९, २१५, २२२, २२३, २३५, २४०, २४१, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २७७ ।

१७. शिखरिणी—१०४, १०५, १८०, १९५ ।

१८. स्वागता —९२, १०३, १४६, १४७, १४८, १४९, २४३ ।

१९. स्रग्धरा—५०, १८१, २३३ ।

*

श्रीमदाचार्यसोमदेवविरचितः

योगमार्गः

(ध्यानविधिः)

(हिन्दी अनुवादिका श्री १०५ आर्यिका सुपार्श्वमति माताजी)

मास्माऽधस्ताद्धरित्री दिशतु स परमाः सम्पदोऽस्यामबिभ्रत् ।
प्रोदाम्तेस्म यः पतत्स्म पद इति कुतो निर्भरं सर्वदा यः ॥
मागुर्गोत्र क्षितिध्राः क्षितिमिति मरुतः प्रक्षिपन् सूक्ष्मवीक्षान् ।
माभूद् व्योम्न्यप्रचारः पवनपथसदां वो यतोऽनूर्ध्वबाहुः ॥१॥

जो भगवान् इस पृथ्वी पर भार देकर चरण नहीं धरते हुए खड़े हैं इसलिए कि कहीं यह पृथ्वी नीचे पाताल तल में नहीं गिरे-न धस जाय; जो सूक्ष्मरीति से दिखने में आवे इस प्रकार धीरे धीरे श्वासोच्छ्वास छोड़ रहे हैं ताकि कहीं कुलाचल (पर्वत) नाश को प्राप्त न हो जांय; तथा जिन्होंने दोनों हाथ ऊपर न उठा कर नीचे लटका रखे हैं ताकि आकाश में गमन करनेवाले देव विद्याधरों का आवागमन न रुक जाय; ऐसे वे भगवान तुम्हारे लिए हमेशा उत्कृष्ट लक्ष्मी प्रदान करें ॥ १ ॥

पातालान्ता बभुवुः खलजनजनिता वाक्पथाः कर्णपूराः ।
क्रुध्यच्चेष्टाश्च साक्षात्त्वयि मतिविमनी भानुभासोऽर्चिताङ्गे ॥
आशावासो वसाने पवनपरवशैः पांशुभिः कुन्तलालि-
मुत्पाट्यामूलमेनोद्रुमगहनजटाजालवद्वीतमोहे ॥२॥

पवन के द्वारा उड़ाई गई धूल के द्वारा शरीर के अर्चित होने पर, पापरूपी वृक्ष की जटाओं के समान केशों को जड़ से उखाड़ कर, दिशारूपी वस्त्र को धारण करने पर तथा इसप्रकार आपके रागद्वेष रहित हो जाने पर दुष्ट पुरुषों के द्वारा कनपटी तक खींचकर चलाए गए दुर्वचन रूपी बाण बिना अपकार किए ही पाताल में समा गए अर्थात् दुष्टों के दुर्वचनों से आपका ध्यान भंग नहीं हुआ तथा दुष्ट पुरुषों ने क्रोध में आकर जो दुष्ट चेष्टाएँ कीं वे भी आपका ध्यान भंग न कर सकीं किन्तु इसके विपरीत जैसे संसार को सन्तप्त करने वाले सूर्य की किरणें कमलिनी को संतप्त न कर

प्रफुल्लित–विकसित करती हैं वैसे ही आपकी बुद्धि को दुष्ट चेष्टाओं ने मलिन न कर विकसित किया है ॥ २ ॥

योगमुद्रा अथवा ध्यान कौन धारण कर सकता है ?–

प्राणेशो धारणायां चतुरवयवजे सम्प्रयोगे धियोऽर्थे ।
प्रत्याहारेऽक्षवृत्तेः स्वविषयविसराद् युक्त्युदर्के वितर्के ॥
ध्याने तद्ध्येयलीने यमनियमपथावस्थिते क्षेत्रनाथे ।
माध्यस्थ्याब्धौ समाधौ समधिकधिषणो योगमुद्रामुपैति ॥३॥

जो श्वासोच्छ्वास का स्वामी है अर्थात् जिसने **प्राणायाम** का अच्छी तरह अभ्यास कर लिया है; **धारणा** में जिसकी बुद्धि अधिक निपुण है; चार अवयव से उत्पन्न अर्थ में जो अपनी बुद्धि को अच्छी तरह लगा सकता है; इन्द्रियों की प्रवृत्ति को अपने अपने विषयमें जाने से रोकने में जो समर्थ है; (प्रत्याहार) स्याद्वादसंयुक्त श्रुत के अध्ययन करने में, (वितर्क) ध्येय में लीन होने रूप **ध्यान** में, **यम नियम के** मार्ग में अवस्थित आत्मा में और मध्यस्थभाव रूप **समाधि** में जो अधिक बुद्धि का उपयोग लगाता है वही योगमुद्रा को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

योग के आठ अङ्ग होते हैं–प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार, वितर्क, संयम, नियम, समाधि और ध्यान ।

यः पात्रं नास्ति मैत्र्याः प्रशममुपगता यस्य नाशापिशाची ।
न स्थैर्यं यस्य चित्ते स्मरदहनशिखाः शान्तिभाजो न यस्य ॥
यः क्लेशानामसोढ़ा करणपरिणतिः स्वस्य वश्या कथं नो ।
त्वद्ध्यानं भो विधित्सुर्भवति स महतां नोपहासाय देही ? ॥४॥

हे भगवन् ! जो मैत्री भाव का पात्र नहीं है जिसके आशारूपी पिशाचिनी प्रशमता को प्राप्त नहीं हुई है, जिसके चित्त में स्थिरता नहीं है, जिसके कामरूपी अग्नि क्षमित नहीं हुई है, जो क्लेशों को सहन नहीं कर सकता, जिसके अपनी इन्द्रियों की परिणति वशीभूत नहीं है, ऐसा आपके ध्यान को धारण करने की इच्छा करनेवाला वह प्राणी सज्जनपुरुषों की हँसी का पात्र कैसे नहीं होता अपितु होता ही है ॥ ४ ॥

चर्चां देहे ददाने द्विषति भजति वा कर्दमैः कुङ्कुमैर्वा ।
नो खेदः सम्मदो वा पितृवनपटकैर्दिव्यचीनांशुकैर्वा ॥

येषां द्वेष्टर्यभीष्टे हसति नमति वा निन्दितैः संस्तुतैर्वा ।
सम्बन्धं ते धुताशा दधतु विदधतीष्टां धृतिं वोऽपि भूयः ॥५॥

जिनके, शरीर में कीचड़ का लेप करने वाले तथा श्मसान के वस्त्रों द्वारा सम्बन्ध करने वाले शत्रु में खेद नहीं है और कुङ्कुम का शरीर के लेप करनेवाले और दिव्य वस्त्रों के द्वारा सम्बन्ध करने वाले मित्रमें हर्ष नहीं है; जिनके निंद्य वचनों के द्वारा हँसी करने वाले शत्रुमें, स्तुति के वचनों द्वारा नमस्कार करने वाले मित्रमें हर्ष विषाद नहीं है और इष्ट सन्तोष को धारण करने वाले हैं, जिनकी आशा नष्ट हो चुकी है, ऐसे वे समता रसके स्वादी साधुवर्ग तुम्हारे लिए हितकारी सन्तोष प्रदान करें ॥५॥

भूयांसि त्वं महांसि क्षिप तपन ! परं प्लुष्यदाशानभांसि ।
ज्यायांसि त्वं पयांसि क्षर मिहिर ! खरं क्षुभ्यदुर्नीमनांसि ॥
सोर्जांसि त्वं रजांसि सृज पवन ! हिमं भूरिमूर्च्छत्तरांसि ।
श्रेयांसि स्वावभांसि त्यजति न कृतधीरेष नूनं रहांसि ॥६॥

हे सूर्य ! उत्कृष्टरूप से जलाई है दिशा और आकाश को जिसने ऐसे प्रचुर तेजको तू भले ही छोड़; हे बादल ! क्षुब्ध किया है जगतके मनको जिसने ऐसी तीक्ष्ण और प्रचुर जलराशि को तू भले ही छोड़; हे पवन ! उड़ाई है धूल जिसने तथा बार-बार मूर्च्छित किया है प्राणिगणोंके मनको जिसने ऐसी हिमको तू भले ही छोड़ तथापि यह शुद्धबुद्धि निश्चयसे मोक्षके कारणभूत अपने स्वभाव को प्रकाशित करने वाले अन्तस्तत्त्व के अभ्यास को अर्थात् आत्मस्वभाव के चिन्तन को योगिजन नहीं छोड़ते ।

पुत्रप्रीत्याहिबालं कलयति नकुली सिंहशावं करेणु-
र्वाहापत्यं लुलायी प्रमुदितहृदया व्याघ्रपोतं कुरंगी ॥
दूरारूढिप्रगाढाद्विगलदविकल ध्वान्तजालात् त्वदीया-
दित्थं ध्यानावधानादजनिषत मिथो जन्तवोऽमी वनेऽपि ॥७॥

हे भगवन् ! उत्कृष्ट परमपद पर आरूढ़, निकल गया है सम्पूर्ण अन्धकार का समूह जिससे अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान घन ऐसे आपके ध्यान के प्रभाव से वनमें जन्तु अर्थात् पशु भी परस्परके बैर भावको छोड़कर पुत्रवत् स्नेह करने लग जाते हैं—न्योली सर्प के शिशु को, हथिनी सिंह के शिशुको, भैंस घोड़ी के शिशु को तथा हरिणी व्याघ्र शिशु को प्रमुदित हृदय से पुत्र के समान मानने लगते हैं ॥७॥

आनन्दस्यन्दिबिन्दूद्गमनजटलिते लोचने निष्प्रकम्पे ।
यद्ध्याने नावसेयः कथमपि मरुतां गन्धवाहान्तराले ॥
रोमाञ्चोदञ्चवृद्धिर्भवति च सरणं कोप्यवाक् स प्रकाशो ।
ध्यानं धन्योऽयमुच्चैर्दधदपधुनतात् साध्वसं वः स योगी ॥८॥

जिस ध्यान में आनन्द को बहाने वाली अर्थात् परमात्मानुभवके सुख को बहाने वाली अश्रु बिन्दुओं के निकलने से नेत्र टिमकाररहित निष्प्रकम्प हैं; जिस ध्यानमें नासिकाके मध्यमें बहनेवाले श्वासोच्छवासों की गति किसी प्रकार नहीं जानी जाती है। अर्थात् श्वास बहुत मन्द मन्द चलते हैं और रोमांचों की उत्कृष्ट वृद्धि होती है तथा जिस ध्यान में वचनों के अगोचर अद्वितीय बोध प्राप्त हो रहा है, वह ज्ञान ही अद्वितीय शरण है ऐसे ध्यान को धारण करनेवाला यह पुण्यात्मा योगी साधु अतिशय रूप से तुम्हारे (चतुर्गतिके परिभ्रमण दुःखसे उत्पन्न) भय को दूर करे अर्थात् नष्ट करे ॥८॥

ये लक्ष्मीणां विनोदे स्वयमुदयपरेऽपि प्रसादे महेच्छाः ।
ध्यानर्द्धीनां प्रभावे त्रिदशमृगदृशां दिव्यभोगोपसेवे ॥
कल्पद्रूणां प्रचारे भुवि दिवि दिशि वा कामचारे विहारे ।
वीतेच्छाः धाम ते वस्तदसमविभवं योगिनो वर्द्धयन्तु ॥९॥

जो महापुरुष—स्वतः उदय होने वाली लक्ष्मी के (अर्थात् साम्राज्यपदके) विनोद अर्थात् उपभोग में, देवोंसे प्राप्त भोग में, ध्यान से प्राप्त हुई ऋद्धि के प्रभाव में, देवाङ्गनाओं के स्वर्गीय भोगों के सेवन में, कल्पवृक्षों के प्रचार अर्थात् प्रवृत्ति में और पृथ्वी पर, आकाशमें अथवा दिशामें अपनी इच्छानुसार विहार करने में—इच्छा रहित हैं ऐसे वे योगीश्वर तुम्हारे उस अद्वितीय ऐश्वर्यवाले तेजको वृद्धिगत करें ॥९॥

आत्मव्योमप्रकामभ्रमभिदुरतनुं यो मनोराजहंसं ।
योगोद्योगप्रयोगोन्मिषदमृतरसास्वादमन्दप्रचारं ॥
निःसंज्ञी कृत्य सर्वेन्द्रियविधिविगमादुद्वसे देहगेहे ।
सानाध्यं संविधत्ते प्रशमयतु स वो निर्ममः कर्मघर्मं ॥१०॥

आत्मारूपी आकाश में अतिवेग से भ्रमण करने से दुःखित है शरीर जिसका, ध्यान के उद्योग से उत्पन्न हुए अमृत रस के स्वाद से मन्द हो गया है प्रचार (फैलाव)

जिसका, ऐसे मनरूपी राजहंसको पाँचों इन्द्रियों के विषयों से निर्ममत्व कर अर्थात् हटा कर, शून्य शरीररूपी घर में जो प्रभुत्व को धारण करते हैं वह योगीश्वर ममत्वरहित तुम्हारे कर्मरूपी ताप को दूर करे ॥१०॥

ब्रह्मग्रन्थेरुदीर्णं तदनु च सुचिरं नाभिपद्मे ऽवतीर्णं ।
हृत्पङ्कजे प्रकीर्णं परिचितरसने तालुरन्ध्रे विशीर्णं ॥
चक्षुभ्रूं भालमूर्द्धान्तरपरिसरणोपास्तिनिस्तीर्णविघ्नम्,
यस्यासीत्स्वान्तमित्थं प्रथयतु पृथुतां प्रार्थितैर्वः स मान्यः ॥११॥

जिनयोगियोंका मन सम्पूर्ण बहिर्जाल से निकल गया, उसके बाद नाभिकमल में आया, उसके बाद बहुत काल तक हृदय कमल में विस्तरित हुआ फिर रसनासे अतिपरिचित मुखमें, फिर तालुमें विशीर्ण हुआ फिर नत्र, भौंह, ललाट, मस्तकादि पर निर्विघ्न परिवर्तित हुआ करता है, इस प्रकार का मन जिसके हो वे प्रार्थियों द्वारा पूज्य भगवान योगीश्वर तुम्हारे लिए उत्कृष्ट लक्ष्मी प्रदान करे ॥११॥

श्रद्धासिद्धौषधैः स्यात्पुरुषरसरतिर्ध्यानवैश्वानरे ऽस्मिन् ।
निःसंग्येध्मप्रवृद्धे समवगमदृढाधार सम्बन्धनेन ॥
सञ्जायेतार्थसिद्धिः कथमिति न परा देहिलोहे जनस्य,
पश्चाद् व्योमोपयोगान्पु समधिगते काञ्चनास्थां रसेन्द्रे ॥१२॥

सम्यग्ज्ञान रूपी मजबूत आधार के सम्बन्ध से निर्ग्रन्थता (समस्त अन्तरंग बहिरंग परिग्रह त्याग) रूपी ईंधन से जलाई गई इस ध्यान रूपी अग्नि में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) रूपी सिद्धौषधि के प्रभाव से आत्मरस–आत्मस्वरूपास्वादन–में प्रेम होने लगता है। इसके बाद आकाश के समान निर्मल उपयोग हो जाने के कारण रसेन्द्र अर्थात् आत्माके शीघ्र ही किसी अवर्णनीय दशा को प्राप्त हो जाने पर संसारी आत्मा (जन) के शरीररूपी लोहे में कैसे अर्थसिद्धि नहीं होगी अर्थात् अभीष्ट की सिद्धि अवश्य होगी ॥१२॥

वैराग्यापारवारेः प्रशमदमयोदीर्णमार्गत्रयायाः ।
सम्यग्ज्ञानोन्मदोर्मेर्मतिसुरसरितः सत्यतीर्थे स्थितानां ॥
जन्मोच्छेदो नराणां द्रवदखिलमलस्वान्तसन्तोषभाजां ।
ध्यानस्नानानुबन्धाद्भवति परां तीरिणीं याचितानां ॥१३॥

वैराग्यरूपी अपार जल है जिसमें, प्रशम, दम और दया रूपी तीन मार्ग-धारा हैं जिसमें, सम्यग्ज्ञानरूपी उत्कृष्ट लहर है जिसमें ऐसी बुद्धिरूपी गङ्गा के वास्तविक तीर्थ-तट पर स्थित-सम्पूर्ण दोष निकल गए हैं जिससे ऐसे मनसहित सन्तोष धारण करने वाले मनुष्यों के ध्यानरूपी जल में स्नान से संसार का उच्छेद होता है, अन्य जलको बहानेवाली गंगा गोदावरी आदि नदियों को चाहनेवाले पुरुषों के संसार का नाश नहीं होता ॥१३॥

लक्ष्यं त्रैलोक्यमर्थोऽस्य पुनरवयवः पर्ययस्तस्य कश्चित् ।
यच्चित्तस्याग्रनासानयननिलयने रूपकेऽणुस्ततो हृत् ।
स्वं ध्यानी तद्विसृज्य प्रविसरणवशाज्जन्मबीजं पिनष्टि
स्वस्मिंस्तत्सर्वसत्त्वोत्सवकरचरितश्चैक्यमासीद् दधातः ॥१४॥

मनके चिन्तन का लक्ष्य कभी तो तीन लोकके आकार का अथवा तीन लोक के पदार्थोंका ध्यान करना होता है; कभी तीन लोकमें रहने वाले एक द्रव्यका, कभी द्रव्य की किसी एक पर्याय का चिन्तन करना लक्ष्य होता है । नासिका के अग्रभाग पर नेत्रों की स्थिति रहती है वहाँ सूक्ष्म मन रहता है । इसके बाद जगह-जगह भ्रमण करने के कारण उस अवस्था का परित्याग कर ध्यानी अपनी आत्मा को ध्यान का लक्ष्य बनाता है, इस प्रकार जन्म-मरण के बीज अर्थात् कारणभूत आर्त रौद्र ध्यान का नाश कर देता है ऐसा समस्त प्राणियों को हर्ष देने वाला यह ध्यानी अपने में ही लीन हो जाता है ॥१४॥

एकं चिन्तानिरोधात्पुनरिदमुभयं ध्यानमान्तर्मुहूर्त्तम्,
तद्भूयोऽदश्चतुर्धा पुनरिदमपरे षोडशांशं ध्वनन्ति ।
तिर्यक्श्वभ्रद्यु मोक्षप्रदमवहिततोद्योगसाम्येऽपि धर्म्यं
धूमं ध्वान्तं स्वभावात्तदपि दशविधं वह्नि भानुक्रमेण ॥१५॥

चिन्ता का निरोध होने से अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण काल तक स्थिति बनाए रखने वाला ध्यान एक प्रकार है । यह ध्यान शुभाशुभ के भेद से दो प्रकार का है । फिर यह चार प्रकार (आर्त्त, रौद्र, धर्म्य, शुक्ल) का है, अनन्तर यह ध्यान सोलह भेद वाला है । कोई आचार्य धर्म्य ध्यान को दश प्रकार का कहते हैं । अविहत उद्योग तुल्य होते हुए भी धूँआ, अन्धकार, अग्नि और सूर्य के समान क्रमशः स्वभाव होने के कारण तिर्यञ्च नरक, स्वर्ग तथा मोक्ष को देने वाला यह ध्यान होता है ॥१५॥

एकत्र स्थैर्यसारा मतिरभिलषिते चञ्चला वस्तुतत्त्वे ।
ध्यातुं व्यावृत्य चित्तं विविधनयमनुप्रेक्षणं चिन्तनं यत् ॥
सम्प्रश्नो भावना वा श्रुतविदितपदालोचनं ख्यापना वा
ध्यानाधीना अमी तत् समभिदधुरघौघादनं ध्यानमीशाः ॥१६॥

ध्यान है अधीन जिनके ऐसे योगीश्वरों ने उस ध्यान को पापों के समूह का नाश करने वाला कहा है। (वह ध्यान कैसा है ?) कि चञ्चल बुद्धि का एक स्थान पर किसी अभीष्ट वस्तु तत्त्व में स्थिर हो जाना ध्यान करने के लिए मन को अन्य विषयों से हटा कर द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि अनेक नयों के अनुसार दृढ़ होकर सोचना, चिन्तन करना, अन्तर्जल्प करना, भावना भाना अथवा शास्त्रों में जो पंच परमेष्ठियों के वाचक पद शब्द कहे हैं उनका अच्छी तरह आलोचन–विचार करना (वा ख्यापना) अथवा उनका अर्थ समझ कर उनमें लीन हो जाना सो ध्यान है ॥१६॥

कालोऽस्यान्तर्मुहूर्तः परम इह परः पञ्चलघ्वक्षरः स्या–
च्चित्तानां दुर्धरत्वादतिचपलतया तत्परो नास्ति कालः ॥
तावन्मात्रेऽपि काले हुतभुगिव भवेद् ध्यानमुच्चैरघानां ।
ध्वंसायोर्वीधराणां ज्वलदचलतया वज्रसम्पातजन्मा ॥१७॥

इस जगत में ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त है और जघन्यकाल पाँच लघु अक्षर उच्चारण मात्र होता है। मन अति चञ्चल होने से, कठिनता से वश में होने के कारण (ध्यान का) काल इससे अधिक नहीं है। अन्तर्मुहूर्त्त काल में भी ध्यान अतिशय रूप से पापों की राशि का विनाश करने में समर्थ होता है जैसे वज्रप्रहार से उत्पन्न हुई अग्नि पर्वतों को नष्ट करने में (समर्थ) होती है ॥१७॥

विष्वक् संस्थानदेहे गतिषु चतसृषु प्राणिनि स्तः सहृत्के
सर्वस्मिन्नार्त्तरौद्रे विकलकरणके तत्र योगोपयोगः
उत्कृष्टं धर्म्यमुक्तं यतिषु सुरपशुश्वभ्रिषण्ढावलानां
मर्त्येष्वन्येषु तद्वै दशि निखिलविदश्चाप्यनुत्कृष्टमाहुः ॥१८॥

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान समस्त संस्थानों में और सब देहों में, चारों गतियों में, समस्त सैनी और विकलेन्द्रिय प्राणियों के होते हैं। वहाँ योग उपयोग है। उत्कृष्ट धर्मध्यान मुनिराजों के कहा है और जघन्य और मध्यम धर्मध्यान सम्यग्दर्शन सहित

होने पर देव, पशु, नारकी, नपुंसक और स्त्रियों के होता है तथा मनुष्यों में सम्यग्दृष्टि अव्रती और अणुव्रती श्रावक मनुष्यों के होता है। ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है ॥१८॥

आद्यं शुक्लं त्रिसंहत्युचिततनुविधवाद्यसंहत्युपेते ।
विज्ञेयं तत्त्रयं स्यादितरदपि नरे क्वापि कालाद्यपेक्षम् ॥
कोऽधीशो मातुमेतां परिणतिमितरां कर्तुमानन्त्यकल्प्ते–
स्तच्चद्वाद्यान्तरङ्गाश्रयविषयवशावेशभूयोऽवताराम् ॥१९॥

प्रथम शुक्लध्यान तीन संहनन से युक्त शरीरवालों में होता है और तीन शुक्लध्यान प्रथम संहनन वाले मनुष्य के जानना चाहिए। कालादि की अपेक्षा से कीलकादि संहनन वाले मनुष्य में भी प्रथम शुक्लध्यान होता है। विविध अन्तरंग बहिरंग परिग्रह के आश्रय से होने वाले इन्द्रिय विषयों के आवेश से जिसकी बार बार उत्पत्ति होती रहती है जीवके परिणामों की ऐसी परिणति अनन्त प्रकार की होती है इसलिए परिणामों की इस विचित्रता को भिन्न २ प्रकार से जानने और इनकी माप करने में कौन समर्थ है ! ॥१९॥

नाऽशास्तेऽप्राप्तमिष्टं सदपि न मनुते नैव शोचत्यतीतं ।
न द्वेषोऽनिष्टसङ्गे न च कलुषमतिर्नाप्यभावाभिलाषी ॥
मायाद्यैराङ्गशोभामदमदनकथालोकयात्रातिगश्च ।
प्रोन्मुञ्चेदार्त्तमेतत् पशुगतिफलदं यः स्तवायास्तु वः सः ॥२०॥

जो अप्राप्त मनोज्ञ पदार्थ को नहीं चाहता, होती हुई वस्तु को भी नहीं मानता है और नष्ट हुई वस्तु का सोच नहीं करता है, अनिष्ट पदार्थ में द्वेष नहीं करता है और जो कालुष्य भावों वाला भी नहीं है, जो अभाव का अभिलाषी भी नहीं है, जो माया-चार, ईर्ष्या, शरीर की शोभा, घमण्ड, कामकथा और लोकयात्रा से रहित है तथा पशुगति का फल देने वाले इस आर्त्तध्यान को छोड़ता है वह योगी तुम्हारे लिए स्तुति करने योग्य होवे ॥२०॥

येषां हिंसा न सत्त्वे क्वचिदपि वचसां येषु नासत्यभावो ।
येषां चित्तं न वित्ते परवति निजके येषु रक्षा न चाङ्गे ॥
ध्यानाद् ये रौद्रसंज्ञादुपरतमतयः श्वभ्रवेशाविदूराद् ।
रोषद्वेषप्रमोषाग्रहविधिविधुराः प्रीतये सन्तु ते वः ॥२१॥

जिनके भाव प्राणियों की हिंसा के नहीं हैं, जिनके असत्य वचन बोलने के

भाव नहीं हैं, जिनका चित्त दूसरों के द्रव्य में नहीं है और जिनके अपने शरीर में भी रक्षा भाव नहीं है; जो नरक के बिलों में प्रवेश कराने में कारण ऐसे रौद्रनाम के ध्यान से निवृत्तबुद्धि हैं; जो रोष, द्वेष और चोरी में अत्यासक्ति के कार्य से रहित हैं, ऐसे वे योगीश्वर तुम्हारे लिए प्रीतिजनक होवें ॥२१॥

याथात्म्यं धर्म्यमाहुस्तदिह बहुधियो वस्तुजातेश्च सर्वं ।
हर्षामर्षाभिषङ्गप्रविकलमनसां स्यात्सदालम्बमेषां ॥
तद् ध्यानाधीनधीनाः प्रतिगमविगमान्मोहमूलं लुनन्ति ।
तस्मिन् पञ्चावबोधी परिकलितकले क्वापि तत्त्वे कृताऽस्थाः ॥२२॥

इस ध्यानके प्रकरण में प्रचुर बुद्धि वाले आचार्यों ने वस्तु के यथार्थ स्वरूपको धर्म कहा है, वह धर्म ध्यान हमेशा रागद्वेष के सम्बन्ध से शून्य है मन जिनका ऐसे मुमुक्षुओं के स्वरूप और पर रूप से आलम्बन होता है। मति श्रुतादि पाँच ज्ञान के द्वारा जान ली गई है पर्याय जिसकी ऐसे किसी भी तत्त्व में की है स्थिरता जिन्होंने और धर्मध्यान में लीन है मन जिनका ऐसे वे भव्यात्मा मन की चञ्चलता का नाश हो जाने से मोह को जड़ से नष्ट करते हैं ॥२२॥

आज्ञा सर्वज्ञवाणी निजदृजिनजयोपायचिन्ता त्वपायः ।
कर्मोद्रेको विपाकस्त्रिभुवनरचनाऽवलम्बि संस्थानमुक्तं ॥
तत्राऽयं स्याद्विवेको विचय इह ततो योगिनः स्युः कदाचित् ।
नाकस्त्रीनेत्रनीलोत्पलवनसुहृदः कर्मपाशच्छिदो वा ॥२३॥

सर्वज्ञ भगवान की वाणी आज्ञा है। अपने कर्मों के नाश का चिन्तन करना अपाय है। कर्मों का फल भोगना विपाक है। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक इन तीन भुवनों की रचना का जिसमें अवलम्बन है उसे संस्थान कहा है, वहाँ पर इनका विचार करना विचय है। अर्थात् आज्ञा का विचार करना, कर्मों के नाश का विचार करना, कर्मों के फल का विचार करना, तीन लोक के आकार का विचार करना, इस प्रकार चार प्रकार का धर्म्य ध्यान है। इस ध्यान के प्रभाव से इस लोक में कभी तो योगीश्वर स्वर्ग की स्त्री अर्थात् देवाङ्गनाओं के नेत्ररूपी नील कमल को विकसित करने के लिए चन्द्रमा के समान, स्वर्ग में महर्द्धिक देव होते हैं अथवा कभी कर्मों के पाश को छेदने वाले होते हैं ॥२३॥

धर्मध्याने प्रबन्धाभ्यसनसमधिकस्थैर्यलब्धावतारे ।
प्राणायामोर्म्यबाधाऽऽसनजयहृदयस्थानविज्ञानसारे ॥
द्विःश्रोतोवाहिसर्वाऽऽशयशमनसमासन्नसंसारपारे ।
सिद्धश्चित्तप्रचारे भवति कृतमतिः शुक्लयोगोपचारे ॥२४॥

धर्मध्यान के धारावाही निरन्तर अभ्यास से उत्कृष्ट स्थिरता (निश्चलता) को धारण करने वाले, श्वासोच्छवास रूपी बाधा से रहित, आसन के जीतने से प्राप्त कर लिया है हृदयस्थान में विज्ञान के सार को जिसने, ऐसे शुभाशुभ के भेद से दो प्रकार के कर्मरूपी जल को बहाने वाली मन की प्रवृत्ति शान्त होने से प्राप्त कर लिया है संसार के तट को जिन्होंने, ऐसी मन की अवस्था हो जाने पर ही शुक्लध्यान के करने में पवित्र योगिजन समर्थ होते हैं ॥२४॥

नानाभावः पृथक्त्वं प्रवचनविषयालोकनार्को वितर्कः ।
संक्रान्तिस्तेन कुर्वन् क्रमविधिवशतो वाचि वाच्ये त्रियोग्यां ॥
वीचारो द्रव्य आद्यः स्थितमणुममलः पर्यये वाद्विमार्गः ।
कर्मारीणामरीणां स्थितिमनुतनुते स्वर्गगो मोक्षगश्च ॥२५॥

पृथक्त्व नानाभाव को कहते हैं, वितर्क का अर्थ परमागम में वर्णन किए गए पदार्थों का जानना है, इस श्रुतज्ञान से वचन, अर्थ और मन, वचन, काय में क्रम क्रम की विधि से संक्रमण-परिवर्तन होना वीचार कहलाता है। इस तरह द्रव्य अथवा पर्याय में स्थित अणु का ध्यान करना पहिला शुक्लध्यान है। इसके दो मार्ग हैं—स्वर्ग प्रदान करता है अथवा मोक्ष प्रदान करता है कर्मरूपी वैरियों की अचल स्थिति को क्रमक्रम से न्यून करता है ॥२५॥

गुप्त्याद्यैः कर्म रुद्धोऽभिपतदुपचितं कर्म सर्वं विधुन्वन्,
नेकत्वेहाविचाराद्वृजिनविजयिनी वीथिकां गाहमानः ।
एकं वाश्रित्य योगं कमणुमनुसरन् द्रव्यगं भावगं वा,
शुक्ले वाऽपि द्वितीये भवति जिनपतिर्घात्यघध्वंसनेन ॥२६॥

(आत्मा) गुप्ति आदि के द्वारा आते हुए कर्म को रोक कर और एकत्वेहा-विचार से पहले बँधे हुए पुरातन सर्वकर्मों को नष्ट करता हुआ दूसरे शुक्लध्यान में एक योग का अनुसरण करते हुए द्रव्यको प्राप्त होने वाले अथवा पर्याय को प्राप्त होने वाले

आत्मा अथवा परमाणु का आश्रय लेकर ध्यान करने से, पाप कर्मों को जीतने वाले ध्यान में लीन होकर घातिया कर्मों को नाश कर जिनेन्द्र हो जाता है ॥२६॥

सा सा लब्धिस्ततोऽस्मिन् वपुरतिशयवच्चातुरास्याभिरामं ।
श्रीर्बाह्याभ्यन्तरी चाद्भुतविभवभवा सर्वसत्त्वप्रमोदः ॥
आनन्दोन्यानपेक्षो दुरघविघटनाद् वेद्यमस्ति स्वकार्ये ।
नो ते सार्वस्य तस्मात् प्रभु न च नियमोघेष्विवान्येषु यस्मात् ॥२७॥

द्वितीय शुक्लध्यान से घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर जिनेन्द्र भगवान में वे वे प्रसिद्ध नौ लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं–अतिशयवान शरीर चार मुख से सुन्दर और आश्चर्यकारी वैभव से होने वाली बाह्याभ्यन्तर लक्ष्मी, सम्पूर्ण जीवों में प्रमोद, घातिया कर्मों के नाश से पर की अपेक्षा से रहित परम सुख होता है। तथा सब प्राणियों का हित करने वाले आपके मोहनीय कर्म नष्ट हो जाने से वेदनीय कर्म, अपने कार्य में समर्थ नहीं है। अन्य अघातिया कर्मों का घातियों के समान नियम नहीं है ॥२७॥

यत्रान्येष्वङ्गभाजो नहि सदसि बुभुक्षादि बाधास्तवामी ।
तद्बाधा तत्र किं ते न च तदुदयवद्वेद्यमन्नादनाय ॥
सामान्याहारहेतावपि मदभिमतं स्थायिताङ्गेऽन्यथाऽस्ति ।
देवे स्यादन्यथाऽतो रतिरखिलसुखं नास्ति भुक्तौ हि युक्तिः ॥२८॥

निश्चय से जिस समोसरण में इन केवली भगवान के अतिरिक्त अन्य प्राणियों के भी क्षुधा, तृषा आदि की बाधा नहीं होती है, उस समोसरण में वह क्षुधादि की बाधा सर्वज्ञ भगवान के कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती। सर्वज्ञ के वेदनीय कर्म का उदय है वह कवलाहार के लिए नहीं है, सामान्याहार अर्थात् नोकर्माहार में तो हमारा भी मत है अर्थात् नो कर्म आहार हम भी मानते हैं। जैसे कवलाहार के विना भी देवों में शरीर स्थिति है। यदि हम ऐसा नहीं मानेंगे या वेदनीय का उदय है इसलिए कवलाहार मानेंगे तो सयोग केवली भगवान में कामवासना भी होगी तो फिर सम्पूर्ण सुख भी नहीं रहेगा; इसलिए सर्वज्ञ भगवान के कवलाहार मानना वा भोजन में प्रवृत्ति मानना युक्तिसंगत नहीं है ॥२८॥

देवाधीते सुधीर्नाप्यनुपहतमतिः कोऽबलास्त्वत्पदस्य ।
योग्या आचारलाभे परममरपदं तेषु त्वद्रूपवत्सु ॥

स्थानं नैवोत्तरेषु प्रतिनिधिनिधिषु क्लीबयोषिज्जनानां ।
दौश्चित्यस्याविशेषे यदपि नरवत् श्वभ्रभुच्चैर्भजन्ते ॥२९॥

हे देव ! तेरे पद के अर्थात् अर्हन्तपद के योग्य स्त्रियाँ होती हैं इस प्रकार कौन संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित है बुद्धि जिसकी ऐसा बुद्धिमान मनुष्य श्रद्धान करता है अर्थात् कोई नहीं करता क्योंकि नपुंसक और स्त्रियों के अपने पद के योग्य चारित्र को धारण कर लेने पर भी उस आपके योग्य वेष को धारण करने वाले आपके स्वरूप के योग्य सोलह स्वर्गके ऊपर नव ग्रैवेयक से लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त उत्कृष्ट देवपद में स्थान अर्थात् गमन नहीं है और इसीतरह बड़े से बड़ा पाप कर लेने पर भी स्त्रियाँ मनुष्य के समान सातवें नरक को नहीं प्राप्त होतीं अर्थात् नहीं जाती हैं ॥२९॥

पौष्पीवृष्टिः प्रभाणां वलयमसदृशं दुन्दुभीनां निनादः ।
त्रीणिच्छत्राण्यशोको द्युतरुरुभयतश्चामराणां प्रचारः ॥
उक्तिश्चित्राभिधेये हरिभिरभिधृतं पीठमत्यद्भुतार्था ।
लक्ष्मीरन्यापि शक्रः परिचरति मुदा देवसाम्राज्यमेतत् ॥३०॥

इन्द्र द्वारा प्रसन्नता पूर्वक पुष्पवृष्टि, अद्वितीय प्रभाओं का वलय अर्थात् भामण्डल, दुन्दुभिवाजों का शब्द, तीन छत्र, अशोक कल्पवृक्ष और दोनों तरफ चमरों का ढुरना, पदार्थों का प्रतिपादन करने वाली सर्वाङ्ग से दिव्यध्वनि का होना, सिंहों के द्वारा धारण किया हुआ सिंहासन, अद्भुत लक्ष्मी, ये आठ प्रातिहार्य देव साम्राज्य अर्थात् देव विभूति को करते हैं ॥३०॥

ध्येयं स्मार्यं न किञ्चिद्भगवति निखिलाध्यक्षपक्षावसेये ।
तत्रैतद्ध्यानमीहाऽसमकलुषतया तत्समत्वाय यापि ॥
तत्साम्ये तद्व्यपायावहसमयसमावेक्षणा वा मनीषा ।
नोचेदात्मप्रदेशव्यसनसमसनारम्भणो वा प्रयत्नः ॥३१॥

सम्पूर्ण वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से जानने वाले भगवान के लिए कुछ भी वस्तु ध्यान करने योग्य और स्मरण करने योग्य नहीं है फिर भी उन सर्वज्ञ भगवान में जिन अघातिया कर्मों की स्थिति समान नहीं है उसको समान करने के लिए जो चेष्टा है वह ध्यान है। अथवा उन कर्मों की स्थिति समान होने पर, उन कर्मों के नष्ट होने के समय

की प्रतीक्षा करने में जो ज्ञान की प्रवृत्ति वह ध्यान है अथवा आत्मप्रदेशों का फैलना वा संकुचित होना यह ध्यान है ॥३१॥

आयुष्यन्तर्मुहूर्ते सति समयचतुष्कावधावेव काले ।
कृत्वा दण्डं कपाटं प्रतरमथ जगत् पूरणं चाप्यसौ स्वं ॥
संक्षिप्याघातिकर्मांहितसदृशदशः पूर्वदेहप्रमाणः ।
सूक्ष्मैकांगोऽन्ययोगप्रविगमकरणात् स्यात् सयोगी तृतीये ॥३२॥

आयु के अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर चार समय की अवधि प्रमाण काल में ही यह सयोगी दण्ड कपाट प्रतर और जगत्पूरण प्रमाण आत्मप्रदेश को करके, इसके बाद आत्मप्रदेशों को समेट करके अघाति कर्मों की स्थितियों को बराबर किया है जिसने ऐसा और अपने आत्मप्रदेशों को पूर्वदेह प्रमाण कर वह सयोग केवली तीसरे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान में अन्ययोग अर्थात् बादर योग के नाश हो जाने से सूक्ष्म काय योगी होता है ॥३२॥

सत्यात्मन्यात्मरूपे विरमति मरुति त्यक्तसंगेऽघयोगे ।
क्षीणोल्लाघे क्रियौघे समधियति यथाख्यातचारित्रमत्र ॥
प्रोन्मुक्ताशेषदोषे भवति कनकवत् प्रान्तशुक्लोपपन्ने ।
मोक्षोऽयोगिन्यवश्यं यदविकलविधौ कारणे को विलम्बः ॥३३॥

आत्मा के आत्मरूप में स्थित होने पर, श्वासोच्छ्वास के नष्ट होने पर क्रियाओं के समूह में उल्लाघ अर्थात् क्रियाकलाप के परिस्पन्द का नाश होने पर, यथाख्यात चारित्र के भले प्रकार प्राप्त होने पर अघाति कर्म के सम्बन्ध के छोड़ देने पर अर्थात् अघातिया कर्मों के नष्ट होने पर उत्कृष्टरूप से सम्पूर्ण द्रव्यकर्म और भाव कर्मरूपी कर्मों के नष्ट होने पर, अन्तिम शुक्लध्यान के प्राप्त होने पर अयोग केवली के सुवर्ण की तरह अवश्य ही मोक्ष होता है क्योंकि परिपूर्ण कारण के प्राप्त होने पर कार्य की पूर्णता में क्या विलम्ब होता है अर्थात् कोई विलम्ब नहीं होता ॥३३॥

सर्वासां हि क्रियाणामुपरतिमसमां प्राहुरेतच्चरित्रं ।
पात्रं तन्मुख्यवृत्त्या भवति खलु यतोऽयोगिनोऽन्यः परो न ॥
अस्यार्हत्यमभ्युपेतौ स्थितिरिह न भवेन्मुक्तहेतुप्रपञ्च ।
उत्कृष्टायाः परोऽस्या अपि जगति यतो नास्ति रत्नत्रयाप्तेः ॥३४॥

निश्चय से सम्पूर्ण क्रियाओं की उत्कृष्टरूप से उपरति अर्थात् नाश होनेको चारित्र कहा है और निश्चयसे मुख्यतः चारित्र का पात्र अयोगी के अतिरिक्त दूसरा नहीं होता है क्योंकि इस चारित्रका उत्कृष्ट पात्र और नहीं है। इस जगतमें इस सकल-निरोध क्रिया चारित्र के प्राप्त होने पर अर्हन्त भगवानमें अवस्थान भी नहीं होता है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की प्राप्तिके अतिरिक्त (इससे उत्कृष्ट) दूसरा कोई मुक्तिका कारण भी नहीं है ॥३४॥

ऊर्ध्वव्रज्यात्मकत्वादयमनल शिखावत्ततः प्रोर्ध्वमीर्षो,
नो याने चायमास्ते जगति हि गगने यत्र धर्मास्तिकायः।
प्रत्यावृत्तिर्न मोक्षादवमविगमनान्नैव जीवैर्विहीनः,
संसारोऽनन्तभावान्न च जननविधिस्तेष्वपूर्वेष्वहेतोः ॥३५॥

यह अयोगी जिन इसके बाद अग्निकी शिखाके समान ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला होनेसे ऊर्ध्व जाता है और गमन के समय में लोकाकाश के बाहर आकाश में नहीं ठहरता है क्योंकि लोकाकाश के बाहर जीव और पुद्गल के गमन में हेतुभूत धर्मास्तिकाय नहीं है और कर्मोंके अभाव होनेसे मोक्षसे फिर लौटना नहीं है। तथा जीव अनंत हैं इसलिए संसार जीवोंसे रहित (खाली) भी नहीं होता है और कारणका अभाव होनेसे नवीन जीवों की उत्पत्ति भी नहीं होती ॥३५॥

आलोकान्तासमीरात्समतति समयेनायमेकेन मुक्ता-
वस्योत्कर्षाद्विशुद्धे र्घनविवरतया किञ्चिदूनाकृतिः स्तः ॥
एनः संवृद्धिबन्धव्युपरमकरणाद् ध्यानमेतच्च मुक्त-
माद्ये द्वे तत्र पूर्वश्रुतिनि जिनपतावुत्तरे द्वे च शुक्ले ॥३६॥

कर्मोंसे मुक्त होते ही विशुद्धता की उत्कृष्टता हो जानेके कारण यह जीव एक समय में ही लोकके अन्तमें स्थित वातवलय तक जाता है। बहुत से छिद्र वा पोल वाला अन्तिम औदारिक शरीर होनेसे कुछ कम अवगाहना वाला रह जाता है। पाप (की वृद्धि) और बन्धका अभाव हो जानेसे मुक्तावस्था में कोई ध्यान नहीं होता। चार शुक्ल ध्यानों में से आदि के दो पृथक्त्व वितर्क वीचार और एकत्व वितर्क वीचार ध्यान श्रुतकेवली के होते हैं। अन्तके दो सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान जिनेन्द्र भगवान के होते हैं ॥३६॥

त्वं गन्ता नो यियासा तव न च गतिमान् स्पन्दमानप्रदेशः ।
सर्वार्थव्याप्यवृत्तिर्न च सकलगतः कार्यरूपोऽपि नित्यः ॥
संसारातीतमूर्तिर्न वससि हृदये कस्य लोकत्रयेऽस्मिन् ।
नो केषां चित्रमेतद्विभवपदपरोऽप्यर्च्यसे भो मुनीन्द्रैः ॥३७॥

हे सिद्ध परमेष्ठिन् ! तुम गमनशील तो हो परन्तु तुम्हारे जाने की इच्छा नहीं है । तुम गतिमान होकर भी परिस्पन्द रहित प्रदेशवाले हो; सकल पदार्थों में व्याप्य वृत्ति वाले हो तो भी सर्वगत नहीं हो; कार्यरूप होकर भी नित्य हो; संसारसे दूर तो हो फिर भी इन तीनों लोकों में किसके हृदय में नहीं रहते हो अर्थात् सबके हृदय में रहते हो; विभवपद पर स्थित होकर भी मुनियों के द्वारा भी पूजे जाते हो; ये सब बातें किनके लिए आश्चर्यकारी नहीं हैं अपितु सबको ही आश्चर्य कराने वाली हैं ॥३७॥

सौख्यं मोहक्षयेणावृतियुगगमनाद् दृष्टिबोधावपि स्तो,
वीर्यं विघ्नव्ययेनोद्गमविगमहतिश्चायुरुच्छेदनेन ।
नामोच्छित्तेरमूर्त्ता स्थितिरुभयकुलाऽसङ्गमो गोत्रनाशाद्,
वेद्योच्छेदादशेषेन्द्रियजनितसुखातङ्कसम्पर्कहानिः ॥३८॥

मोहनीय कर्मके क्षय हो जानेसे अनन्त सुख होता है । ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी के नाश हो जानेसे अनन्त दर्शन और अनन्तज्ञान होते हैं । अन्तराय कर्मके नाश हो जाने से अनन्तवीर्य होता है और आयु के नाश हो जाने से उत्पत्ति और नाश का अर्थात् जन्म मरण का अभाव होता है । नामकर्म के नष्ट हो जाने से मूर्ति रहित स्थिति होती है अर्थात् अमूर्तिक होते हैं, गोत्र कर्मका नाश हो जाने से उच्चकुल और नीचकुल इन दोनों कुलों के सम्बन्ध से रहित होता है, वेदनीय कर्मके उच्छेद हो जाने से सम्पूर्ण इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ जो सुख वही हुई व्याधि, उसका पूर्णतया नाश हो जाता है ।३८।

दृष्टिर्ज्ञानं गुणौ द्वाविह विनिगदितावात्मनि प्राप्ततत्त्वै-
स्तावेव प्राप्तवन्तौ विविधविधितयोत्कर्षभावाद्बहुत्वं ।
वर्गोन्तर्भावमत्र प्रकृतगुणयुगे याति कश्चिन्न वर्गः,
सौक्ष्म्यश्रद्धावगाहागुरुलघुगुणताऽबाध्यताद्योविरोधः ।३९।

जिन्होंने तत्त्व के स्वरूप को जान लिया है ऐसे गणधर देव ने इस आत्मा में दर्शन और ज्ञान ये दो गुण कहे हैं । अनेक कार्य रूप होनेसे, उत्कृष्ट भावको प्राप्त होने से

वे दोनों गुण (दर्शन, ज्ञान) नानापन को प्राप्त हो गए हैं। सूक्ष्मत्व, श्रद्धा, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व आदि गुणों का समूह इस ज्ञानदर्शन में अन्तर्भाव को प्राप्त होता है। समूह का कोई भी विरोध नहीं है ॥३६॥

मुक्तौ नापूर्वमाप्यं किमपि सुकृतिभिश्चेति तामात्मरूप-
प्राप्तिं प्राहुः प्रणीताखिलनिगमनयाः केवलज्ञानभाजः।
सूक्ष्मा तेषां जिनेन्द्रोदितमतमहितज्ञानसाम्राज्यसम्पत्-
सम्पन्नाः सर्वसत्त्वोत्पलविपिनमुदे सोमदेवाश्च साक्षात् ॥४०॥

पुण्यात्माओं को मुक्ति में कुछ भी नवीन गुण आत्माको प्राप्त नहीं होता। आत्मा का जो शुद्धस्वरूप है उसकी प्राप्ति हो जाना मुक्ति है; इसप्रकार द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों का कथन करने वाले केवलज्ञानी भगवान कहते हैं। जो जिनेन्द्र भगवान के उपदेशसे महिमावाले ज्ञान रूपो साम्राज्य की सम्पत्ति से संयुक्त हैं, समस्त प्राणी रूप कमलवन को प्रफुल्लित करने के लिए साक्षात् चन्द्रमा हैं उनको वह अमूर्तिक मुक्ति प्राप्त होती है ॥४०॥

इस श्लोक में ग्रन्थकर्त्ता ने अपना नाम सोमदेव श्लेषालंकार में प्रकट किया है और साथ ही अपने को सर्वज्ञ भगवान के उपदिष्ट श्रुतज्ञान का अभ्यासी, सबजीवों को हर्षित करने वाला भी बतलाया है।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१०	एक	एव
६	२२	प्रधोजन	प्रयोजन
८	११	माच्छिादितं	माच्छादितं
११	६	कर्मनोकर्माभ्यां	कर्मनोकर्मभ्यां
१२	२	प्रत्यक्षीभूतं	प्रत्यक्षीभूतः
१५	१	ज्ञानामाचरणं	ज्ञानमाचरणं
१६	५	.....बालं	.....बालं
१६	२६	जानतीति	जानातीति
१६	२५	सुख	सुखं
२०	८	भामण्डलमवि	भामण्डलमिव
२३	१	स्वस्यात्मनोरसो	स्वस्यात्मना रसो
२३	३	क्व ? सत्याम्	क्व सत्याम् ?
२३	२०	राजकात्	रजकात्
२३	२५	....मात्मेत्यिसकृत्	मात्मेत्यसकृत्
२५	२४	इत्यर्थः । आलोकं....सति	आलोकं....सति इत्यर्थः ।
२७	१३	कार्त्स्न्यत्तदति....	कार्त्स्न्यादति....
२७	१५	....नुपलऽभ्य	....नुपलभ्य
३२	६	सहितो....मूर्तत्वात् ।	यह वाक्यांश दो बार छप गया है।
३३	२५	व्याप्यत्वात्	व्याप्तत्वात्
३४	१७	प्रयाते	प्रयातः
३४	२०	तस्यां	तस्याः
३५	१५	निष्क्रान्तं	निष्क्रान्तः
३६	१६	उदयमुदयं	उदितमुदयं
३६	२३	वर्गणाम....	वर्गणानाम....
३८	६	एव	एष
४४	३	द्वन्द....	द्वन्द्वः....
४४	२२	उर्ध्वो....	ऊर्ध्वो
४५	२	वर्तते	वर्तन्ते
४६	११	वह्निनीरयोः	वह्नितप्तनीरयोः
५६	२२	यस्यां	यस्याः
६३	१५	....भायुर्नाम....	....भायुर्नाम ...

पृष्ठ सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७८	११	नित्योद्योतत्वं	नित्योद्योतत्वं
८८	१६	स्थर्यमेति	स्थैर्यमेति
८६	१३	आत्मन····	आत्मना
८६	२५	द्वन्दमय	द्वन्द्वमय
६१	२	क्लिश्यतां	क्लिश्यन्तां
६२	२१	अज्ञानज्मिुभ्तुमना	अज्ञानमुज्झितुमना
६५	१६	कनाचनापि	कदाचनापि
६६	१६	उपयोग	उपभोग
६७	८	फलमनुभवस्तस्य	फलमनुभागस्तस्य
६६	४	विवक्तात्मन····	विविक्तात्मन····
११२	२६	परिमणते	परिणमते
११६	८	द्वन्दः	द्वन्द्वः
१२७	२२	····भोक्तृं त्व····	····भोक्तृत्व····
१३४	६	हिंसाभिसन्धता	हिंसाभिसन्धाता
१३४	१३	तन्नापि	तत्रापि
१३४	१५	एव	एप
१३५	२	····वञ्छिकैः	वाञ्छकैः
१३५	१२	द्रव्यनिरप्रेक्षः	द्रव्यनिरपेक्षः
१३६	२५	'कर्म····मात्मकं'	यह वाक्यांश दुबारा छपा है
१३६	२०	व्यवन्तः	व्यवन्ते
१५७	१	वस्तुयाथात्मस्य	वस्तुयाथात्म्यस्य
१६०	१७	पशीः	पशोः
१६३	६	ज्ञयानां	ज्ञेयानां
१६४	१६	ग्रहण	ग्रहणं
१६४	१८	प्रक्षालित	प्रक्षालितं
१६४	२०	प्राप्त	प्राप्तं
१६६	५	समस्त	समस्तं
१६६	६	वेदवाक्य	वेदवाक्यं
१६८	२०	स्वभावात्वात्	स्वभावत्वात्

॥ ગાય માતાની જય ॥ ॥ શ્રી હરિ ॥ ॥ જય સીયારામ ॥

કપાતી ગાયો કરે પુકાર,
બંધ કરો હવે આ અત્યાચાર.

સર્વે સંતોની એજ પુકાર,
ગૌ હત્યા હવે નહીં સ્વીકાર.

દેશ પર શાસન એજ કરશે,
ગૌ હત્યા જે બંધ કરશે.

આપ સર્વે ભગવાનને યાદ કરી ગૌ હત્યા બંધ કરવાના આ સત કાર્ય માં જોડાવ
એમાંજ આપણું અને વિશ્વમાત્ર નું કલ્યાણ સુનિશ્ચિત છે.

• ગીતા ગૌ સેવા દળ - ભાવનગર. •

MAHOR-08253911189